व्याकरण सिद्धांत और व्यवहार

हिंदी संस्थान, आगरा

संगोष्ठी-कार्यशाला पुस्तकमाला-6

व्याकरण सिद्धांत और व्यवहार



संपादक
कृष्णकुमार शर्मा
वशिनी शर्मा



केंद्रीय हिंदी संस्थान • आगरा

प्रथम संस्करण 1983

मूल्य : रु० 36-00

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा द्वारा प्रकाशित
और पायनियर प्रिंटर्स, सेठगली, आगरा द्वारा मुद्रित

आमुख

भारतीय व्याकरणिक विश्लेषण की परंपरा बहुत ही प्राचीन एवं समृद्ध है परंतु हिंदी में इसका प्रारंभ वस्तुतः ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से ही माना जा सकता है। पिछले प्रायः डेढ़ सौ वर्षों में हिंदी में अनेक व्याकरण लिखे गए हैं परंतु इन सबके आधारभूत प्रारूप (Model) या तो संस्कृत व्याकरण रहे हैं या अंग्रेजी व्याकरण। इन सब प्रयासों में कामता प्रसाद जी गुरु का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है। 'भाषा की वैज्ञानिक खोज के अभाव में उन्होंने इस व्याकरण को त्रुटिपूर्ण बताया है फिर भी तत्कालीन साहित्यिक हिंदी के प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए व्याकरण के सभी सैद्धांतिक पक्षों को इसमें समाहित किया गया है।'

वर्तमान भाषाविज्ञान में हुई अनेक गवेषणाओं के आधार पर पिछले तीन दशकों में विभिन्न प्रकार के व्याकरणिक सिद्धांतों और व्याकरणिक विश्लेषण प्रारूपों का विकास हुआ है जिनके फलस्वरूप किसी भी भाषा का सांगोपांग व्याकरण सुनियोजित रूप से लिखा जा सकता है। इन दशकों के दौरान सार्वभौम व्याकरण के सिद्धांत पर भी विचार एवं विवेचन प्रारंभ हुआ है। सार्वभौम व्याकरण के समर्थकों का मत है कि व्याकरण का सिद्धांत ऐसा होना चाहिए जिसके नियम किसी भी भाषा पर समान रूप से लागू हो सकें। इस क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई है परंतु अभी तक ऐसे किसी भी व्याकरण का रूप उभर कर सामने नहीं आ सका है। इसके साथ-साथ व्यतिरेकी व्याकरण, स्तरपरक व्याकरण, कारक व्याकरण, प्रजननात्मक रूपांतरण-परक व्याकरण, संबंधपरक व्याकरण आदि अनेक व्याकरणिक प्रारूप भी सामने आए हैं। इनका भारतीय भाषाओं के संदर्भ में अनुप्रयोग उपयोगी ही नहीं आवश्यक भी हो सकता है। इसका निर्धारण तो विश्लेषण और अनुप्रयोग के उपरान्त ही किया जा सकता है।

केंद्रीय हिंदी संस्थान हिंदी के शिक्षण, प्रशिक्षण एवं भाषापरक उच्चस्तरीय अनुसंधान की गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण केंद्र हैं। पं. कामता प्रसाद गुरु की जन्मशती के अवसर पर संस्थान ने भारतीय एवं पाश्चात्य व्याकरणिक परंपरा के संदर्भ में हिंदी में किए गए एतत्संबंधी कार्य एवं चिंतन का आकलन करने के लिए एक संगोष्ठी का आयोजन अपने हैदराबाद केन्द्र में किया था। इस संगोष्ठी में

भारतीय भाषाओं के अनेक विद्वानों एवं भाषावैज्ञानिकों ने भाग लिया तथा अपने शोध लेख प्रस्तुत किए, संगोष्ठी के दौरान इन पर विशेष चर्चा भी की गई। संस्थान इस प्रकार की संगोष्ठी-कार्यशालाओं के विवरण/कार्यवृत्त और उपलब्धियों को व्यापक उपयोग के लिए प्रकाशित करता है। प्रस्तुत प्रकाशन इसी संगोष्ठी की उपलब्धियों का एक महत्वपूर्ण विवरण है।

इस ग्रंथ में व्याकरण के विभिन्न प्रारूपों के सिद्धांतों का विवेचन भारतीय भाषाओं की दृष्टि से विशेष रूप से हिंदी के सदर्भ में किया गया है इसमें जहां एक ओर शुद्ध संस्कृतनिष्ठ परंपरा को दृष्टिगत रखते हुए विवेचन किया गया है वहीं दूसरी ओर आधुनिक सिद्धांतों को भी भलीभांति विवेचित किया गया है। इस सामग्री के प्रकाशन के द्वारा हिंदी में हिंदी व्याकरण के स्वरूप विश्लेषण के बारे में और अधिक चर्चा प्रारंभ हो और इस क्षेत्र में हिंदी का भंडार समृद्ध हो, ऐसा मेरा विश्वास है।

(बाल गोविन्द मिश्र)
निदेशक

अनुक्रम

भाषा शिक्षण के संदर्भ में व्याकरण और व्याकरण शिक्षण

हिंदी व्याकरण : कुछ पहलू

समापन

उद्घाटन

अध्यक्ष : डा० गोपाल शर्मा
मुख्य अतिथि : श्री टी० ह् यग्रीवाचारी
उद्घाटन भाषण : श्री सन्निधानम सूर्यनारायण शास्त्री

उद्घाटन

आनंदवर्धनाचार्य का कथन है "शास्त्र पंडितों में वैयाकरणों का स्थान प्रथम है, क्योंकि सभी शास्त्रों का आधार है व्याकरण ।"

भट्टी ने कहा, "बालक ! सभी शास्त्रों का अध्ययन तुम नहीं कर सकते। प्रत्येक शास्त्र अपार सागर है । लेकिन व्याकरण शास्त्र का अध्ययन तो अवश्य करो। यदि व्याकरण शास्त्र नहीं जानते हो, तो उच्चारण करना भी कठिन होगा । 'स' और 'श' के उच्चारण भेद से अर्थ का अनर्थ होगा जैसे; स्वजन (अपने लोग), श्वजन (कुत्ते), सकल (सब), शकल (खंड) ।"

व्याकरण तो कविता कन्या का पिता है । इतना ही नहीं वह तो सभी शास्त्रों के लिए सिरमौर है ।

व्याकरण तो महेश्वर के 14 सूत्रों पर निर्मित महा सौध है । पाणिनि ने इन सूत्रों से व्याकरण सौध का निर्माण किया ।

नृत्य के बाद महेश्वर ने 14 बार डमरू बजाया था, उससे जो ध्वनियां निकली थीं वे ही ये 14 सूत्र हैं । इन्हीं सूत्रों के आधार पर व्याकरण शास्त्र का विकास हुआ ।

कहते हैं कि संस्कृत में लगभग 85 वैयाकरणिक हुए हैं । संस्कृत में अनगिनत व्याकरण उपलब्ध हैं । मेरे विचार में इतने व्याकरण ग्रंथ किसी और भाषा में नहीं हैं । केवल सिद्धांत कौमुदी ही व्याकरण ग्रंथ है, शेष सभी व्याख्यानों के व्याख्यान हैं । ये सब वादोपवादों से भरे हुए हैं । ये सारे इस विचार को परिपुष्ट करते हैं कि 'शास्त्र शास्त्र के लिए है ।' ये पूर्व पक्ष सिद्धांत के प्रतिपादक हैं और अर्थवाद से संबंधित हैं । दूसरा प्रमुख वाद 'प्रक्रियावाद' है ।

'रमु क्रीडायाम्' धातु से 3-4 सूत्रों के सहारे से रामः शब्द का प्रतिपादन किया जाता है । यह प्रक्रियावाद कहलाता है ।

महेश्वर सूत्रों का क्रम इतना वैज्ञानिक है कि कई सदियों पहले हमारे यहां मानव वाग्यंत्र की संरचना के क्रम से उच्चारण के क्रम को निरूपित किया गया था जो कि आधुनिक ध्वनि विज्ञान से मेल खाता है ।

85 वैयाकरणों के व्याकरण तो अब हमें उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन पाणिनि के व्यारण में इनका उल्लेख मिलता है । पाणिनि के काल को विद्वानों ने ई० पू० 2800 ठहराया । कहते हैं कि ये पंजाब के थे । श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने

ग्रंथ में लिखा है कि पाणिनि को अपने समय की सारी भाषाओं का ज्ञान था। इतना ही नहीं, इन्हें तत्कालीन समाज के आचार-विचार, रीति-रिवाज का ज्ञान तो था ही साथ ही भूगोल और शास्त्रों का सम्यक् परिचय था।

संस्कृत वैयाकरणों में ही नहीं अपितु विश्व के वैयाकरणों में पाणिनि का स्थान विशिष्ट है। उनके एक-एक सूत्र पर एक-एक महान ग्रंथ लिखा जा सकता है। ऐसा हुआ भी है। मुझे गुंडेराव ने बताया कि एक जर्मन विद्वान ने पाणिनि के एक सूत्र पर एक ग्रंथ लिखा है।

पतंजलि ने एक अष्टाध्यायी का महाभाष्य लिखा है। महाभाष्यकारों में आचार्य त्रय प्राचीन हैं। जयादित्य और वामन परवर्ती भाष्यकार हैं।

भूपदेव का मुग्धावोध व्याकरण इनके बाद का माना जाता है।

चंद्रगोमी का चांद्र व्याकरण और भट्टोजी दीक्षित का सिद्धांत कौमुदी प्रमुख हैं। सिद्धांत कौमुदी का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। सिद्धांत कौमुदी छात्रोपयोगी व्याकरण है।

जिन शब्दों को वे नहीं चाहते, उन्हें प्राचीन वैयाकरणिक त्याज्य कह कर छोड़ देते हैं, और जिन्हें वे चाहते हैं, उन्हें परिश्रम करके निरूपति या व्याख्यायित करने का प्रयास करते हैं।

तेलुगु के कवियों ने अपने काव्यों में जितनी मात्रा में संस्कृत का उपयोग किया उतनी मात्रा में किसी अन्य भाषा के कवियों ने नहीं किया। तेलुगु के काव्यों में जितने दीर्घ समास मिलते हैं, उतने किसी अन्य भाषा में नहीं मिलते।

पाश्चात्य देशों में तो संस्कृत का विपुल अध्ययन हो रहा है। वे लोग वेद और वेदांगों का निरंतर अध्ययन कर रहे हैं। और हम भारतीय ?

संस्कृत को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए क्या हम आवाज उठा सकते हैं ?

मूल तेलुगु से रूपांतरण
विजयराघव रेड्डी

आधार पत्र

—कृष्णकुमार शर्मा

सभ्यता के विकास के साथ भाषा का विकास भी निरंतर होता रहा है। ज्ञान-विज्ञान के प्रति मानवीय जिज्ञासा भाषा को व्यवस्था के रूप में पहचानने में सक्षम हुई। भारत और यूरोप में इसी जिज्ञासा का प्रतिफलन व्याकरण के रूप में हुआ है। परिणामतः भाषा-चिंतन-परंपरा में व्याकरण, ज्ञान का महत्वपूर्ण आयाम बना। भारतीय परंपरा में व्याकरण षट्वेदांगों में परिगणित हुआ और ईसा से पांच सौ वर्ष पूर्व ग्रीक मनीषियों ने व्याकरण को दर्शन की एक शाखा के रूप में निरूपित किया। व्याकरण स्वयं साध्य के रूप में अध्ययन का विषय रहा है, काल प्रवाह इस तथ्य का साक्षी है। इसी प्रसंग में, व्याकरण क्या है? इस विषय में भी पर्याप्त ऊहापोह हुआ। 'व्याकरण' पद के व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ के आधार पर इसकी परिभाषा की गई। शुद्ध-अशुद्ध-प्रयोग मीमांसा, रूप और अर्थ, लेखन और वाचन तक की व्याख्याओं को व्याकरण के स्वरूप निर्धारण में आधार बनाया गया। व्याकरण को भाषिक व्यवस्था का केंद्रीय वृत्त कहा गया। इस दृष्टि से व्याकरण भाषिक व्यवस्था की सभी विशेषताओं के कथनों का समुच्चय है। व्याकरण को नीरस और जटिल कहते हुए भी, वाचिक अभिव्यक्ति के मूलभूत साधन भाषा का व्याख्यायक होने के कारण अनिवार्य प्रतिपादित किया गया है। कालांतर में, व्याकरण को भाषा अधिगम का साधन माना जाने लगा, विशेषतः मातृभाषा से भिन्न भाषा के अधिगम प्रसंग में। भाषाविज्ञान के विकास के सोपान विविध प्रकार के व्याकरण दृष्टिकोणों में ही उजागर हुए हैं। इस शताब्दी के पांचवें और छठे दशक में ऐसी संभावनाएं प्रकट हुईं कि भाषाविज्ञान की अधुनातम उपलब्धियों के प्रकाश में शैक्षणिक व्याकरण को नया रूप—प्रयोग और वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से—दिया जा सकेगा। किन्तु इन्हीं संभावनाओं ने नए प्रश्नों को जन्म दिया; नई शंकाएं उत्पन्न हुईं।

1·1 सैद्धांतिक व्याकरण और शैक्षणिक व्याकरणों में स्वरूपगत अंतर है। सैद्धांतिक व्याकरण भाषिक व्यवस्था के औपचारिक वैशिष्ट्य परिकथन से संबद्ध है। प्रयोग और उसके शिक्षण पर सैद्धांतिक व्याकरण विचार नहीं करता। सैद्धांतिक व्याकरण का रचयिता आदर्शीकृत भाषिक ज्ञान के प्रस्तुतीकरण को अपना लक्ष्य मानकर प्रवृत्त होता है। वह सटीक सामाजिक परिवेश में भाषा के वास्तविक

प्रयोग से संबद्ध, वक्ता की क्षमता पर विचार करता है। शैक्षणिक व्याकरण परिभाषाओं की रूपरेखा, प्रयोग-सांचे आदि इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि अध्येता भाषा के व्यवस्था विषयक ज्ञान के साथ उसके प्रयोग में भी दक्षता प्राप्त कर सके। शैक्षणिक व्याकरणकार अपने सहज ज्ञान से संगृहीत भाषिक तथ्यों को सत्यापित करने के लिए सैद्धांतिक व्याकरणों को आधार बनाता है। शैक्षणिक व्याकरण में सैद्धांतिक भाषिक कथनों का परिवर्तन इस प्रकार किया जाता है कि छात्रों को त्वरित गति से भाषा सिखाई जा सके, उनमें भाषिक दक्षता विकसित की जा सके। अतएव यह आवश्यक हो जाता है कि शैक्षणिक व्याकरणों में ऐसे उपाय और प्रविधियां प्रयुक्त की जाएं जिनसे सैद्धांतिक व्याकरणों में उपलब्ध सामग्री व्यवस्थित होकर छात्रों के लिए उपयोगी बन सके। शैक्षणिक व्याकरणों में व्याकरणिक निर्देश रह सकते हैं, भले ही सैद्धांतिक व्याकरण और शैक्षणिक व्याकरण में बिंब-प्रतिबिंब भाव न हो। आधुनिक भाषातत्वविद् भी व्याकरणिक निर्देशों के एकांत अभाव को उचित नहीं मानते।

भारत में पाणिनि की अष्टाध्यायी का शिक्षणोपयोगी रूप कौमुदी ग्रंथों में दिखलाई पड़ता है। वृद्ध सिद्धांत कौमुदी और लघु सिद्धांत कौमुदी शिक्षण के लिए हैं। अन्य आचार्यों ने भिन्न प्रकार से पाणिनि रचित सूत्रों की व्यवस्था कर, स्वरचित व्याख्याओं द्वारा उन्हें सुग्राह्य बनाया है। पिछले वर्षों में संरचनात्मक प्रणाली का अनुगमन करते हुए विद्यालयीय छात्रों के लिए संस्कृत व्याकरण रचे गए हैं। 'रचना-अनुवाद कौमुदी' इसी प्रकार का शैक्षणिक व्याकरण है।

हिंदी में पं० किशोरीदास वाजपेयी रचित 'हिंदी शब्दानुशासन' सद्धांतिक व्याकरण है, इस व्याकरण से गृहीत सामग्री के आधार पर शैक्षणिक व्याकरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पं० कामता प्रसाद गुरु ने अपने व्याकरण के लिए अंग्रेज़ी व्याकरणों की प्रणाली को ग्रहण किया है।

यूरोप में पारंपरिक व्याकरण का प्रारंभ ईसा पूर्व चौथी-पांचवी शती में ग्रीक विद्वानों से माना जाता है। लिंग के आधार पर शब्द वर्गीकरण, प्रोटागोरस और पांचवीं शती के सोफिस्ट्स ने किया था। वैभक्तिक रूपावली, वाच्य, सकर्मक-अकर्मक क्रिया भेद, मूल तथा विकारी रूपों का निरूपण स्टोइक्स ने किया। थ्रैक्स ने सभी ग्रीक शब्दों का आठ वाक्यवयवों में वर्गीकरण किया था। मध्ययुग में सत्रहवीं शताब्दी तक डोनेटस और प्रिससियन रचित व्याकरण शैक्षिक व्याकरण के रूप में व्यवहृत होते रहे हैं। जोन वलिस (John Wallis), राबर्ट लोअथ (Robert Lowth) और लिंडले मरे (Lindley Murray) द्वारा पारंपरिक कोटियां स्वीकार की गईं।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि सैद्धांतिक व्याकरण और शैक्षणिक व्याकरण में उद्देश्य-भिन्नता के कारण स्वरूप-भिन्नता भी होती है, और इस तथ्य को विद्वान भली-भांति पहचानते रहे हैं।

1·2 विद्वानों का यह मत है कि वैज्ञानिक अथवा सैद्धांतिक व्याकरण भाषा-

शिक्षण की विषय-वस्तु के लिए समुचित पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। इससे यह संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि वैज्ञानिक व्याकरणों की विषय वस्तु शिक्षण के लिए प्रत्यक्षतः अनुमत नहीं है। शिक्षण में व्याकरण निरूपण का निषेध करने वाले भाषा के प्रकृत शिक्षण पर बल देते हैं तथा ऐसी शिक्षण विधि के पक्षधर हैं जिसमें अर्थपूर्ण सामाजिक सदर्भों में भाषा सिखाई जा सके और भाषा के औपचारिक वर्णन अथवा नियम वर्णन की अपेक्षा न हो। न्यूमार्क (Newmark) (1964) इसी मत के प्रतिपादक हैं। अध्यापन में व्याकरणिक नियमों की व्यर्थता को न्यूमार्क ने अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध किया है कि भाषा का वक्ता इन नियमों को जाने बिना भी सफल अभिव्यक्ति करता है और कक्षा में नियमों का अध्ययन करने वाला छात्र अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं होता। न्यूमार्क के अनुसार व्याकरण के नियमों का अध्यापन अर्थवान प्रयोगों के संबंधों को प्रतिबिंबित नहीं करता। न्यूमार्क की इस विचारणा में अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। न्यूमार्क ने अपनी स्थापना में शिक्षण स्थितियों और भाषा सीखने वालों का ध्यान नहीं रखा है। सभी शिक्षण स्थितियां समान नहीं होतीं, अतएव प्रत्येक स्थिति में समान विधि का अनुगमन सम्यक् नहीं होता। यह मान्यता कि व्याकरणिक नियमों के भार से अध्येता की बुद्धि कुंठित होती है, प्रमाणसिद्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रथम भाषा अधिगम और द्वितीय भाषा अधिगम को सदृश प्रक्रिया कहना भी समस्या का अतिसरलीकरण है। नियमानुसारिणी व्याकरण और शिक्षण-सामग्री में किसी भी संगति का निषेध, वस्तुतः, असंतुलित दृष्टिकोण का परिणाम है।

जेकोबविट्स (1974) भी इसी धारणा का प्रतिपादन करता है कि प्रथम भाषा अधिगम विषयक विचारणाओं का निर्वाह द्वितीय भाषा अधिगम में भी यथावत् किया जा सकता है।

इसके विपरीत सपोर्टा का मत है कि भाषिक क्षमता की रूपरेखा या सांचा शैक्षणिक व्याकरणों के लिए सर्वश्रेष्ठ आधार बना है। उदाहरणस्वरूप सपोर्टा ने रूपांतरणात्मक व्याकरण में उपलब्ध सामग्री का उल्लेख किया है।

भाषा-शिक्षण में व्याकरण के उपर्युक्त आसंगों को लेकर अध्यापकों में भी भ्रम उत्पन्न हुआ है। वे ऐसा मानने लगे हैं कि पारंपरिक व्याकरणों और उन पर थोपे जाने वाले भाषाविज्ञानसम्मत व्याकरणिक प्रतिपत्तियों में मौलिक द्वंद्व है। एक ओर परंपरागत व्याकरणों को अवैज्ञानिक ठहराना, दूसरी ओर भाषाविज्ञान की जटिलता का केवल विद्वज्जनगम्य होना, इस स्थिति ने शिक्षक के समक्ष भ्रम उत्पन्न किया है।

जो शिक्षक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों से परिचित होना भी चाहते थे, उनके समक्ष भाषाविज्ञान के दुर्गम संप्रदाय थे, प्रत्येक की अपनी विशिष्ट तकनीकी

शब्दावली थी, स्थापनाएं थीं। इनसे संबद्ध पुस्तकों की विषयवस्तु को ग्रहण करने में एतद्विषयक पूर्वज्ञान की अपेक्षा थी। अतएव भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रकाश में भाषाशिक्षण की संभावना ने प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया।

तब भी, यह तो मानना ही होगा कि व्याकरणिक सिद्धांतों अथवा स्थापनाओं का ज्ञान भाषाशिक्षकों की दृष्टि को व्यापकता प्रदान करता है इसलिए यह उनके प्रशिक्षण का भी अनिवार्य अंग है। इस धारणा के पक्षधर प्रथम भाषाशिक्षण और द्वितीय भाषाशिक्षण—दोनों में ही—व्याकरण के कतिपय स्पष्ट वर्णनों का समावेश आवश्यक मानते हैं। इसका तात्पर्य, शिक्षण में, व्याकरण-अनुवाद विधि के पुनः प्रयोग को अनुमत करना नहीं है। वरन् कक्षागत परिवेश की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, छात्रों द्वारा भाषा अधिगम को त्वरित करने के लिए व्याकरण का अपेक्षित महत्व प्रतिपादित करना है।

आधुनिक दृष्टिकोण अधिगम के प्रसंग में भाषा को नियम-नियंत्रित व्यवहार प्रतिपादित करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पाठ्यक्रमों में भाषा के नियमों का अध्यापन अनिवार्य कर दिया जाए। भाषा के कतिपय पक्षों के अध्यापन में स्वनिमित सिद्धांत उपयोगी है, अन्य पक्षों में व्याकरण नियमों की प्रक्रिया महत्वपूर्ण हो सकती है। कर्ता-क्रिया अन्विति, निषेधात्मक, विधेयात्मक आदि रचनाओं को, बिना नियमों में गहरे जाये, स्वभाव निर्मित प्रक्रिया द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। परंतु कुछ पक्ष ऐसे भी हैं जिनमें बिना नियम समझे अधिगम संभव नहीं होता।

राइवर्स (*1968*) का मत है कि भाषा नियम नियंत्रित व्यवहार है और भाषा-शिक्षण का महत्वपूर्ण अंग ऐसी विधियों को खोजना है जिनसे छात्र नियमों के अंतर्भावन में सफल हों। वस्तुतः यही विचारणा उचित प्रतीत होती है। व्याकरण भाषा-शिक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अध्यापक के ज्ञान-क्षेत्र को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से भी और छात्रों द्वारा अधिगम की दृष्टि से भी।

तब प्रश्न यह होता है कि किस व्याकरण पद्धति को भाषा-शिक्षण में आधार रूप में ग्रहण किया जाय? पारंपरिक व्याकरण का तो अनेकविध विरोध किया जा रहा है। यहां इस प्रसंग में पारंपरिक व्याकरण की किंचित् चर्चा अपेक्षित है।

1.3 परंपरागत व्याकरणों को **विषयीपरक** (Subjective) कहा जाता है। इसलिए कि उनमें विश्लेषण का आधार अर्थतत्व रहा है। अतः प्रकार्यात्मक पक्ष गौण हो जाता है। इन व्याकरणों में गृहीत प्रविधियों पर भी आक्षेप किए जाते हैं। एक और आरोप यह है कि पारंपरिक व्याकरणों में वाक्यावयवों की परिभाषाएं अभिप्रायात्मक (Notional) हैं। अर्थ के आधार पर परिभाषित एकक, प्रकार्य स्तर पर विचार करने से उस परिभाषा में समाहित नहीं हो पाते। अतः संज्ञा, विशेषण आदि की परिभाषाएं पूर्ण नहीं हैं। यह भी कहा जाता है कि पारंपरिक व्याकरण

भाषा के सूक्ष्म विवरणों पर तो बल देता है किंतु व्यापक सांचों को अलक्षित ही छोड़ देता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि पाणिनीय व्याकरण और उसकी परंपरा का अनुगमन करने वाली व्याकरणों के संबंध में ये आरोप एकदम मिथ्या हैं। अष्टाध्यायी पूर्णतः वस्तुनिष्ठ व्याकरण है। पाणिनि वाक्यावयवों की अभिप्रायात्मक (Notional) परिभाषा भी नहीं देते, अष्टाध्यायी में संपूर्ण वर्गीकरण सुबन्त, तिङन्त, प्रत्यय और अव्यय में समाहित है। पाणिनि क्रिया आदि की परिभाषा नहीं देते, 'भ्वादयः धातवः' कह देते हैं, इसी प्रक्रिया से संपूर्ण तत्वों का आख्यान किया गया है, कहीं भ्रम की गुंजाइश नहीं है। परंपरागत व्याकरण कहकर जिन व्याकरणों में दोष बतलाए जा रहे हैं वह ध्वंस व्याकरण की परंपरा है। वस्तुतः हिंदी के अध्यापक संस्कृत की व्याकरण परंपरा से परिचित न होने के कारण स्वयं को असहाय पाते हैं। मेरे एक मित्र का कहना है कि पाणिनि-परंपरा का प्रयोग हिंदी जैसी अयोगात्मक भाषाओं के लिए कैसे समुचित होगा। मेरा निवेदन है कि निर्विभक्तिक रूपों में जहां लोप का कथन किया गया है, शून्य रूपिम की कल्पना अयोगात्मक भाषा में उपयोग हो सकती है। आवश्यकता उस परंपरा को आत्मसात् कर नया रूप प्रदान करने के लिए श्रम और समय की है।

वाक्यावयवों की परिभाषाओं को लेकर जो आरोप किए गए हैं उनके संदर्भ में यह ध्यान रखने की बात है कि भाषाविज्ञान में भी एक कोटि (Category) को परिभाषित करने की अनेक दृष्टियां हैं। संज्ञा की परिभाषा रूपात्मक हो सकती है, प्रकार्यात्मक और अभिप्रायात्मक (Notional) भी हो सकती है। एकक के भौतिक रूप विषयक वर्गीकरण पर आधारित परिभाषा रूपात्मक (Morphological) होती है। प्रकार्यात्मक परिभाषा वाक्य में शब्द की अन्य शब्द सन्निधि जन्य संबंध पर आधारित होती है। तथा अभिप्रायात्मक (Notional) परिभाषा वस्तु जगत के संबंध के विषय में हमारी धारणा पर निर्भर है। इस प्रकार संज्ञा की परिभाषा तीन प्रकार से हो सकती है—

(1) संज्ञा वह शब्द है जो ऐसी वैभक्तिक शृंखला में समाहित हो सकता है जिसका निर्माण एकवचन और बहुवचन तथा सामान्य और संबंधसूचक रूपों के व्यतिरेक के आधार पर किया गया हो।

(2) प्रकार्यात्मक दृष्टि से इसे ऐसा शब्द कहा जा सकता है जो किसी क्रिया का कर्ता हो।

(3) अभिप्रायात्मक दृष्टि से इसे किसी वस्तु, व्यक्ति आदि का नाम कहकर परिभाषित किया जा सकता है।

अपने आप में, इनमें से कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है न सर्वतः प्रयोगार्ह

ही। परंतु जब भाषा का वर्णन विविध पक्षों में अभिप्रेत हो तो ये सभी परिभाषाएं संगत हैं, संज्ञा की एकाधिक विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करती हैं।

शैक्षणिक व्याकरणों में संज्ञा और क्रिया की अभिप्रायात्मक परिभाषा दी जाती है तथा अन्य वाक्यावयवों को प्रकार्यात्मक दृष्टि से निरूपित किया जाता है। संज्ञा और क्रिया की परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि—

1. An adjective is a word that modifies a noun.
2. An adverb is a word that modifies a verb.
3. A pronoun is a word that replaces a noun.
4. A preposition is a word that relates other parts of speech.

अतएव एकाधिक परिभाषा प्रकारों के आधार पर ही पारंपरिक विचारणाओं की आलोचना सम्यक् नहीं है। रूपवादी, अभिप्रायात्मक और प्रकार्यात्मक परिभाषाओं का समन्वय किया जा सकता है। भाषातत्वविद् मानते हैं कि संज्ञा, क्रिया, उपवाक्य, वाक्य अथवा शब्द की एकदम सटीक परिभाषा देना संभव नहीं है। परंतु यह संभव है कि विशेष सूची बनाकर शब्द वर्गों का ज्ञान कराया जाय, अध्यापक, आंशिक परिभाषाओं के बाद उदाहरणों की सूची दे, छात्र सूची का अध्ययन करे और स्वयं ज्ञात करे कि सूची के एककों में क्या समानताएं हैं तथा आगमन द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संज्ञा अथवा क्रिया क्या है ? छात्र अपने ज्ञान के लिए परिभाषा पर निर्भर न करे। वैयाकरण भाषा के अधिकतम सामान्य विवरणों से अधिकतम सूक्ष्म विवरणों की ओर अग्रसर होता है। इस प्रक्रिया में शब्द वर्ग के सूक्ष्म उपवर्गीकरण की प्रवृत्ति अपेक्षित है। विश्लेषण की सुनिश्चित अथवा सुपरिभाषित रूपरेखा ही ग्राह्य है जिसमें सभी सूक्ष्म विवरण एक एकीकृत समग्र में समाहित हो सकें। आधुनिकता के अति आग्रह में, किसी सिद्धांत विशेष को प्रचार में लाने के लिए, पारंपरिक व्याकरण की आलोचना श्लाघ्य नहीं है। पारंपरिक व्याकरणों को शैक्षणिक व्याकरणों में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के तीन सोपानों का संकेत जे. पी. बी. एलन (1974) ने दिया है।

पारंपरिक व्याकरण की आलोचना करने में एक तर्क यह भी है कि आधुनिक भाषाविज्ञान के विकास को प्रत्यायित करने वाली नूतन व्याकरण पद्धतियां अधिक वस्तुनिष्ठ हैं, इनकी रूपरेखा सुनिश्चित है और प्राप्त होने वाले परिणाम निर्विवाद। इस दृष्टि से यहां इन व्याकरण पद्धतियों का संक्षिप्त निरूपण प्रसंग प्राप्त है।

1·4 भाषिक विश्लेषण की संरचनात्मक प्रणाली इस धारणा को आधार बनाती है कि भाषिक तत्व एक व्यवस्था के अंतर्गत परस्पर संबद्ध होते हैं, वे पृथक्-पृथक् एककों का संग्रह मात्र नहीं हैं। संरचनावादियों के अनुसार पृथक्-पृथक् ध्वनियां, शब्द

अथवा वाक्य के भाग अलग-अलग कोई भाषिक महत्व नहीं रखते, उनका महत्व भाषिक व्यवस्था के सांचों में ही है। स्मरणीय है कि भारतीय वैयाकरण भी वाक्य को अखंड मानते हैं तथा पृथक्करण प्रक्रिया को केवल विश्लेषण के लिए स्वीकार करते हैं। संरचनावाद को आधुनिक संदर्भ में दो दृष्टियों से प्रस्तुत किया जाता है—

(1) प्रत्येक भाषा अपने आप में स्वतंत्र, दूसरी भाषा से भिन्न, संबंधपरक संरचना है। तथा

(2) एककों को एक पूर्ण व्यवस्था के अंग रूप में ही पहचानकर उनका विश्लेषण करणीय है।

प्रथम दृष्टि से संरचनावाद का प्रस्तुतीकरण प्राग संप्रदाय के भाषातत्वविदों ने (1929 में) किया था। द्वितीय का पल्लवन अमेरिकी संप्रदाय ने किया। ब्लॉख (Bloch), वैल्स (Wells), हैरिस (Harris), हॉकेट (Hockett) आदि ने इस पर पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत की है, जिसे संरचनात्मक, वर्गीकीय (Taxonomic) अथवा ब्लूमफील्डियन अभिधानों से जाना जाता है।

1.4.1 संरचनात्मक विचारधारा अर्थ की अपेक्षा रूप (Form) के आग्रह से युक्त है।

टेक्सोनॉमिक (Taxonomic) व्याकरण की प्रविधि का विकास विश्लेषण की पारंपरिक विधियों के प्रति एक सचेतन विद्रोह के रूप में हुआ है। विरोध धारणात्मक परिभाषाओं और इस विचारणा का था कि सब भाषाओं पर लागू की जा सकने वाली व्यापक कोटियां (categories) हो सकती हैं। टेक्सोनॉमिक वैयाकरणों की धारणा है कि कोटियों की परिभाषा अर्थ के निकष पर न होकर वितरण के आधार पर होनी चाहिए। किसी भी भाषा की संरचना का वर्णन—काल, भाव अथवा वाक्यावयवों आदि के व्यापक संदर्भ के बिना ही किया जाना चाहिए। जब यह मान्यता प्रस्तुत की जाती है कि वाक्य स्तर से नीचे के स्तर की प्रत्येक इकाई एक खास वितरण रखती है तो इसका अर्थ यही है कि यह प्रयोग-संदर्भों से प्रतिपादित होती है। फ्रीज़ (1952) ने इसी आधार पर अंग्रेजी भाषा प्रयोगों को चार मुख्य शब्द वर्गों में विश्लेषित किया है तथा फंक्शन शब्दों (Function wrods) के पंद्रह वर्ग दिए हैं। फ्रीज़ इकाइयों का एक समुच्चय निश्चित करता है, इनका वर्णन वस्तुनिष्ठता से किया जा सकता है, फिर इन संरचनात्मक इकाइयों को व्याकरणिक अर्थ की धारणा का आधार बनाता है। पारंपरिक वैयाकरण व्याकरणिक अर्थ की सहजमानात्मक धारणा से प्रारंभ करता है फिर शब्द और शब्द-वर्गों को पारिभाषिक नाम देता है। इस प्रकार पारंपरिक पद्धति वैयाकरणिक सिद्धांतों पर निर्भर है।

फ्रीज़ वितरण को निकष बनाकर विषयीपरक निर्णयों को अस्वीकृति देता है। फ्रीज़ प्रतिपादित विधि का प्रयोग किया गया है और परिणामों को मैककर्डी बर्नेट (Maccurdy Burnet) (1964) ने श्रेष्ठ कहा है। भाषा शिक्षण में इस विधि

की प्रयोग-सतर्कता की बात पर बल देते हुए नॉरमन. सी. स्टेजबर्ग ने संरचना-जन्य अर्थभ्रम का संकेत दिया है और ऐसा भ्रम उत्पन्न करने वाली संरचनाओं को स्पष्ट उजागर करने का आग्रह किया है।

टेक्सोनॉमिक (Taxonomic) वैयाकरणों की प्रविधि वाह्‌य संरचना पर केंद्रित रहती है, अर्थात् उनका विश्लेषण वाक्य के प्रत्येक तत्व को घटक तत्वों में खंडित करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वाक्य की वाह्‌य संरचना, निकटस्थ अवयवों (I. C.) की रेखीय शृंखला में व्यवस्थित अनुक्रम है। इस अनुक्रम को उत्तराधर कोष्ठकीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

Harry | enjoyed | his | first | visit.

उपर्युक्त प्रकार का वर्णन निकटस्थ अवयवी विश्लेषण कहा जाता है। इसे और भी उपयोगी बनाया जा सकता है यदि अवयवों को कोटियां और उपयुक्त नाम दिए जा सकें। जैसे—Harry—सं. प. वं

शेष —क्रि. प. वं

enjoy —क्रि.

शेष —सं. प. वं आदि।

अंग्रेजी की वाह्‌य संरचना का विश्लेषण ई. ए. नाइडा ने किया है। निकटस्थ अवयवी विश्लेषण में, सामान्यतः, यह मानकर प्रवृत्त हुआ जाता है कि जहां तक संभव हो अवयवों को द्विसंरचकीय वर्गों में रखना चाहिए लेकिन जब इस प्रणाली को Peter, Paul and Mary जैसी संरचनाओं पर प्रवृत्त किया जाता है तो कठिनाई होती है।

उपर्युक्त व्याकरण पद्धति का शैक्षिक व्याकरणों में पर्याप्त प्रयोग हुआ है। इसके कतिपय दोष भी सामने आए हैं। शिक्षाविदों का कथन है कि—

—यह वाक्य के गठन पर अधिक बल देती है, अर्थ पद गौण रह जाता है, अतः स्थानापन्न अभ्यासों में गलत और संदर्भ रहित अभ्यासों के अवसर उत्पन्न हो जाते हैं।

—वाक्यावयवों की संकल्पना रखते हुए भी उन्हें कोई नाम नहीं दिया गया।

—यह मौखिक अभ्यासपरक है।

1.4.2. एक वैकल्पिक दृष्टिकोण बंधिमविज्ञान (Tagmemics) है। पाइक के अनुसार व्याकरण को मूलभूत इकाई को न तो केवल प्रकार्य के आधार पर परिभाषित

करना अपेक्षित है और न केवल रूप (Form) के आधार पर। वरन् इन्हें रूप (Form) और प्रकार्य (Function) दोनों के समन्वित आधार पर परिभाषित किया जाना चाहिए। जैसे—

$$S : NP + P : VP + O : NP$$

और इसे 'Subject slot filled by a noun phrase, followed by predicator slot filled by a verb phrase' पढ़ना चाहिए। इस व्याकरण की मौलिक इकाई टेग्मीम (Tagmeme) है। इसमें संदेह नहीं कि यह संतुलित दृष्टिकोण है, पर इसमें 'संज्ञा' आदि नाम तो प्रयुक्त हो ही रहे हैं, फिर इनकी परिभाषा का प्रश्न आता है और यह कठिनाई पारंपरिक व्याकरणों में मानी ही गई है।

भाषा शिक्षकों में, नाइडा, फ्रीज़ और पाइक के व्याकरण अधिक प्रिय कहे गये हैं। इनमें वस्तुनिष्ठता है, स्पष्टता है, वर्णन की तकनीक समान है, और शब्दावली सरल है। उपर्युक्त तीनों में भी टेग्मेमिक्स सर्वाधिक विकसित है और भाषा शिक्षण की दृष्टि से उपयोगी भी विविध स्तर पर सांचों की व्याख्या करने वाली यह विधि छात्रों को सीधे प्रभावित करती है। इसमें व्याकरणिक कथन को सरल आरेख में परिवर्तित किया जा सकता है, शैक्षणिक दृष्टि से उपयोगी अभ्यासों का आधार बनाया जा सकता है।

1.4.3. रूपांतरणात्मक व्युत्पादक व्याकरण भाषा के वास्तविक प्रयोग के मूल में निहित वक्ता की भाषिक क्षमता (competence) की प्रकृति का आख्यान करती है तथा क्षमता को अत्यधिक अपूर्व व्यवस्था प्रतिपादित करती है। चोम्सकी स्वयं कहता है कि किसी भी प्रकार सिन्टेक्टिक स्ट्रक्चर (S. S.) अथवा एस्पेक्ट्स (Asepcts) को वास्तविक प्रयोग का नमूना बनाना अभिमत नहीं है। यह तो वास्तविक संप्रेषण में भाषा किस प्रकार काम में आती है, इसका प्रस्तुतीकरण है। क्योंकि संप्रेषण की आधारभूत सामग्री से यह संबद्ध है और यही शैक्षिक व्याकरणों का भी उद्देश्य है इसलिए यह सोचा जा सकता है कि कक्षा में भाषा शिक्षण की समस्याओं के समाधान में रूपांतरणात्मक संयंत्र से कुछ सहायता मिले। परंतु कक्षा में अध्यापन की दृष्टि से इसकी उपयोगिता विवादास्पद है। हॉल भाषा सीखने वालों के लिए इसे सहायक तो मानता है पर साथ में यह शर्त भी लगाता है कि इसकी सभी अत्यधिक औपचारिकताओं को प्रस्तुत न किया जाय। जकोबसन ने रूपांतरणात्मक व्याकरण का शिक्षण की दृष्टि से उपयोग बतलाया है।

1.4.4. फ़िलमोर (1968) के कारकीय व्याकरण में संज्ञा पदबंध और क्रिया पदबंध के विविध संबंधों की दृष्टि से कारकीय धारणा उपस्थित की गई है। इसके अनुसार वाक्य की आधारभूत रचना में एक क्रिया और एकाधिक संज्ञा पदबंध होते हैं। प्रत्येक संज्ञा पदबंध क्रिया के साथ एक विशेष कारक संबंध से बद्ध होता है।

फ़िलमोर ने पांच कारक संबंध प्रतिपादित किये हैं— प्रकर्ता (Agentive), अनुभवकर्ता (experiencer), करण (Instrumental), स्रोत (Source) और लक्ष्य (Goal)।

परंतु भाषाशिक्षण में कारकीय व्याकरण की संगतता अभी प्रकट नहीं है।

1.4.5. सिडनी लैंब (1966) प्रतिपादित स्तरपरक व्याकरण (Stratificational Grammar) में भाषा अनेक स्तरीय संरचना मानी गई है। प्रत्येक स्तर का विशिष्ट विन्यास होता है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा बहुस्तरीय संरचनाओं की जटिल संरचना अथवा व्यवस्था है। लैंब के अनुसार भाषा के मूल रचक तीन हैं—

—अर्थ

—व्याकरण

—ध्वनि

इनके भी क्रमशः दो-दो स्तर होकर छह स्तर हो जाते हैं, इन छह स्तरों की प्रत्येक की अपनी-अपनी संरचना है। 'व्याकरण' पद का प्रयोग भी इस धारणा में तीन अर्थों में हुआ है—

1. प्रथम अर्थ में व्याकरण तीन मूल रचकों (अर्थ, व्याकरण और ध्वनि) की व्यवस्थाओं का विश्लेषण है।
2. द्वितीय अर्थ में व्याकरण अर्थ और ध्वनि के बीच का मूल रचक है।
3. तृतीय अर्थ में व्याकरण, अर्थ और ध्वनि के बीच के किसी भी अंग का द्योतक है।

उपर्युक्त संकेतों से यह प्रकट होता है कि यह एक प्रकार का भाषादर्शन है। स्तरपरक व्याकरण की कतिपय विशेषताओं और अन्य व्याकरणों की तुलना में उसकी शक्ति का कथन एच. ए. ग्लीसन (1965) ने किया है। यद्यपि ग्लीसन यह मानता है कि अभी इस पर कार्य होना है पर साथ ही यह दावा भी है कि यह स्तरपरक व्याकरण भाषा व्यवस्था का अधिक संतोषजनक चित्र प्रस्तुत करने में, अन्य अब तक उपलब्ध व्याकरणों से अधिक सक्षम है।

1.4.6. हैलीडे की व्यवस्थापरक (Systemic) व्याकरण में व्यवस्था ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हैलीडे दो कोटियां—सैद्धांतिक तथा वर्णनात्मक—मानते हैं। प्रथम भाषा मात्र के लिए संगत है, द्वितीय भाषा विशेष के संदर्भ में होती हैं। सैद्धांतिक कोटियां चार हैं। वर्णनात्मक कोटियों की संख्या भाषा सापेक्ष्य है। चार सैद्धांतिक कोटियां हैं—इकाई, संरचना, वर्ग और व्यवस्था। वाक्य, उपवाक्य, समूह आदि वर्णनात्मक कोटियां हैं। जिनकी संख्या भाषा विशेष पर निर्भर करती है। हैलीडे ने चार आयाम भी कहे हैं—रैंक, सूक्ष्मता, एक्सपोनेन्स, और डेल्य।

हैलीडे के अनुसार वाक्य-निर्माण में विविध व्यवस्थाओं से गृहीत विकल्प होते हैं। हैलीडे की धारणाएं बहुत महत्वपूर्ण एवं विद्वत्तापूर्ण हैं, पर शैक्षणिक व्याकरण की दृष्टि से इसके उपयोगी अंशों का आकलन यहां पधारे विद्वान ही कर पाएंगे।

इस प्रसंग में प्रकार्यात्मिक व्याकरण पर कुछ कहना अपेक्षित है। वस्तुतः 'प्रकार्यात्मक' शब्द विशेष संदर्भ से युक्त है। भाषा समाज के विविध परिवेशों में किस प्रकार प्रवृत्त होती है यह तथ्य प्रकार्यात्मक शब्द में निहित है। अर्थात् व्याकरण का नियम यह बतलायेगा कि भाषा विशेष में दो लिंग होते हैं, पर ये दो लिंग क्यों हैं और किस स्थिति में एकवचन और द्विवचन के रूप में प्रयुक्त होकर क्या व्यक्त करते हैं, यह उनका प्रकार्य है? इस प्रकार्य को स्पष्ट करते हुए नियम कथन प्रकार्यात्मक व्याकरण की कोटि में आता है। यह विचारणा वस्तुतः छात्र की संप्रेषण-क्षमता को विकसित करने और परिवेश की स्थिति के अनुसार सही प्रयोग की दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होती है। सामान्यतः अध्यापन में शिक्षक प्रकार्यात्मक पक्ष का ध्यान रखता है, यदि इस पक्ष का सम्यक् आकलन भाषा शिक्षण में किया जाय तो शिक्षण प्रभावी होगा, इसमें संदेह का अवसर नहीं है। परंतु यहां 'सम्यक् आकलन' ही कठिन प्रतीत होता है। प्रकार्यात्मक पक्ष का वैज्ञानिक समन्वयन किस प्रकार किया जाय कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों में संतुलन रह सके और छात्र में भाषा विषयक दक्षता विकसित की जा सके।

पूर्व पृष्ठों में पारंपरिक और नई विकसित व्याकरणों की चर्चा की गई और यही स्पष्ट किया गया कि शिक्षाविद् शैक्षणिक व्याकरणों में क्या अपेक्षा करते हैं। भाषावैज्ञानिक व्याकरणों के प्रस्तुतकर्ताओं ने पारंपरिक व्याकरणों के दोषों का परिकथन तो किया पर इन नई व्याकरणों को शिक्षा का आधार कैसे बनाया जाय इस संबंध में अधिक कुछ नहीं कहा। रूपांतरणात्मक व्याकरण के संबंध में विद्वानों का मत है—

T.G. और शैक्षणिक व्याकरण में भेद इस दृष्टि से है कि शैक्षणिक व्याकरण का उद्देश्य भाषा की संरचना के संबंध में अतकनीकी और सरल विधि से, सूचना देना है। सीखने वाला बिना उलझन में पड़े भाषा की व्यवस्था से परिचित हो सके। इसलिए T.G. और शैक्षणिक व्याकरणों में कोई सीधा संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। इसलिए और भी कि T.G. के अति अमूर्त नियमों का सीधा व्याकरणिक प्रस्तुतीकरण संभव नहीं है, हां T.G. वक्ता की क्षमता का सैद्धांतिक प्रस्तुतीकरण करता है, इसलिए वह भाषातत्वविदों और भाषा शिक्षकों को रुचि का विषय है।

यह भी प्रश्न है कि क्या शिक्षण सामग्री के निर्माण में अप्रत्यक्षतः रूपांतरणात्मक व्याकरण का उपयोग हो सकता है? यदि हां तो कैसे?

ऐलन और विडाउसन (1975) ने फिलमोर की कारक व्याकरण के संदर्भ में लिखा है—

भाषा शिक्षण में कारकीय व्याकरण की संगति की संभावनाओं का अभी पूरी तरह उद्घाटन नहीं हुआ है।

हैलीडे ने भाषा के संप्रेषण गुण को महत्व दिया, Information focus, illocutionary force आदि की तलस्पर्शी व्याख्या की, पर यह स्पष्ट नहीं है कि व्याकरण में इन सब महत्वपूर्ण गूढ़ तत्वों की संतोषजनक व्याख्या कैसे हो पाएगी, खासतौर से शैक्षिक व्याकरण में उपयोग कैसे होगा ?.

संरचनावाद के संबंध में कहा गया है—

संरचनात्मक दृष्टिकोण में खास तौर से द्वितीय भाषा शिक्षण के संदर्भ में, संप्रेषण क्षमता सीखने के लिए कोई अवसर नहीं रखा गया।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि शैक्षणिक व्याकरण की दृष्टि से भाषावैज्ञानिक व्याकरण विवादास्पद ही है।

यह तो स्पष्ट ही है कि प्रत्यक्षतः ये भाषावैज्ञानिक व्याकरण विद्वानों के वाग्विलास के उपकरण हैं। भाषाशिक्षण में इनका साक्षात् उपयोग संभव नहीं है। Wayne Harsh (1975) ने इस उलझन का समाधान इन शब्दों में किया —

> I submit that the continuing question of what grammar should be taught can less be answered by stating that it should be a combination, that includes the valid an the useful parts of each approach.

यह माना कि परंपरागत व्याकरणिक धारणाएं दोषपूर्ण हैं किंतु इस शताब्दी के भाषावैज्ञानिक व्याकरण भी ज्ञान का स्रोत ही हैं। शैक्षणिक व्याकरण की दृष्टि से उनकी उपयोगिता निर्विवाद नहीं है। तब छात्रों को क्या पढ़ाया जाय? व्याकरण स्वयं में लक्ष्य नहीं है, भाषा शिक्षण का माध्यम है। क्या आज हम व्याकरण की दृष्टि से शून्य स्थिति में हैं? परंतु भाषा शिक्षण तो होना है, वह भी अध्यापन की नियति का एक अंश है, तो क्या एक सटीक शैक्षणिक व्याकरण की अपेक्षा महत्वाकांक्षा कही जाएगी ?

क्या इन वैज्ञानिक, (ज्ञान के भंडार) व्याकरणों को शैक्षणिक व्याकरणों में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, यदि हां तो कैसे ? आधुनिक भाषावैज्ञानिक सिद्धांत कोई एक सिद्धांत नहीं है, उसमें विविध दृष्टियों का आकलन है और ये दृष्टियां निरंतर विकास और परिवर्तनों की देन है। शिक्षकों को इनमें से उपयुक्त का चयन करना होगा। छात्रों की दृष्टि से अपेक्षित सुधार करने होंगे।

द्वितीय भाषा शिक्षण में व्याकरण की उपयोगिता और आवश्यकता की समस्या से औपचारिक रूप से हम 1947 के बाद टकराए हैं। यद्यपि हिंदी प्रचार और शिक्षण, गांधी जी की प्रेरणा से, 1947 से काफी पहले प्रारंभ हो गया था। देश के स्वतंत्रता-संघर्ष से जुड़ा होने के कारण, राष्ट्रीयता से संबद्ध होने के कारण हिंदी शिक्षण और हिंदी न जानने वालों द्वारा भी उसका अधिगम एक स्वतः संभूत प्रक्रिया के रूप में चल पड़ा था परंतु 1947 के बाद जब हिंदी राजभाषा घोषित हुई तो इसके शिक्षण आदि के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। पहले हिंदी राष्ट्रीयता की वाहक थी अब राष्ट्र द्वारा आरोपित समझी जाने लगी, अस्तु।

जब हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ाने का प्रश्न सामने आया तो व्याकरण की समस्या भी आई, और जैसे हमने अन्य बातों के लिए आंग्लसंस्कृति की ओर देखा वैसे ही व्याकरण के लिए भी अंग्रेजी में उपलब्ध एतद्विषयक सामग्री को ग्रहण किया। भारतीय परंपरा की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा गया। द्वितीय भाषा शिक्षण की प्रविधियां अंग्रेजी में उपलब्ध थीं और अध्यापक उसी माध्यम से प्रशिक्षण प्राप्त करता था, परिणामतः हिंदी शिक्षण के लिए भी सिद्धांत रूप से वही प्रक्रिया स्वीकारना स्वाभाविक था। समस्या तब आई जब उन सिद्धांतों का प्रयोग परिस्थितियों से टकराव हुआ। नई भाषावैज्ञानिक व्याकरणों के संबंध में विद्वान् स्वयं इस समस्या के समाधान के प्रयासों में लगे हैं कि इन्हें भाषा शिक्षण में प्रत्यक्षतः उपयोगी कैसे बनाया जाय? और इसी प्रयास में अनेक प्रश्न और समाधान के अपेक्षी हो गए हैं। भाषाविज्ञान का उपयोग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान में देने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। भाषाविज्ञान के विकास में उद्भूत व्याकरणों में पारंपरिक व्याकरण की आलोचना है, तो क्या भाषाविज्ञान और व्याकरण परस्पर विरोधी हैं? अथवा उन्हें पूरक होना चाहिए।

सैद्धांतिक व्याकरण और शैक्षणिक व्याकरण सदा से पृथक् रही है। अष्टाध्यायी के लघु सिद्धांत कौमुदी, वृहत् सिद्धांत कौमुदी आदि रूप अध्यापन की दृष्टि से ही उपलब्ध किए गए हैं। क्या इसी प्रकार आधुनिक भाषावैज्ञानिक व्याकरणों का भी शैक्षणिक दृष्टि से उपयोगी स्वरूप तैयार हो सकता है? यदि हां, तो कैसे ? क्या पारंपरिक व्याकरण और भाषावैज्ञानिक व्याकरणों के उपयोगी अंशों को लेकर व्याकरण को सटीक विज्ञान (Exact Science) के रूप में निरूपित किया जा सकता है ?

पाठ्यक्रम में उपयोगी व्याकरण का स्वरूप क्या हो ? विशेषतः द्वितीय भाषा शिक्षण के संदर्भ में। आज के भाषा अध्यापन को इस समस्या से जूझना पड़ रहा है। यदि व्याकरण की अपेक्षा है तो कहां तक और किस रूप में ? क्या भिन्न-भिन्न कक्षाओं में उनके स्तर के अनुरूप व्याकरण के विविध स्तर होने चाहिए, इन स्तरों का निर्धारण अपेक्षित है।

इस संगोष्ठी की आयोजना के मूल में ये ही प्रश्न हैं, जिज्ञासाएं हैं। यह विश्वास किया जाता है कि समागत विद्वान् इन प्रश्नों को अपने दृष्टि रूप में रखकर हमें दिशा निर्देश देंगे।

मुख्य अतिथि का भाषण

—श्री ह्यग्रीवाचारी

श्री सूर्यनारायण शास्त्री जी, डाक्टर गोपाल शर्मा जी और दोस्तो ! अभी-अभी आपने श्री सूर्यनारायण शास्त्री जी का महत्वपूर्ण भाषण तेलुगु में सुना। श्री शास्त्री जी बहुत बड़े विद्वान् हैं। इस बड़ी उम्र में भी वे काम करते रहते हैं। व्याकरण जैसे मज़मून पर उन्होंने इतना अच्छा पेपर पढ़ा। मैं तो कुछ नहीं जानता। खास कर व्याकरण के बारे में मुझे कुछ भी इल्म नहीं है। मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा है और मैं हैरान हूं कि इस संस्थान के अधिकारियों ने मुझे इस मौके पर क्यों बुलाया। शायद इसलिए कि मैं आंध्र प्रदेश सरकार में मंत्री हूं। लेकिन मिनिस्टर भी ऐसे विभाग का हूं, जिसका आज की मीटिंग के मज़मून के साथ कोई ताल्लुक नहीं है। मैं समझता हूं उन्होंने यह सोचा होगा कि मैं हिंदी का आदमी हूं। यह बात सही है। हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा है। उसे भारत के सभी शहरियों को लाज़मी तौर पर पढ़ना चाहिए। मेरा ख्याल तो यह है कि इंजीनियरिंग और दूसरे तकनीकी मज़ामीन भी हिंदी में सिखाये जा सकते हैं लेकिन इसमें कुछ दिक्कतें हैं। हमें हिंदी को लेकर जज़बाती नहीं बनना चाहिए। जो हिंदी नहीं सीखना चाहते, उन पर हम उसे थोप नहीं सकते। थोपना भी नहीं चाहते। प्यार से यह काम हो सकता है। एक बात मैं आप लोगों से कहना चाहता हूं कि आपको जो सालों से आंध्र प्रदेश में रहते हैं, यहां की भाषा तेलुगु सीखनी चाहिए। मेरे बहुत सारे मित्र उत्तर भारत के हैं, सालों से यहां रहते हैं। उनको तेलुगु का एक लफ्ज़ नहीं आता। इससे हिंदी सीखने वाले समझते हैं कि हम हिंदी क्यों सीखें हिंदी वाले तेलुगु क्यों नहीं सीखते ? यों मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि आंध्र हिंदी के खिलाफ नहीं है। हम हर तरह से हिंदी को आगे बढ़ाने के लिए कोशिश करेंगे।

व्याकरण अच्छी चीज़ है। हर भाषा में अच्छे व्याकरण लिखे जाने चाहिए। यहां आज बहुत विद्वान इकट्ठे हुए हैं। उनसे उम्मीद की जा सकती है कि वे सोचें और विचार-विमर्श करें। कोई रास्ता निकालें हिंदी में और दूसरी जबानों में अच्छी व्याकरण की किताबें लिखी जा सकें। मैं आपकी इस संगोष्ठी की कामयाबी चाहता हूं।

अध्यक्षीय भाषण

—गोपाल शर्मा

माननीय श्री टी० ह्यग्रीवाचारी जी, उपस्थित सज्जनो ! मंत्री जी ने जैसे कहा कि मैं व्याकरण के बारे में कुछ नहीं जानता, पर फिर भी कोई मानसिक शक्ति जरूर है तभी तो एक व्याकरण को अच्छी तरह जानने के बाद उसके सहारे वे इतनी देर हिंदी में बोलते रहे। कोई ऐसी मानसिक शक्ति अवश्य है जो हमारी चेतना में विद्यमान रहती है। मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं दो शब्द अपनी ओर से केंद्रीय हिंदी संस्थान की गतिविधियों के बारे में कहूं। केंद्रीय हिंदी संस्थान की स्थापना भारत सरकार ने हिंदी द्वितीय भाषा शिक्षण के रूप में अहिंदी भाषियों को पढ़ाने, अध्यापकों को प्रशिक्षण देने, सामग्री का निर्माण करने, विदेशी भाषा के रूप में हिंदी पढ़ाने के लिए की है। हिंदी की बदलती हुई भूमिका में जिन जिन क्षेत्रों में हिंदी का प्रयोग हो उन विशिष्ट क्षेत्रों की भाषा का प्रशिक्षण (जैसे बैंक में, शासन में हिंदी का प्रयोग) सामग्री निर्माण, अनुसंधान और प्रशिक्षण भी इसका उद्देश्य है। हम इसके रूप एकत्र करके पाठ्यक्रम की तैयारी करेंगे। तदनुसार अध्यापन का कार्य करेंगे। हर्ष का विषय है कि हिंदी सीखने के लिए कम्युनिस्ट और नान-कम्युनिस्ट जितने भी लोग हैं सभी एक कक्षा में बैठकर पढ़ते हैं। सौभाग्य का विषय है कि आंध्र प्रदेश में यह केंद्र दक्षिण भाषियों के लिए खुला है। दिल्ली में विदेशियों का केंद्र खुला है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारी एक सांस्कृतिक मनोभूमि में एक ही भाव अनेक शब्दों से व्यक्त होता है।

दक्षिण के आंध्र प्रदेश, केरल, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में हम केंद्र की ओर से हिंदी की सेवा करना चाहते हैं। अगर तमिलनाडु भी चाहे तो हम तत्पर हैं। पर हम अनावश्यक रूप से समस्या उत्पन्न करना नहीं चाहते। हम आंध्र प्रदेश के लगभग एक हजार हिंदी शिक्षकों का नवीकरण कर चुके हैं। हम लोग भाषा शिक्षण में परंपरा से हटकर नवीन विधियों से पढ़ाने का प्रयास करते हैं। भाषा की प्रकृति को जानकर द्वितीय भाषा के रूप में हम लोग हिंदी को आधुनिक तकनीक से पढ़ाने की चेष्टा करते हैं और इसी दिशा में हम लोग कुछ नवीन प्रयोग कर रहे हैं और कुछ सीखने का प्रयास कर रहे हैं। हमारे भाषा-शिक्षण के सारे कार्यक्रमों

का आधार एक प्रकार से व्याकरण है। आज यह आम धारणा है कि भाषा शिक्षण में सीधे व्याकरण न सिखाया जाये बल्कि भाषा के प्रयोग के माध्यम से और आगे की भाषा में उसका प्रयोग करें। व्याकरण के नियम उपनियम सिखाये जायें या स्वयं सीखें। यहां जिस अर्थ में हम व्याकरण का प्रयोग कर रहे हैं वह एक सीमित अर्थ में नहीं है, बल्कि हम उसे शिक्षण के एक तंत्र के रूप में प्रयोग कर रहे हैं जो कि प्रत्येक भाषा में मानव प्रकृति के कारण आता है, मानव के व्यवहारों के कारण बनता है, मानव के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने के कारण बनता है, उस अर्थ में जो सिस्टम बनता है उसे हम व्याकरण कहते हैं। हम नियमों की ऐसी व्याख्या नहीं करना चाहते हैं कि संज्ञा किसे कहते हैं? वाक्य किसे कहते हैं? हमारे व्याकरण का तात्पर्य यह बताना नहीं है। हमारे आचार्यों ने व्याकरण की व्याख्या बहुत पहले ही की है। वे व्याकरण के द्वारा भाषा को विच्छिन्न नहीं करना चाहते थे। भाषा के मूलरूप को अक्षुण्ण रखना अपना धर्म समझते थे। भाषा और उसमें निहित अर्थ का, व्यक्तित्व का, समाज के व्यक्तित्व का अभिन्न चेतना मानते थे। भाषा बुद्धि में निहित है। अगर भाषा और संस्कृति एक है तो भाषा और संस्कृति का उद्घाटक व्याकरण है। और ये व्याकरण संभवतः भाषा ही है, ऐसा मानकर हमें चलना होगा। तब हम भाषा की प्रकृति को अच्छी तरह समझ सकेंगे और दूसरे की भाषा की संस्कृति को अच्छी तरह समझने की चेष्टा करेंगे। उसमें निहित व्याकरण शक्ति को समझकर हम नई भाषा को विकसित करने में समर्थ हो सकेंगे। व्याकरण तो उसी प्रकार एक नाम है जिस प्रकार कि शिव को जिस दृष्टि से हम देखते हैं उसी दृष्टि से उन्हें हम धूर्जटी कहते हैं, शिव कहते हैं। अनेक नाम हम देते हैं। एक-एक लक्षण को लेकर उसके नाम हैं, उसी प्रकार हमारे यहां केस ग्रामर एक परंपरागत व्याकरण है। ब्लूम फील्ड का, जिसको Behavioural Grammar कह सकते हैं दूसरा व्याकरण है। एक और ग्रामर है Generative Grammar। ये सब Perspection हैं व्याकरण को देखने के। इससे हमें जो तंत्र प्राप्त हुआ है उसी को हम व्याकरण कहते हैं। जिस दृष्टि से भाषा को देखा उसी दृष्टि से व्याकरण की व्याख्या की। यों व्याकरण की हमारी परंपरा बहुत पुरानी है। यास्क ने इसको अनेक शब्दों में व्यक्त किया है। विभिन्न जातीय प्रयोगों में जो भिन्नता है उसका भी उन्होंने वर्णन किया है। साथ-साथ अन्य व्याकरणों की परंपरा को भी माना है। इसलिए वह प्राच्येषु, प्रीचेषु आदि का उल्लेख करता चला गया है अर्थात् किसी भी बड़े राष्ट्र में बहुभाषिक बहु-सांस्कृतिक राष्ट्रभाषा की कल्पना की जाये तो हमें इस बात को समझना पड़ता है कि भाषा की प्रकृति क्या है? जिस प्रकृति और संस्कृति से वह परिस्थिति निर्मित हुई है उस संस्कृति का हम कितना प्रयोग करें। उसका प्रयोग करते हुए हम नई भाषा को उसके पास प्रस्तुत करें। सीखने के लिए सरल बनायें। हमारे यहां भी व्याकरणाचार्यों ने बहुत काम किया है, जैसे मीमांसकों ने, नैयायिकों ने, वैयाकरणों ने, बौद्धों ने, जैनों ने, व्याकरण पर बहुत चिंतन किया है।

हमारी दृष्टि व्याकरण को अर्थ से अलग करने की नहीं थी, क्योंकि हम उसको संपूर्ण तंत्र मानते थे। इन्हीं दृष्टियों से हमने व्याकरण को देखा है। ये सब बातें हमारे सामने इसलिए हैं कि यद्यपि पाणिनि ने सूत्र बना लिए फिर भी भाषा में अन्य परिवर्तन और विजातीय तत्वों को हम भाषा का ही अंग मानते हैं। अतः इनको अलग न मानकर भाषा को समग्र रूप में देखना चाहिए।

गांधीजी ने हिंदी को एक मूल्य के रूप में रखा। जैसे जेल जाना, खद्दर पहनना एक मूल्य था उसी प्रकार हिंदी सीखना भी एक मूल्य था। परवर्ती काल में खद्दर आदि के प्रयोग में जो मूल्यों में परिवर्तन आया है वही परिवर्तन आज हम हिंदी के संदर्भ में देखते हैं। इससे हमको निराश होने की आवश्यकता नहीं है। अब हमें हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में पढ़ते हुए उसकी और अन्य भाषाओं की संस्कृतियों को समझते हुए आगे बढ़ना है। ये काम हमारे लिए, आपके लिए, और हिंदी शिक्षकों के लिए निश्चय ही कठिन काम है। हिंदी प्रदेशों में प्रायः लोग बहुभाषी नहीं हैं। इसका कारण व्यावहारिक प्रयोजन है। लेकिन सांस्कृतिक प्रयोजन के लिए हमें एक-दूसरे की भाषा सीखनी ही पड़ेगी। ऐसा लगता है कि भविष्य में हिंदी का काफी विस्तार होगा और इसके प्रादेशिक रूप भी बनेंगे। इससे हमें डरने की आवश्यकता नहीं। लेकिन व्याकरण इस विविधता को ध्यान में रखेगा और हमें हिंदी की विविध शैलियों से परिचित करवायेगा। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर हमने यह संगोष्ठी आयोजित की है। जो विद्वान् यहां उपस्थित हैं वे अपने-अपने चिंतन से, अपने विचार से हमारे सामने बहुत-सी समस्याओं का हल प्रस्तुत करेंगे और हमारा मार्ग-दर्शन करेंगे। आप सब लोगों को मैं संस्थान की ओर से धन्यवाद देता हूं।



व्याकरण की परिकल्पना

(भारतीय तथा पाश्चात्य परंपरा)

वि. कृष्णस्वामी अय्यंगार
एस. वी. षण्मुगम
विद्यानिवास मिश्र
कृष्णकुमार गोस्वामी
डी. डी. माहुलकर

व्याकरण की प्राचीन परंपरा

—वि. कृष्णस्वामी अय्यंगार

1. मानव के जीवन में भाषा का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। भाषा हमारे लिए एक अमूल्य वरदान है। हम कल्पना भी नहीं कर सकते कि भाषा के बिना हमारे जीवन का स्वरूप कैसा होता। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में आज तक मानवजाति ने जो उन्नति की है, उसका मूल आधार भाषा ही है। भाषा के माध्यम से ही ज्ञान का प्रसारण, संरक्षण और संवर्धन हो सकता है। सभ्यता और संस्कृति का विकास भाषा की शक्ति से ही संपन्न हुआ है। संक्षेप में कह सकते हैं कि भाषा का सहारा लेकर ही मानव पशुत्व से ऊपर उठकर मानवत्व की सीढ़ी पर कदम रखने में समर्थ हुआ है। ऋग्वेद में कहा गया है कि भाषा के कारण मर्त्य में दैवी शक्ति की अवतारणा हुई—"महो देवो मर्त्यां आ विवेश।" आचार्य दंडी का उद्गार है कि भाषारूपी ज्योति से ही सारा संसार प्रकाश ग्रहण करता है—

"इदमन्धं तमः कृत्स्नं
जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योति—
रासंसारान्न दीप्यते॥"

[काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद]

2. भारत के मनंषियों ने भाषा के इस महत्व को पहचाना था। वे भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे। शतपथ ब्राह्मण में इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल के विद्वानों ने भाषा का विश्लेषण करने की आवश्यकता महसूस की। उन्होंने इंद्र से भाषा का व्याकरण बनाने की प्रार्थना की। इस प्रकार संस्कृत का पहला व्याकरण अस्तित्व में आया। शतपथ के वाक्य हैं—

"वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्। इमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्।"

'व्याकरण' का शाब्दिक अर्थ है विश्लेषण। यह शब्द 'कृ' धातु से बना है। 'वि' और 'आ' दो उपसर्ग हैं। करण के अर्थ में 'अन' प्रत्यय जोड़ने से यह शब्द बना है। "व्याक्रियन्ते विवेच्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम्।" इस व्युत्पत्ति से

स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक काल में जिसे 'भाषाविज्ञान' कहते हैं, उसी को प्राचीन भारत के आचार्य 'व्याकरण' कहते थे। व्याकरण भाषाविज्ञान का पर्याय है।

3. भारत में व्याकरण की परंपरा वैदिक काल से ही प्रारंभ होती है। ऋग्वेद में भाषा के चार शब्दभेदों का (Parts of speech) उल्लेख किया गया है:

"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

भाष्यकार पतंजलि ने इस मंत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि 'चत्वारि पदानि' का अर्थ है चार शब्द भेद। ये हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इसी प्रकार एक अन्य मंत्र में उच्चारण स्थान, विभक्ति आदि की चर्चा की गयी है—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश ॥"

पतंजलि ने बताया है कि 'त्रयो अस्य पादाः' में भूत, भविष्यत् और वर्तमान के रूप में काल के तीन भेदों का निरूपण हुआ है। 'सप्त हस्तासो अस्य' में सात विभक्तियों की चर्चा है। 'त्रिधा बद्धः' में ध्वन्यात्मक भाषा के तीन स्थानों का जिक्र है। ऋग्वेद में इस प्रकार कई प्रसंगों में व्याकरण-संबंधी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

4. वेदों में शब्दों की व्युत्पत्ति (Derivation or etymology) तथा निर्वचन के कई उदाहरण मिलते हैं। "सोऽरोदीत् । यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।" "तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण।" ऐसे सैकड़ों उदाहरणों के परिशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वैदिक साहित्य के निर्माता ऋषि प्रकृति, प्रत्यय, लोप आदि विकार तथा शब्द रचना (morphological structure) की प्रक्रिया से खूब परिचित थे। इसे हम व्याकरणशास्त्र का आदिकाल कह सकते हैं।

वेदों के छह अंग माने जाते हैं। ये हैं—शिक्षा, व्याकरण, छंद, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इनमें से पहले चारों भाषाविज्ञान के अंतर्गत आते हैं। शिक्षा का अर्थ है—ध्वनि विज्ञान। ध्वनियों का स्वरूप, उच्चारण के स्थान, प्रयत्न, ह्रस्व, दीर्घ, अल्पप्राण, महाप्राण, आदि के भेद, उदात्त आदि स्वर, उच्चारण के दोष—शिक्षा के ग्रंथों में ऐसे विषयों का विशद् निरूपण किया गया है। शिक्षाग्रंथों की संख्या सत्तर से ऊपर है। इनके अलावा प्रातिशाख्य ग्रंथ हैं, जिनमें शाखा विशेष से संबंधित ध्वनि व्यवस्था का विवेचन किया गया है। वैदिक मंत्रों के सही उच्चारण की रक्षा के लिए इन ग्रंथों की रचना हुई थी। कहने की आवश्यकता नहीं है कि शिक्षा व्याकरण की नींव है। पाणिनीय अष्टाध्यायी पाणिनीय शिक्षा के बिना बेकार है। अतः शिक्षा को हम व्याकरण का पहला अंग कह सकते हैं।

5. निरुक्त व्युत्पत्ति शास्त्र है। शब्द की व्युत्पत्ति बताकर उसके आधार पर अर्थ का निर्णय करना ही निरुक्त है। कठिन या अज्ञातार्थक वैदिक शब्दों के संकलन तैयार किये गये थे। उन्हें 'निघंटु,' कहते थे। ऐसे एक निघंटु पर यास्क ने 'निरुक्त' के नाम से टीका लिखी। हमारे सौभाग्य से यह ग्रंथ उपलब्ध है। निरुक्त के अंतः-साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि यास्क व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् थे। व्याकरण ही तो व्युत्पत्ति का प्रमुख आधार है। यास्क ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि निरुक्त व्याकरण का पूरक है—"व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्।"

यास्क ने शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में दो प्रमुख आचार्यों के मतभेद की चर्चा करते हुए निरुक्त तथा व्याकरण की दो परंपराओं का उल्लेख किया है। आचार्य शाकटायन व्युत्पत्तिवादी थे। निरुक्त संप्रदाय उनके मत का पोषक था। आचार्य गार्ग्य इस मत के विरोधी थे। वैयाकरण संप्रदाय के कई विद्वान गार्ग्य के अनुयायी थे। यास्क ने लिखा है—

"सर्वाणि नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयः च। न स र्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चै के।"

इस उद्धरण से मालूम होता है कि यास्क से पूर्व कई वैयाकरण हो चुके थे और एक 'वैयाकरण संप्रदाय' की भी प्रतिष्ठापना हो चुकी थी। शाकटायन और गार्ग्य दोनों वैयाकरण थे। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने इन दोनों आचार्यों को स्मरण किया है—

"(1) लङः शाकटायनस्यैव।
(2) अड् गार्ग्य गालवयोः।"

इससे प्रमाणित होता है कि व्याकरण के आधार पर उसी की परंपरा में निरुक्त का विकास हुआ। व्याकरण के बिना निरुक्त की कल्पना करना असंभव है।

6. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में दस वैयाकरणों का उल्लेख किया है। आपिशलि, स्फोटायन, शाकल्य, भारद्वाज आदि का नाम ग्रहणपूर्वक स्मरण किया है। अन्यत्र, 'हलि सर्वेषाम्' "आदाचार्याणाम्" आदि सूत्रों में सामान्य रूप से कुछ पूर्वाचार्यों का निर्देश किया है। पाणिनि से पहले भारत में व्याकरण की एक समृद्ध परंपरा का विकास हो चुका था। पाणिनि ने इस पूर्ववर्ती परंपरा से काफी सामग्री उधार ली है। इस सत्य को स्वीकार करने से पाणिनि की महत्ता या मौलिकता जरा भी घट नहीं जाती। उसी परंपरा की चरम परिणति के रूप में 'अष्टाध्यायी' का अवतार हुआ। इस ग्रंथ में लगभग चार हजार सूत्र हैं। आज से ढाई हजार वर्ष पहले इस ग्रंथ की रचना की गयी। किंतु आज तक अष्टाध्यायी के समान वैज्ञानिक व्याकरण संसार की किसी भाषा में नहीं बन सका। अष्टाध्यायी संसार का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण है।

पाणिनि के बाद भी व्याकरण की परंपरा समाप्त नहीं हुई। शर्ववर्मा, हेमचंद्र, भोजराज आदि आचार्यों ने नवीन प्रयोग किये। किंतु पाणिनि के समान सफलता प्राप्त नहीं कर सके। पाणिनीय परंपरा में भी निरंतर विकास का क्रम चलता रहा। कात्यायन आदि वार्तिककारों ने पाणिनीय सूत्रों की विस्तृत, प्रौढ़ और निष्पक्ष समीक्षा प्रस्तुत की। वार्तिक का अर्थ ही है समीक्षा। उक्तानुक्त दुरुक्त चिन्तनं वार्तिकम्। कात्यायन ने पाणिनि के कई सूत्रों की अच्छी व्याख्या की है। शंका-समाधान की, शैली में आचार्य के अभिप्राय का विवरण दिया है। कहीं-कहीं कोई बात छूट गयी हो तो उसको जोड़कर कमी को दूर किया है; जैसे—"यणः प्रतिषेधो वाच्यः।" कहीं-कहीं पाणिनि की गलतियों का संशोधन भी किया है; जैसे—"कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः।" इस समीक्षा में व्यक्तिगत द्वेष की कोई क्षुद्रता नहीं है। कात्यायन पाणिनि के लिए अत्यंत आदरसूचक "भगवान्" शब्द का प्रयोग करते हैं—

"भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्॥"

इन वार्तिकों पर पतंजलि का महाभाष्य लिखा गया है। भाष्यकार का वचन ही अंतिम प्रमाण है। अतः पतंजलि को संस्कृत व्याकरण का 'सुप्रीम कोर्ट' कह सकते हैं। भर्तृहरि, कैयट आदि ने महाभाष्य पर टीकाएं लिखी हैं। कैयट के भाष्यप्रदीप पर नागेश भट्ट ने "भाष्यप्रदीपोद्द्योत" नामक टीका लिखी है। जयादित्य, वामन, जिनेंद्र बुद्धि, हरदत्त, भट्टोजि दीक्षित, नागेश भट्ट आदि विख्यात ग्रंथकारों ने व्याकरणशास्त्र को उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। संस्कृत व्याकरण के ग्रंथरत्नों की संख्या एक हजार से भी अधिक है। भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय' व्याकरण दर्शन का मेरुग्रंथ है। हम गर्व से कह सकते हैं कि हमारी यह परंपरा गरिमामय है।

7. कुछ आलोचकों का कहना है कि परंपरागत व्याकरण भाषा के स्वाभविक विकास में अवरोध उत्पन्न करता है। वह भाषा के पैरों में नियमों की बेड़ियां जकड़ कर उसे गतिहीन बना देता है। पाणिनि पर यह आक्षेप अक्सर किया जाता है कि उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप संस्कृत भाषा मृतप्राय हो गयी। वह लोक-व्यवहार की भाषा नहीं रही, किंतु एक विशिष्ट वर्ग की ग्रांथिक भाषा बनकर रह गयी। व्याकरण विधि निषेधात्मक (prescriptive) होता है। भाषाविज्ञान तो वर्णनात्मक होता है। ऐसी आलोचना करने वाले विद्वान् व्याकरण के एक मूल तथ्य को भूल जाते हैं। व्याकरण का आधार क्या है? पाणिनि की अष्टाध्यायी को हम क्यों मान्यता देते हैं? हिंदी में गुरु का व्याकरण क्यों स्वीकृत है? पाणिनि या गुरु को व्याकरण लिखने का आदेश किसने दिया? वैयाकरण भाषा का निर्माण नहीं करता। वह अपनी इच्छा से कोई नियम बनाकर भाषा पर नहीं थोपता। वह तो भाषा के स्वरूप का—भाषा में उपलब्ध विविध प्रयोगों का—अध्ययन करता है। भाषा एक सुगठित व्यवस्था होती है। वैयाकरण उस व्यवस्था के रहस्य का उद्घाटन करता है। भाषा में अंतर्निहित नियमों का पता लगाता है। वह स्वयं नियम नहीं बनाता; जो नियम भाषा की व्यवस्था में काम कर रहे हैं, उनकी व्याख्या भर करता है। पाणिनि और पतंजलि ने वही काम किया जो आज चाम्स्की या हैलीडे कर रहे हैं। प्रत्येक व्याकरण वर्णनात्मक ही होता है। साथ ही, यह भी एक अकाट्य सत्य है कि वर्णनात्मक व्याकरण से विधि-निषेधात्मक परिणाम निकलते हैं। हिंदी में 'ता' का प्रयोग पुंलिंग एकवचन में होता है। यह वर्णनात्मक है या थोपा हुआ नियम है?

पतंजलि, कैयट आदि ने बार-बार कहा है—"प्रयोगशरणा वयाकरणाः।" प्रयोग—भाषा-व्यवहार ही व्याकरण का एकमात्र आधार है। प्रयोग क्या है? वैयाकरण को समाज में घुसकर विविध स्तरों पर होने वाले विभिन्न प्रयोगों का आकलन करना चाहिए। यह है सामग्री-संकलन का कार्य। फिर प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करके उसी के आधार पर नियम प्रस्तुत करना चाहिए। अतएव पतंजलि ने घोषणा की है—"लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्।" 'लक्ष्य' है प्रयोग। उसके आधार पर बनने वाले नियम ही 'लक्षण' हैं। दोनों का समन्वित रूप व्याकरण कहलाता है। इसी कारण से व्याकरण को पतंजलि ने 'शब्दानुशासन' की संज्ञा दी। यह शासन नहीं, किंतु अनुशासन है। प्रयोगानुसारी शासन होने के कारण इसे 'अनुशासन' कहना ही उचित है। वार्तिककार ने इसी अर्थ में 'अन्वाख्यान' शब्द का प्रयोग किया है। प्रयोग को प्रमाण मानने के कारण ही पतंजलि ने पाणिनि के "न बहुव्रीहौ" "दीधीवेवीटाम्" आदि सूत्रों का प्रत्याख्यान—निराकरण—किया है।

8. पस्पशाह्निक में पतंजलि ने एक दृष्टांत देकर भाषा और व्याकरण के परस्पर संबंध को समझाया है। पतंजलि कहते हैं कि शब्द और अर्थशास्त्र के द्वारा निष्पादित नहीं किये जाते। वे तो स्वतः सिद्ध होते हैं, प्रयोग से ही उनकी सिद्धि होती है। घड़ा आदि पदार्थ तैयार किये जाते हैं। किसी को घड़े चाहिए तो कुम्हार के घर जाकर अपनी आवश्यकतानुसार घड़े बनाने का आदेश दे सकता है। इसी प्रकार किसी को सभा में भाषण देने के लिए या ग्रंथ रचना के लिए शब्दों की आवश्यकता पड़े तो क्या किसी वैयाकरण के घर जाकर आदेश देगा कि मुझे इतने शब्द चाहिए, कृपया शब्द बनाकर दीजिए? शब्द तो पहले से सिद्ध हैं। अतः लोग इच्छानुसार शब्दों का प्रयोग करते हैं—

"घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकार—कुलं गत्वा आह—'कुरु घट, मनेन कार्यं करिष्यामी' ति। न ह्येवं शब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरण कुलं गत्वा आह—'कुरु शब्दान्, प्रयोक्ष्ये" इति।"

[व्याकरणमहाभाष्य, पस्पशाह्निक]

इसका तात्पर्य है कि लोक-व्यवहार या प्रयोग से ही शब्द सिद्ध हैं। व्याकरण से शब्दों की निष्पत्ति नहीं होती। यह शास्त्र भाषा के स्वरूप को जानने का एक साधन है, प्रमाण है। पतंजलि अपने ढंग से इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं कि भाषा पहले बनती है और उसके बाद व्याकरण की रचना होती है।

9. वार्तिककार ने इसी बात पर एक शंका उठायी है कि यदि शब्दशास्त्र से पूर्व ही सिद्ध हैं और विवक्षित अर्थ के अनुसार उनका प्रयोग भी शास्त्र-निरपेक्ष रूप से लोक-संयति के द्वारा ही स्वीकृत है, तो फिर इस व्याकरणशास्त्र की उपयोगिता और आवश्यकता क्या है ? यही पहला वार्तिक है—

"सिद्धे शब्दार्थ संबन्धे लोकतोर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ॥"

यहां पूर्वपक्षी शास्त्रारंभ पर ही आक्षेप कर रहा है। वैदिक शब्द तो वेदों के अध्ययन से प्राप्त होते हैं। लौकिक शब्द लोकव्यवहार से सिद्ध होते हैं, तो फिर शास्त्र का अध्ययन करने का यह क्लेश किसलिए ? "सिद्धा नो वैदिकाः शब्दा वेदात्, लोकाच्च लौकिकाः। किमर्थमध्येयं व्याकरणम् ?" इस आक्षेप का उत्तर दिया गया है कि शब्दों का प्रयोग तो शास्त्र के बिना भी संभव है, किंतु साधुत्व का ज्ञान शास्त्र के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है; साधुत्व के ज्ञान के बिना शब्द-प्रयोग करने से भले ही अर्थबोध हो जाए; लेकिन उससे धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः धर्म-सिद्धि के लिए व्याकरण की रचना आवश्यक है। पतंजलि कहते हैं—"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु, प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति।" एक भी शब्द को सही रूप में जानकर उचित ढंग से उसका प्रयोग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह एक प्ररोचनात्मक अर्थवाद है।

इस बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में व्याकरण के संदर्भ में स्वर्ग की चर्चा करना शायद हास्यास्पद होगा। किंतु इस अर्थवाद के मूल में जो विचार है वह तो आज भी उसी रूप में मान्य है। भाषा के कई रूप होते हैं। उसका एक रूप शिष्ट-संमत और सभ्य समाज में मान्य होता है। इसे कोई मानक भाषा कहता है तो कोई परिनिष्ठित रूप कहता है। इस रूप का प्रयोग करने से सभ्य समाज में आदर और प्रतिष्ठा का स्थान मिलता है। इस रूप का अज्ञान सामाजिक अप्रतिष्ठा का कारण बनता है। अतः शास्त्रकार शिष्टपरिगृहीत भाषा का अन्वाख्यान करता है—"सुहृद् भूत्वा आचार्यः अनुशास्ति, एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।" स्वर्ग तो परोक्ष की बात है। परंतु समाज में आदर और प्रतिष्ठा की प्राप्ति प्रत्यक्ष है।

इस संदर्भ में एक और बात उल्लेखनीय है। भाष्यकार कहते हैं कि शब्दों के समान अपशब्दों से भी अर्थ का बोध होता है—"समानायामर्थावगतौ शब्दैः च, अपशब्दैः चः।" व्याकरण संमत तथा शिष्टपरिगृहीत साधु शब्दों को यहां 'शब्द' कहा है। व्याकरण विरुद्ध शब्दों को 'अपशब्द' कहा है। दोनों प्रकार के शब्दों से समान रूप से अर्थ बोध होता है। विद्वन्मंडली के द्वारा प्रयुक्त परिनिष्ठित भाषा के समान ही ग्रामीण लोगों की अपरिमार्जित या असंस्कृत भाषा में भी बोधकत्व की क्षमता है। अपशब्दों का प्रयोग कोई गर्हित अपराध नहीं है। भाष्यकार लिखते हैं कि कुछ ऐसे महर्षि थे जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार कर लिया था। वे महान् ज्ञानी थे। फिर भी साधारण व्यवहार में अपशब्दों का प्रयोग सहज रूप में किया करते थे। 'यद्वा नः, तद्वा नः' कहने के स्थान पर 'यर्वाणस्तर्वाणः' कहा करते थे। ऐसे अशुद्ध उच्चारण के कारण उनका यही नामकरण किया गया। 'यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः, विदितवेदितव्याः, अधिगतयाथातथ्याः।' किंतु यज्ञकर्म में वे सर्वथा शुद्ध उच्चारण ही करते थे—"याज्ञे कर्मणि पुनः नापभाषन्ते।" पतंजलि का तात्पर्य है कि व्याकरण तो केवल शिष्टसंमत भाषारूप की व्याख्या करता है। कुछ प्रसंगों में ऐसी ही भाषा का प्रयोग करना वांछनीय है। अन्यत्र अपशब्दों का प्रयोग करने पर भी कोई आपत्ति नहीं है। पतंजलि के इसी उदार दृष्टिकोण को दंडी ने भी काव्यादार्श में अपनाया है—

"इह शिष्टानुशिष्टानां
शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन
लोकयात्रा प्रवर्तते।"

10. व्याकरण के प्रयोजन क्या हैं ? पतंजलि ने सूत्र रूप में पांच प्रयोजनों की चर्चा की है—"रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्।" रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह—व्याकरण के ये पांच प्रयोजन होते हैं। इनमें ऊह और लघु दोनों सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

'लघु' का अर्थ है लाघव अर्थात् संक्षिप्तता। अंग्रेजी में इसे economy कह सकते हैं। व्याकरण में लाघव का अर्थ क्या है ? पतंजलि लाघव का तात्पर्य स्पष्ट करने के लिए एक पौराणिक कथा का सहारा लेते हैं। एक बार इंद्र को संस्कृत भाषा के समस्त शब्दों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने देवगुरु बृहस्पति से प्रार्थना की। बृहस्पति ने 'शब्दपारायण' नामक शास्त्र का प्रवचन किया। एक हजार वर्षों तक इंद्र ने इस शास्त्र का अध्ययन किया। किंतु अध्ययन पूर्ण नहीं हो सका। आज के युग में इतने लंबे पाठ्यक्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इंद्र की विफलता का कारण क्या था ? एक अध्येता या विद्यार्थी के रूप में इंद्र ने घोर परि-श्रम किया। उसका कोई दोष नहीं था। उसके गुरु बृहस्पति को भी दोष नहीं दिया जा सकता। वे तो आदर्श गुरु थे। विफलता का कारण अध्ययन पद्धति का दोष ही था। शब्दों की संख्या अनंत है। लाखों वर्षों तक निरंतर अध्ययन करने पर भी अनंत

शब्दों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। भाष्यकार लिखते हैं—

"बृहस्पतिरिन्द्राय शब्दपारायणं नाम शास्त्रं प्रोवाच। इन्द्रः च अध्येता, बृहस्पतिः च प्रवक्ता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनस्य कालः, न चान्तं जगाम।"

इस आख्यान का तात्पर्य है कि प्रत्येक भाषा की शब्द संपत्ति असंख्य, अनंत और असीमित है। अतः किसी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए 'शब्दपारायण' की पद्धति को अपनाना उचित नहीं है। "अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपद पाठः।"

भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों की संख्या तो सीमित ही है। किसी भाषा में स्वनिमों (Phonemes) की संख्या साठ-सत्तर से अधिक नहीं होगी। किंतु इन ध्वनियों के विविध संयोजनों से बनने वाले शब्द असंख्य होते हैं। इन शब्दों के संयोजन से अनंत वाक्यों की निष्पत्ति की जाती है। व्याकरण ऐसा होना चाहिए कि उसके आधार पर इन समस्त वाक्यों की रचना सिद्ध हो सके। व्याकरण के इस आदर्श को प्राप्त—उपलब्ध—करने का उपाय क्या है? यदि कोई वैयाकरण भाषा के यथार्थस्वरूप का मर्म समझाने के लिए एक लाख नियम बनाकर देगा, तो उसके इस 'वृहद् व्याकरण' से किसको क्या लाभ होगा? एक लाख नियमों को समझना और स्मरण रखना तो अत्यन्त कठिन है। अतः हमें ऐसा व्याकरण चाहिए जो आकार की दृष्टि से लघु हो और भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने में सहायक हो—"लघीयसा यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।" कम-से-कम नियमों से भाषा के समग्र स्वरूप का ज्ञान कराना व्याकरण का लक्ष्य है। लाघव का यही अर्थ है। चाम्स्की आदि आधुनिक काल के भाषाविद् इसी विचार के पोषक हैं।

'ऊह' का सही अर्थ है नये शब्दों या वाक्यों को कल्पना करना। इसे रूपांतरण (transformation) या निष्पादन (generative process) की शास्त्रीय प्रक्रिया कह सकते हैं। सादृश्य (Analogy) के आधार पर नये रूपों की कल्पना करना भाषा-अधिगम को प्रक्रिया का एक मुख्य अंग है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में ऊह का विस्तार से निरूपण किया है। भाष्यकार ने इस प्रयोजन के बारे में संकेत मात्र ही दिया है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि ऊह की प्रक्रिया से भाषा में नव-निर्माण की क्षमता प्राप्त होती है। जिस व्याकरण से ये दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं। वही पतंजलि की दृष्टि में आदर्श व्याकरण है। पाणिनि का व्याकरण इस दृष्टि से अत्यंत सफल हुआ है। उसकी वैज्ञानिकता असंदिग्ध है। पाश्चात्य भाषाविद् भी मुक्तकंठ से पाणिनि की प्रशंसा करते हैं। खेद की बात है कि आज भी अधिकांश भारतीय भाषाविद् पाणिनि की प्रशंसा तो कर देते हैं, किंतु उनके विश्वविख्यात व्याकरण का अध्ययन करने का कष्ट नहीं उठाना चाहते।

11. व्याकरण की रचना-प्रक्रिया का आधार क्या है? पतंजलि कहते हैं कि कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष 'नियम' बनाकर व्याकरण का निर्माण करना चाहिए। सामान्य नियम को 'उत्सर्ग' और विशेष नियम को 'अपवाद' कहते हैं। उत्सर्ग का

उदाहरण है—"कर्मण्यण्"। कर्मवाचक उपपद हो तो धातु के बाद 'अण्' प्रत्यय कर्ता के अर्थ में लगता है। कुम्भं करोति कुम्भकारः। अपवाद का उदाहरण है—"आतोऽनुपसर्गे कः।" उपसर्ग रहित आकारांत धातु के बाद इसी परिस्थिति में 'क' प्रत्यय लगता है। जलं ददाति जलदः।

इन उदाहरणों के विवेचन से और एक रोचक तथ्य प्रकाश में आता है। 'अण्' प्रत्यय में णकार इत् या अनुबंध है। इससे संकेत मिलता है कि धातु के अंतिम स्वर की वृद्धि होती है। 'कृ' धातु के अंत में ऋकार है। वृद्धि से 'आर' बनता है। कृ+अ=कार। 'कुम्भम्' उपपद द्वितीयांत है। कृदंत 'कार' शब्द के साथ उसका समास होता है। "गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सहसमासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः।" समास को प्रातिपदिक कहते हैं—'कृत्तद्धितसमासाः च।' प्रातिपदिक के अंतर्गत सुप् प्रत्यय का लोप होता है। तब शब्द का रूप बनता है—'कुम्भकार'। इसी प्रकार 'क' प्रत्यय में ककार इत् है। इससे संकेत मिलता है कि धातु के अंतिम आकार का लोप होता है। दा+अ=द। "जलम्+द" का समास करने पर रूप बनता है—"जलद"। 'कृ' धातु का रूप पाणिनीय धातु पाठ में "डु कृञ्" है। 'दा' धातु का रूप है "डु दाञ्" है। दोनों में "डु" और 'ञ्' अनुबंध हैं। "आदिर्ञिटुडवः।" "हलन्त्यम्।" अनुबंधों का लोप होता है—"तस्य लोपः।" यह सारी व्यवस्था शास्त्रकार की कल्पना का फल है। ऐसे असत्य के आधार पर व्याकरण शास्त्र टिका हुआ है।

भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि यह असत्य ही व्याकरण की मूल भित्ति है—

"पदे न वर्णा विद्यन्ते
वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं
प्रविवेको न कश्चन॥"

"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा
ततः सत्यं समीहते॥"

पतंजलि ने भी स्वीकार किया है कि प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आदेश आदि सब कोरी कल्पना है। वास्तव में शब्द अविकारी रहता है। उसमें विकार की कल्पना की जाती है—

"सर्वे सर्वपदादेशाः
दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।"

तो स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठता है कि शास्त्र में इस प्रकार की असत्य कल्पना को क्यों स्थान दिया जाता है? इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि सत्य तक पहुंचने के लिए इस असत्य का सहारा लेना अनिवार्य है। गाय का स्वरूप

समझाने के लिए उसका चित्र बनाया जाता है। यह चित्र गाय नहीं है; फिर भी चित्र को दिखाकर बताया जाता है यह गाय है। तत्व की दृष्टि से चित्र असत्य है; किंतु इस असत्य के माध्यम से सत्य का—असली गाय का ज्ञान कराया जाता है। इसी प्रकार, "कुम्भकार" सत्य है। "कुम्भ अम् कृ अण्" तो शास्त्रकार की असत्य कल्पना है। इस असत्य का लक्ष्य है उक्त सत्य का सही ज्ञान। सत्य को जानने के लिए एक लघु उपाय के रूप में इस प्रकार के असत्य को ग्रहण करना उचित ही है।

12. पद रचना की प्रक्रिया (morphology) में ध्वनि परिवर्तन या ध्वन्यात्मक रूप निष्पत्ति (phonetic realization) के नियमों का विशेष महत्व है। ये परिवर्तन अथवा विकार मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं। कुछ विकार तो पूर्णतया वर्णाश्रित होते हैं (phonologically conditioned)। ऐसे विकारों को 'संधि' कहते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में भी यह शब्द स्वीकृत हुआ है। कुछ अन्य विकार केवल वर्ण पर आधारित नहीं होते। वे किसी रूप विशेष (प्रकृति या प्रत्यय) पर आधारित होते हैं। विकार तो वर्ण में ही होते हैं, किंतु उनके कारण वर्ण नहीं, अपितु रूप होते हैं (morphologically conditioned)। ऐसे विकारों को पाणिनि ने 'अंगकार्य' कहा है। आधुनिक भाषाविज्ञान में इन्हें रूपस्वनिमीय विकार (morphophonemic changes) कहते हैं। अष्टाध्यायी में षष्ठ अध्याय के चतुर्थ पाद का पहला सूत्र है— "अंगस्य"। यह अधिकार सूत्र है। सप्तम अध्याय के अंत तक इसकी व्याप्ति है। इस प्रकार पांच पादों में पाणिनि ने रूप स्वनिमीय विकारों की व्याख्या की है। इसके अलावा प्रथम अध्याय आदि में भी कहीं-कहीं रूपस्वनिमीय विकारों से संबंधित सामग्री बिखरी हुई मिलती है। अष्टाध्यायी में इस प्रकार 'अंगकार्य' से संबंधित सूत्रों की संख्या लगभग छह सौ से अधिक होगी। संधि के नियम भी षष्ठ तथा अष्टम अध्याय में विस्तार से बताए गए हैं।

इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए दो उदाहरण देना उचित होगा। पहला उदाहरण 'णत्व' का है। संस्कृत के शब्दों में कहीं-कहीं दंत्य नकार के स्थान में मूर्धन्य णकार का आदेश होता है। इसी को 'णत्व' कहते हैं। जीर्ण, शीर्ण, कृष्ण, तृष्णा आदि शब्दों में णत्व पाया जाता है। 'रषाभ्यां नो णः समानपदे।" किसी पद में रेफ या षकार के बाद नकार हो तो उसका णत्व होगा। किंतु यदि ये वर्ण भिन्न पदस्थ हों तो णत्व नहीं होगा। 'रामनाम' में रेफ और नकार भिन्न पदस्थ हैं। अतः वहां णत्व नहीं होता। 'रामेण' में रेफ और नकार के बीच तीन ध्वनियों का व्यवधान है। बीच में आकार, मकार और एकार हैं। फिर भी णत्व होता है। स्वर, ह, य, व, र, ल, कवर्ग तथा पवर्ग का व्यवधान होने पर भी णत्व होता है। रामेण, रमणी, दूषण, भूषण, अर्केण, अर्पण, भ्रमण, मार्गेण आदि पदों में णत्व हुआ है। अन्य वर्णों से व्यवधान होने पर णत्व नहीं होता। अर्चना, भर्त्सना, विसर्जन, प्रार्थना आदि शब्दों में णत्व नहीं हुआ है। पदांत नकार का णत्व नहीं होता। रामान् दोषान् आदि में नकार अविकृत रहता है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं में भिन्न पदस्थ नकार का भी णत्व होता है। रामायण, शूर्पणखा आदि उदाहरण हैं। प्रणिपात, प्रणाम आदि में भी णत्व हुआ है। संस्कृत में जहां-जहां णत्व होता है उन सब उदाहरणों को एकत्रित करके पाणिनि ने णत्व की व्यवस्था समझाने के लिए छत्तीस सूत्र बनाए। उनमें से कुछ सूत्र निम्नांकित हैं—

(1) अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि।
(2) पदान्तस्य।
(3) पूर्वपदात्संज्ञायामगः।
(4) उपसर्गादसमासेपिणोपदेशस्य।
(5) हिनुमीना।
(6) आनि लोट्।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि एक 'णत्व' की व्याख्या के लिए पाणिनि को कितना शोधकार्य करना पड़ा होगा। कितने उदाहरणों का विश्लेषण करके व्यापक अनुसंधान के बाद कुछ नियमों की उद्भावना की होगी। वास्तव में अष्टाध्यायी के प्रत्येक सूत्र पर एक डाक्टरेट की उपाधि दी जा सकती है। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है।

दूसरा उदाहरण है—'दर्शन'। यह शब्द 'दृश्' धातु से बना है। इसी धातु से निष्पन्न कुछ अन्य शब्द हैं—दृश्य, दृष्टि, द्रष्टा आदि। इन शब्दों में स्वाभाविक रूप साम्य के साथ थोड़ा-सा अंतर भी है। कुछ प्रत्ययों के योग में धातु के उपांत्य स्वर का गुण होता है—"पुगन्तलघूपधस्य च।" उदाहरण हैं—संमेलन, बोध, पोषक, स्पर्श, विसर्जन आदि। इसी गुण के कारण 'दृश्' के ऋकार के स्थान में 'अर्' आया। 'दर्शन' की निष्पत्ति इस प्रकार हुई। कुछ प्रत्ययों के योग में गुण नहीं होता। "क्ङिति च"। ऐसे प्रत्ययों में ककार या ङकार का अनुबंध गुण निषेध का संकेत देता है। इसी कारण से 'दृश्य' में ऋकार पाया जाता है, 'अर्' नहीं। 'दर्शन' और 'दृश्य' दोनों शब्दों में तालव्य शकार प्रयुक्त है। किंतु 'दृष्टि' में तालव्य शकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार का आदेश हुआ है। "व्रश्च भ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः।" इस शब्द में भावार्थक 'ति' प्रत्यय लगा है। 'स्त्रियां क्तिन्'। वह 'कित्' है यानी उसमें ककार का अनुबंध लगा है। अतः गुण नहीं होता। 'द्रष्टा' में 'तृच्' प्रत्यय लगा है। वह कित् नहीं है और झलादि है। अतः वहां ऋकार के बाद अकार का आगम होता है—"सृजिदृशोर्झल्यमकिति।" शकार का षत्व भी होता है। इस ढंग से पाणिनि ने इन शब्दों में पाए जाने वाले रूपस्वनिमीय विकारों का अन्वाख्यान किया है।

'कृ' धातु के रूप कई शब्दों में कई प्रकार के मिलते हैं। करोति, कुर्मः, कुरुष्व, कार्यम्, चकार, अकार्षीत्, कर्म, कृत्य, विकार आदि शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं। वैयाकरण के सामने यही समस्या है कि इन सब रूपों को सिद्ध करने का लघुतम उपाय क्या हो सकता है? इस कारण उसे लोप आदि विकारों की व्यवस्था बनानी पड़ती है। शब्द के किस अंश को उसका मूल रूप (basic form) मानें? किस रूप को 'मूल' मानने से अन्य सभी रूपों की व्याख्या करने में सुविधा होगी? इस प्रकार विचार-विमर्श करने के बाद वैयाकरण किसी मूल अंश की कल्पना करता है। इस प्रकार धातु रूपों का निर्णय करके पाणिनि ने 'धातु पाठ' की रचना की।

हिंदी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के कई तरह के व्याकरण निर्मित हुए हैं। लेकिन किसी में भाषा के अंतरंग की परीक्षा करने की सूक्ष्म पद्धति का अवलंबन नहीं किया गया। अंग्रेजी में कई तरह के रूपस्वनिमीय विकार प्राप्त होते हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

Eat	ate	eaten
Speak	spoke	spoken
Drink	drank	drunk
Choose	chose	chosen
Clear	clarity	
Good	better	best

क्या किसी व्याकरण में इन विकारों की वैज्ञानिक व्याख्या की गयी है? केवल इन विभिन्न रूपों को रटाकर छात्रों को अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती है।

हिंदी के उदाहरण भी काफी रोचक हैं। आकारांत पुंलिंग संज्ञाओं में बहुवचन का प्रत्यय 'ओं' जोड़ने पर आकार का लोप हो जाता है। बेटा+ओं+से=बेटों से। संस्कृत के नकारांत या अकारांत शब्दों को हिंदी प्रथमा एकवचन में—आकारांत रूप में—ग्रहण करती है। इन शब्दों में आकार का लोप नहीं होता। 'नेताओं के मतभेद', 'चित्र-निर्माताओं की शिकायत' आदि में आकार विद्यमान है। हिंदी के किसी व्याकरण में ऐसी बातों पर प्रकाश नहीं डाला गया। 'स्वामिन्' संस्कृत का एक नकारांत प्रातिपदिक है। हिंदी में इसका प्रथमा एकवचन का रूप गृहीत है—'स्वामी'। यहां अंतिम स्वर दीर्घ ईकार है। किंतु 'स्वामिभक्ति' 'स्वामिभक्त' आदि शब्दों में इकार ह्रस्व है। हिंदी के व्याकरणों में कहीं इस बात का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। मेरे इस कथन पर कई लोग प्रश्न करेंगे कि क्या संस्कृत का समूचा व्याकरण हिंदी में उतारना वांछनीय है या संभव है? मेरा नम्र निवेदन है कि संस्कृत व्याकरण को पूर्णरूप से हिंदी में उतारने की सलाह मैं नहीं दे रहा हूं। हां, मैं जरूर कहना चाहता हूं कि हिंदी को सही ढंग से समझने के लिए संस्कृत व्याकरण का जितना अंश अपेक्षित है उतना हिंदी के वैयाकरणों को ग्रहण करना ही चाहिए।

अन्यथा हम हिंदी का अच्छा ज्ञान कभी नहीं प्राप्त कर सकेंगे। मेरी दृढ़ मान्यता है कि ज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार की किफायत से लाभ नहीं होगा। संस्कृत ज्ञान के बिना हिंदी के विद्वान् कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार अरबी-फ़ारसी का ज्ञान भी हिंदी की अच्छी जानकारी के लिए अपेक्षित है। इसके बिना पूर्ण विद्वता की आशा करना व्यर्थ ही है।

संस्कृत से आगत शब्दों की बात छोड़ दें, तो भी हिंदी के शब्दों में होने वाले विकारों की व्याख्या करना तो अनिवार्य ही ठहरता है। घुड़सवार, हथियाना, इक्कीस आदि शब्दों में जो विकार हुए हैं, उनका शास्त्रीय निरूपण हिंदी में किसी ने नहीं किया है। वैयाकरण की दृष्टि से यह तो कर्तव्यलोप ही है। पाणिनि ने ऐसे विकारों की ओर भी ध्यान दिया है। 'महत्' शब्द एक उदाहरण है। यह तकारांत प्रातिपदिक है। किंतु कर्मधारय या बहुव्रीहि में जब विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है, तब इसका तकार हट जाता है और शब्द का रूप आकारांत बनता है। महत्+आत्मा =महात्मा। महत्+राजा=महाराजः। ऐसे विकारों को 'समासाश्रय विधि' कहते हैं। षष्ठ अध्याय के तृतीय पाद में ऐसे समासाश्रय विकारों का निरूपण किया गया है। पाणिनी की दृष्टि सर्वग्राही रही है। भाषा विश्लेषण की प्रक्रिया में कोई अंश उनकी दृष्टि से बचा नहीं रह सका। आधुनिक भाषाओं के वैयाकरणों को ऐसी समग्र दृष्टि की साधना करनी चाहिए।

13. व्याकरण को शब्दशास्त्र कहा जाता है। इसलिए कई विद्वान् इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि इस शास्त्र में सिर्फ रूपरचना की (morphology) व्यवस्था बतायी गयी है। वाक्यविन्यास (syntax) की चर्चा इसमें नहीं हुई है। किंतु यह निरा भ्रम ही है। पाणिनि ने शब्दों को वाक्य के संदर्भ से हटाकर स्वतंत्र इकाई के रूप में नहीं देखा। उनकी दृष्टि में शब्द वाक्य के घटक के रूप में ही लिए जा सकते हैं। विभक्ति-प्रत्ययों तथा लकारों का विधान इसी दृष्टि से किया गया है। सामान्य रूप से लोग यही समझते हैं कि द्वितीया विभक्ति कर्म के अर्थ में विहित है—"कर्मणि द्वितीया।" किंतु यह अधूरी बात है। "ओदनः भुज्यते।" (भात खाया जाता है।) इस वाक्य में 'ओदनः' प्रथमा विभक्ति में है। किंतु यहां ओदन ही तो कर्म है। तब 'ओदन' शब्द में द्वितीया क्यों नहीं लगी? प्रथमा का प्रयोग कैसे हुआ? 'ओदनः' में प्रथमा का प्रत्यय देखकर कुछ लोग शायद कह सकते हैं कि प्रकृत संदर्भ में 'ओदन' ही कर्ता है। अतः कर्ता के अर्थ में प्रथमा का प्रयोग ठीक ही हुआ है। लेकिन पाणिनि ने कहीं नहीं कहा कि कर्ता के अर्थ में प्रथमा का प्रयोग करना चाहिए। उनका सूत्र है—"कर्तृ करणयोस्तृतीया।" कर्ता और करण के अर्थ में तृतीया का प्रयोग होता है। उदाहरण है—"रामेण बाणेन हतो बाली।" यहां "रामेण' और 'बाणेन' ये दोनों शब्द तृतीया में हैं। राम कर्ता है और बाण करण है। जहां कोई कारक विवक्षित नहीं हो और केवल प्रातिपदिकार्थ की विवक्षा हो, वहां प्रथमा का विधान किया जाता है—

"प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचनमात्रेप्रथमा।" तो फिर 'ओदनः' में प्रथमा का औचित्य क्या है ? इस प्रश्न पर जरा गंभीरता से विचार करना चाहिए।

"ओदनः पच्यते।" इसे वाक्य में ओदन कर्म ही है, कर्ता नहीं। कर्ता होता, तो तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता। कर्म है; फिर भी द्वितीया नहीं है। इसका कारण है कि इस वाक्य में 'पच्यते' में 'ते' प्रत्यय कर्म का बोधक है। 'ते' एक तिङ् प्रत्यय है, जो 'लट्' (वर्तमान काल) के आदेश के रूप में आया है। 'लट्' आदि लकारों के तीन अर्थ होते हैं—कर्ता, कर्म और भाव। "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः।" सकर्मक क्रियाओं में लकार के दो अर्थ हो सकते हैं—कर्ता और कर्म। अकर्मक क्रियाओं में भी लकार के दो अर्थ हैं—'कर्ता और भाव' 'पच्यते' में 'ते' प्रत्यय का प्रयोग कर्म के अर्थ में हुआ है; यह 'कर्मणि प्रयोग' है। लकार से उक्त होने के कारण इस कर्म के अर्थ में द्वितीया नहीं हो सकती। उक्तार्थानामप्रयोगः। विभक्ति प्रकरण में पहला सूत्र है—"अनभिहिते।" यह अधिकार सूत्र है। कर्मादि अर्थ जहां तिङ्, कृत्, तद्धित या समास से उक्त नहीं होता वहां द्वितीया आदि विभक्तियों का प्रयोग होता है। इसी कारण से 'रामः पचति' में कर्ता के बाद प्रथमा विभक्ति आयी है। क्योंकि, इस वाक्य में 'ति' प्रत्यय कर्ता का वाचक है। यह 'कर्तरि प्रयोग' है। 'रामेण स्थीयते' (राम खड़ा होता है।) में 'ते' प्रत्यय का अर्थ भाव है। कर्ता अनुक्त है। अतः कर्ता के बाद तृतीया का प्रयोग हुआ। यह 'भावे प्रयोग' कहलाता है। इन तीन वाक्यों में पाणिनि यदि सिर्फ रूप रचना तक सीमित होते, तो विभक्तियों की व्यवस्था किस आधार पर बताते ? स्पष्ट है कि यहां प्रत्येक शब्द पर इसी रूप में विचार किया गया है कि वह वाक्य का एक घटक है और अन्य घटकों के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है।

लकारार्थ का निरूपण भी हमारी पूर्वोक्त मान्यता की पुष्टि करता है। "विधि-नियंत्रणामंत्रणाधीष्ट संप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्।" "माङि-लुङ्।" "न माङ्योगे।" "कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि।" आदि सूत्रों में पद-रचना के स्तर से ऊपर उठकर पदबंध तथा वाक्य के स्तर पर विचार किया गया है।

14 अष्टाध्यायी में 'वाक्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'वच्' धातु से यह शब्द बना है। किंतु शब्द संज्ञा यानी व्याकरणिक तकनीकी शब्द हो, तो धातु के चकार के स्थान पर ककार होता है। अन्यत्र चकार ही रहता है—"वचोऽशब्द संज्ञायाम्।" वक्तुमर्हं वाच्यम्। किंतु शब्द संज्ञा के अर्थ में कुत्व होता है—"वाक्यम्।" इससे स्पष्ट है कि पाणिनि 'वाक्य' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में कर रहे हैं। किंतु उन्होंने 'वाक्य' की कोई परिभाषा नहीं दी। "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः।" ऐसे सूत्रों की व्याख्या के लिए वाक्य की परिभाषा देना अनिवार्य है। वार्त्तिककार ने ऐसी परिभाषा प्रस्तुत की है—(1) "एकलिङ् वाक्यम्।" (2) "आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्।" आख्यात का अर्थ है क्रियापद। कारक क्रिया के विशेषण होते हैं। अतः

इस परिभाषा का यही सार निकलता है कि कारकों से युक्त क्रिया को वाक्य कहते हैं। क्रियापद तिङन्त हो सकते हैं। कृदंत शब्दों से भी क्रिया का बोध होता है। तिङन्त और कृदंत रूपों में यही अंतर है कि तिङन्त वाच्य क्रिया लिंग, संख्या तथा कारक से मुक्त रहती है। कृदंत शब्द तो क्रियावाची होते हुए भी प्रातिपदिक (nominal stems) बन जाते हैं और उनमें लिंग, संख्या और कारक के कारण रूपांतर भी होते हैं। निम्नलिखित वाक्यों को देखिए—

(1) देवदत्तः ग्रामं जगाम।
(2) देवदत्तः ग्रामं गतवान्।
(3) गतवन्तं देवदत्तमत्रानय।
(4) तत्र गतवता देवदत्तेन किं कृतम् ?
(5) गतवते देवदत्ताय फलं देहि।
(6) गतवतो देवदत्तात् पुस्तकं लभस्व।
(7) गतवतो देवदत्तस्य का वार्ता ?
(8) गतवति देवदत्ते कस्ते विचारः ?
(9) सा ग्रामं गतवती।
(10) वयं ग्रामं गतवन्तः।

'जगाम' लिट् लकार का रूप है। यह तिङन्त क्रिया है। 'गतवान्' कृदंत रूप है। अतः इसमें लिंग, संख्या और कारक के योग से रूपभेद होता है। क्रिया चाहे तिङन्त हो चाहे कृदंत, उसके कुछ विशेषण (attributes) अपेक्षित होते हैं। "रामेण बाणेन हतो बाली" इस वाक्य में 'हतः' क्रिया है और वह कृदंत है। 'रामेण' (कर्ता) 'बाणेन' और 'बाली' विशेषण हैं। राम कर्ता है, बाण करण है और बाली कर्म है। वार्तिककार की इस परिभाषा को 'अमरकोश' में सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"सुप्तिङन्तचयो वाक्यं,
क्रिया वा कारकान्विता।"

पाणिनि ने कारकों का विचार प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद में किया है। विभक्तियों का निरूपण द्वितीय अध्याय के तीसरे पाद में किया है। इसका एक विशिष्ट अभिप्राय यह है कि कारक और विभक्ति का मौलिक भेद प्रगट हो जाए। कारक अर्थ तत्व है। विभक्ति रूपात्मक तत्व है। भ्याम्, स्य, स्मिन् आदि रूपों को विभक्ति कहते हैं। ये रूप कारक तथा कारकेतर अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। कर्ता आदि कारक कहीं विभक्ति से उक्त होते हैं तो कहीं अन्य रूपों से।

(1) तेन बिना तृणमपि न चलति।
(2) देवाय तस्मै नमः।
(3) अग्नये स्वाहा।

इन उदाहरणों में विभक्तियों का प्रयोग कारकेतर अर्थ में किया गया है। 'विना' शब्द के योग में तृतीया विहित है। 'नमः' और स्वाहा' के साथ चतुर्थी अपेक्षित है। ऐसी विभक्ति को 'उपपदविभक्ति' कहते हैं। फिलमोर के 'केस ग्रैमर' से ढाई हजार वर्ष पूर्व पाणिनि ने संस्कृत की कारक व्यवस्था का वैज्ञानिक निरूपण किया था। वे रूप रचना के समान वाक्य रचना के अंतरंग की भी व्याख्या कर चुके हैं। वाक्य विचार करने वाले व्याकरण को "शब्द शास्त्र" और वैयाकरणों को "शाब्दिक" क्यों कहते हैं? 'शब्द' का अर्थ बहुत व्यापक है। आवाज को भी शब्द कहते हैं। ध्वनि, उससे बनने वाले रूप (morphs), पद, पदबंध, वाक्य और इन सबका समाहार भाषा—ये सब "शब्द" की अर्थव्याप्ति में आते हैं। इस संदर्भ में 'शब्द' भाषा का पर्याय है। व्याकरण तो भाषा की व्याख्या करने वाला शास्त्र है। अत व्याकरण को शब्दशास्त्र या शब्दानुशासन कहने पर भी उसका क्षेत्र संकुचित नहीं हो जाता।

15. सैद्धांतिक व्याकरण तथा शैक्षिक व्याकरण में मौलिक अंतर नहीं हो सकता। सैद्धांतिक व्याकरण का लक्ष्य क्या है? भाषास्वरूप का विवेचन करना ज्ञान-वृद्धि के लिए हो तो है? पतंजलि ने तो "महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्" कह-कर स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भाषा-अधिगम व्याकरण का परम प्रयोजन है। व्याकरण की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है—"इमानि प्रयोज-नानि, अध्येयं व्याकरणम्।" पाणिनि की अष्टाध्यायी सैद्धांतिक व्याकरण है। उसका लक्ष्य भाषा-अधिगम हो है।

न्यूमार्क ने कहा कि व्याकरण ज्ञान के बिना भी लोग अपनी भाषा में अच्छी तरह व्यवहार कर सकते हैं और व्याकरण के नियम जानने वाले कुछ लोग इस प्रकार का भाषा-व्यवहार करने में असमर्थ पाए जाते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि व्या-करण का अध्ययन बेकार है। कई शिक्षा शास्त्री व्याकरण-अनुवाद पद्धति को हानि-कारक तथा दोषपूर्ण बताते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि शिक्षा-योजना में व्या-करण को क्या स्थान देना चाहिए? मातृ-भाषाभाषी जब व्यवहार करता है तब क्या वह व्याकरण का अनुसरण नहीं करता? छोटे बच्चे भी अपनी भाषा में अच्छी तरह बोलते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति-क्षमता का उनमें विकास कैसे हो जाता है? वे भाषा का व्याकरण जानते हैं, किंतु पारिभाषिक शब्दावली में उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते। 'उत्तम पुरुष बहुवचन' 'सकर्मक क्रिया का भूतकालिक रूप' "क्रियार्थक क्रिया" आदि शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। अतः यह कहना गलत है कि व्याकरण के बिना भी हम भाषा पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि निरंतर अभ्यास के बिना केवल नियमों को रटकर कोई भाषा-व्यवहार में दक्षता नहीं पा सकता। इससे अभ्यास की अनिवार्यता ही सिद्ध होती है; व्याकरण की निरर्थकता का यह प्रमाण नहीं हो सकता। भाषा शिक्षण में व्याकरण को उचित स्थान देना चाहिए। आज भारत में एक आम शिकायत सुनी जाती है कि भाषाई

दक्षता का हमारे छात्रों में दिन-ब-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसका एक प्रमुख कारण है व्याकरण की नितांत उपेक्षा। हमें इस गलती से बचने का दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए।

16. पाणिनीय व्याकरण की परंपरा में 'सिद्धांत कौमुदी' आदि कुछ ग्रंथों की रचना की गयी। इन ग्रंथों को 'शैक्षिक व्याकरण' की श्रेणी में स्थान दिया जा सकता है। किंतु ध्यान देने की बात है कि ये शैक्षिक व्याकरण सैद्धांतिक व्याकरण के आधार पर उसी चौखट में बने हैं। भट्टोजिदीक्षित की सिद्धांत कौमुदी में पाणिनि के समस्त सूत्रों की व्याख्या की गयी है। एक भी सूत्र को अनावश्यक समझ कर नहीं छोड़ा गया। सूत्रों के अलावा वार्तिकों तथा इष्टियों का भी यथास्थान समावेश किया गया है। सारांश यह है कि सिद्धांत कौमुदी अष्टाध्यायी का ही एक नया परिवर्धित संस्करण है। वह पूर्ण रूप से पाणिनि पर ही अवलंबित है। केवल सूत्रों का क्रम बदलकर उदाहरण के रूप में गृहीत शब्दों की रूपसिद्धि की दृष्टि से उनका पुनर्विन्यास किया गया है। सूत्रों की व्याख्या में पतंजलि, कैयट आदि की सहायता ली गयी है। वरदराज की लघुसिद्धांत कौमुदी इसी ग्रंथ का एक संक्षिप्त संस्करण है। वरदराज ने लगभग पंद्रह सौ सूत्रों की व्याख्या की है। बाकी सूत्रों को उन्होंने इसलिए छोड़ दिया कि प्रारंभिक शिक्षार्थी की दृष्टि से उन सूत्रों का महत्व कम है। कामता प्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' के मध्यम तथा लघु संस्करण प्रकाशित हुए हैं। वरदराज की कृति इन्हीं के समान है।

व्याकरण को बालोपयोगी तथा संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने पर भी वरदराज ने पाणिनि की मौलिक योजना को उसी रूप में ग्रहण किया है। अनुबंध व्यवस्था, रूपस्वनिमीय विकार, पारिभाषिक संज्ञाएं, परिभाषाएं आदि सारी सामग्री अविकल रूप से उधार ली गयी है। भट्टोजि ने संक्षेप नहीं किया। किंतु उन्होंने भी पाणिनीय पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं किया। इस अपरिवर्तनीयता का रहस्य क्या है? अष्टाध्यायी में सैद्धांतिक चर्चा नाममात्र के लिए भी नहीं है। कात्यायन, पतंजलि, कैयट, भट्टोजि आदि सभी सैद्धांतिक चर्चा में रुचि दिखाते हैं। किंतु पाणिनि ने (प्रथम अध्याय में एक छोटे प्रसंग को छोड़कर) कहीं ऐसी चर्चा नहीं की। सैद्धांतिक चर्चा के बाद जो नियम स्वीकार योग्य माने जाते हैं, सिर्फ वे ही अष्टाध्यायी में समाविष्ट किए गए हैं। अतः इन नियमों को छोड़ देना व्याकरण की उपयोगिता को घटाने के बराबर होगा। यही कारण है कि भट्टोजि कौमुदी में एक भी सूत्र को छोड़ नहीं सके।

17. शैक्षिक व्याकरण की रचना के लिए सैद्धांतिक व्याकरण से ही सामग्री प्राप्त की जा सकती है। शैक्षिक व्याकरण शिक्षार्थी के स्तर, आवश्यकता आदि के आधार पर संक्षिप्त या विस्तृत, छोटे या बड़े आकार का हो सकता है। प्राथमिक स्तर के छात्रों के लिए व्याकरण लिखा जाए तो उसे अत्यंत संक्षिप्त रूप में ही

प्रस्तुत करना चाहिए। माध्यमिक स्तर में अधिक सामग्री देना आवश्यक होगा। विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए तो भाषा का समग्र परिचय देने वाले विस्तृत व्याकरण को रचना अपेक्षित है। इसके बाद व्याकरण का विशेष अध्ययन करने वालों के लिए सैद्धांतिक चर्चा के आधार पर बने हुए प्रौढ़ ग्रंथों की आवश्यकता पड़ती है। लघु कौमुदी से आरंभ करके हम धीरे-धीरे महाभाष्य तक पहुंच सकते हैं। समय और परिस्थिति के अनुसार, सामग्री का चयन करके कम या अधिक प्रमाण में उसे प्रस्तुत करना शैक्षिक व्याकरण का लक्ष्य होता है। प्रस्तुतीकरण (presentation) की पद्धति में अंतर अवश्य है। किंतु मूल विषय की दृष्टि से कोई अंतर नहीं हो सकता। उसमें अंतर करने का फल यही होगा कि व्याकरण की प्रामाणिकता तथा उपादेयता ही नष्ट हो जाएगी। भट्टोजिदीक्षित, वरदराज आदि परवर्ती ग्रंथकारों ने पाणिनि की प्रत्याहार-पद्धति, अनुबंध व्यवस्था, गणपाठ, धातुपाठ, सपादसप्ताध्यायी और त्रिपादी की व्यवस्था आदि को अक्षुण्ण रूप में स्वीकार किया है और उसी के आधार पर अपने ग्रंथों की रचना की है। अन्यथा उनके ग्रंथ प्रामाणिक नहीं बनते। इस शताब्दी में कई लेखकों ने संस्कृत व्याकरण की रूपरेखा कालेज के छात्रों के लिए अंग्रेजी में सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। किंतु पाणिनीय पद्धति का परित्याग करने के कारण उनके व्याकरण प्रामाणिक नहीं बन पाये। संधि नियमों तक का वे सही परिचय नहीं दे सके। उनके शैक्षिक व्याकरण विफल हो गए। अतः हमें शैक्षिक व्याकरण की रचना करते समय सैद्धांतिक व्याकरण को उपजीव्य आधार मानकर उसी चौखट में नियमों को प्रस्तुत करना चाहिए। इसी प्रकार से हम व्याकरण की प्रामाणिकता की रक्षा कर सकेंगे। प्रामाणिकता के अभाव में व्याकरण शास्त्र या विज्ञान न होकर व्यर्थ का भार बन जाएगा। अतः मेरी दृष्टि में शैक्षिक व्याकरण सैद्धांतिक व्याकरण का छात्रोपयोगी संस्करण मात्र है।

विचार विमर्श

गोपाल शर्मा : मैं समझता हूं कि आज की चर्चा काफी महत्वपूर्ण रही है। हमें पाणिनि के संबंध में भी थोड़ा विचार करना पड़ेगा।

वैसे जैसे-जैसे भाषा का रोल बढ़ता जा रहा है, हमारे सामने समस्याएं आती चली जाती हैं। हमारे चिंतन की जड़ आधुनिक हो सकती है या वैयक्तिक भी हो सकती है। वैयक्तिक चिंतन में हमारे मौलिक चिंतन के साथ समन्वय हो पाता है। यह समन्वय आधुनिक भाषा शास्त्र और प्राचीन भाषा शास्त्र में होना चाहिए। अभी वैदिक काल के पतंजलि व्याकरण का उदाहरण दिया गया। उसके साथ मिलाकर काम करना चाहिए। उसका भी विकास करने की आवश्यकता है।

हम बिल्कुल ही एकांत में काम कर रहे हैं। जिस क्षेत्र की भाषाएं हम बोलते हैं उसी क्षेत्र की भाषाओं के बारे में आपका चिंतन होना चाहिए। उस भाषा के नमूने न लेकर हम हवा में सोचते हैं। यह हमारे लिए अच्छी बात नहीं है। आपने

देखा और पीटर हुक भी इस बात की पुष्टि करेंगे कि हमारी भाषाओं में क्या लिखा जा रहा है, यह जानने की पिपासा अमरीका और योरोप में है। भारतीय भाषाविद् भी अपनी भाषाओं का अध्ययन इस तरह कर रहा है कि प्रत्येक भाषा शास्त्री आजकल इस बात की जानकारी हमसे हासिल करना चाहता है। इस तरह की चर्चा का एक असर तो यह होता है कि इन्होंने बहुत सी बातें क्लास रूम के संबंध में स्थापित की हैं। चिंतन के साथ उनकी उपयोगिता स्थापित करने में एक आधार भूमि मिल जाती है। इस चिंतन का विकास करने में मेरी जिज्ञासा यह है कि इन विचारों को ध्यान में रखकर यदि हिंदी का अध्यापकवर्ग क्रियेटिविटि एक्सप्लेन नहीं करवा पा रहा है तो इसके लिए हमारे पास, वैयाकरणाचार्यों के पास दार्शनिक रूप से कुछ है क्या? अपने एक बिंदु से हम अपने विचारों का जो विस्तार कर पा रहे हैं उसके लिए हमारे पास क्या साधन है? ऐसी हमको बहुत सी बातें सोचनी होंगी। अगर हम यह नहीं करेंगे तो स्किनोरियन, चोम्स्कियन, प्रैगमैटिक्स के चक्कर में पड़े रहेंगे। हम सबको इसके बारे में चिंतन करना बहुत जरूरी है। अपनी फिजियोलोजी और अपना मस्तिष्क दोनों को साथ ही साथ देखने की आवश्यकता है। वर्ना यह उधार मस्तिष्क माना जाएगा।

TREATMENT OF PHONOLOGY IN TAMIL GRAMMARS

[With special reference to Tolka : ppiyam]

—S. V. Shanmugam

0. Introduction

Tamil has a great tradition in the grammatical study. There is a general belief that, even the earliest extant work in Tamil is a grammatical work, Tolka : ppiyam. Eventhough some scholars do not subscribe to this view, one cannot deny the fact that Tolka : ppiyam should have been written in the early centuries of the Christian era.

There are nine other grammars written during the various periods, i.e. from 10th century to 19th century especially for the study of the structure of language.

According to the author of Tolka : ppiyam, the grammar includes not only the study of languages structure but also the study of poetics and rhetorics. This has been treated under three major headings, eluttu 'phonology' which includes the phonetics and morphophonemics. Col. 'morphology of syntax' and porul 'subject-matter of literature which has in addition poetics and rhetorics'. This three fold division later on becomes five folds where porul is further divided into three porul 'literary themes', ya:ppu 'prosody' and ani 'rhetorics'. Some of the grammars mentioned above deal also with the extra linguistic matters, poetics and rhetorics. However there are many more grammars [nearly 20 in number] [Illavarasu, 1963], dealing with the extralinguistic matters. All Tamil grammars have given the name eluttu 'phonology' Col. 'Morphology and Syntex' for 'the study of the language structure'. In this

essay, the treatment of phonology in eluttatika:ram chapter on phonology is taken into consideration with special reference to Tolka ppiyam.

1. Tolka : ppiyar's division of Phonology

Tolka : ppiyam divides phonology as well as other chapters into nine sections. In the phonology, the first section is called nu:nmarapu, the meaning of the term is not clear and so different interpretations are given by different authors. However it is generally accepted that this chapter deals the sounds per se. But it can be said that it is about the functional classification of the sounds. However there is one problem i. e. inclusion of the two consonant clusters in this section, while the three consonant clusters are found in the next section.

The next section is called Molinarapu which can be said to discuss the word, i. e. moli from the phonological point of view i. e. phonological word. This section is considered to discuss the sounds occurring as parts of a word by the commentators. Now, it is considered to discuss the morpheme structure rules (syllabic structure, initial sounds, final sounds etc.).

The third section, pirappiyal is about phonetics and the remaining six sections devote to morphophonemics.

2. Tamil Sounds

There are 12 vowels, out of which ai and au are described as diphthongs. The 18 consonants and their phonetic nature as described by Tolka : ppiyar is discussed by Murugaiyan (1971) in detail.

In addition certain sounds are referred to by Tolka : ppiyar and their phonetic nature is not very clear. However, we will try to summarise the present scholarly opinion here.

Tolka:ppiyar has referred to three sound units as dependent sounds, kurriyalukaram 'shorter u' kurriyalikaram 'shorter i' and a:ytam, the translation of which is difficult but will be explained later. All the dependent sounds are said to be articulated in the same place as the depending sound [S: 101].

Shorter ṳ is always preceded by any one of the plosives, k, c, ṭ, t, p and ṟ which in turn can be preceded (c) v or cv̆c(c)v̆. Both short ṳ and shorter ṳ are in complementary distribution. Because a sound cannot be articulated at different places, where the stops are articulated, it is taken to refer to vowel release (Meenakshisundaram, 1965:67). The shorter i is said to occur in the word (really a vowel morpheme) miya: and this is taken to be a vowel release with palatal colouring.

a:ytam occurs in the following contexts cv̆-pv- (where p stands for plosive). It, as one of the dependent sounds, is also articulated at the place where the succeeding plosive articulated. The consensus among the Tamilologists is that it represents some sort of fricative sounds corresponding to the following plosive (Kuiper. 1958, Meenakshisundaram 1965) and it could be considered as an archisegment. So a:ytam is not a single sound but a group of sounds having fricativization as the common feature.

There are other sounds mentioned by Tolka:ppiyar but not included under the secondary sounds. They are aika:rakkurukkam 'shortened ai' makarakkurukkam 'shortened m' uyiraḷapeṭai 'extra long vowel' and orraḷapeṭai 'extra long consonant'.

The shortened ai is said to have one matra duration while ai as a long vowel has two matra duration. There are cases of change of ai to a (for details, see Shanmugam, 1972). It is possible that it represents / a /.

The extra long vowels a:a, i:i, u:u etc. are more common in Old Tamil. There are a few cases of a:aa, i:ii etc. Tolka : ppiyar has specifically said that there is no sound in Tamil having three matras (S. 5) but in the next sutra it is said that if lengthening is required, it is effected by combining the sound with the required matra. This means that extra long vowel should be taken as a vowel cluster and not as a unit sound. But in the chapter on prosody, there is a sutra about the syllabification of the extra long vowel which says that it could also be taken as a single syllable (S. 1274). This means that there are cases of extra vowel functioning

as a single unit with three matras. So, there are two types of pronunciation, one as a vowel cluster and another as a unit sound having three matras. However, the vowel cluster seems to be the predominent pronunciation in old Tamil period.

The shortened pronunciation of m is said to occur in the word po:ṉm (S. 13) which can be taken as half nasal or nasalisation. The extra long consonant is said to occur in the poetry (S. 1275) and its occurrence is rare even in Old Tamil period. This is nothing but elongated consonant : kaṇṇṭu : 'having seen'.

3. Functional classification of the sounds

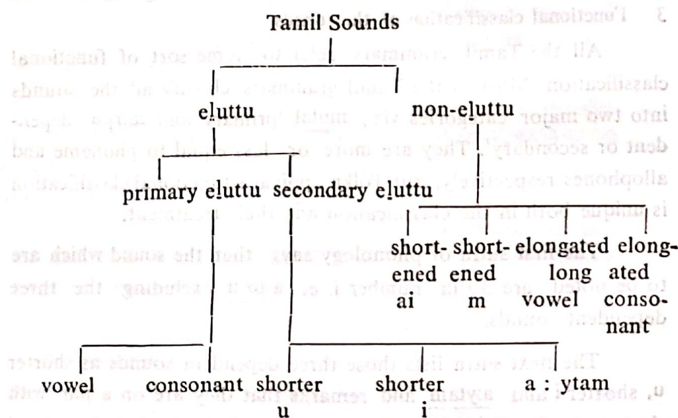
All the Tamil grammars refer to some sort of functional classification. Most of the Tamil grammars classify all the sounds into two major categories viz., mutal 'primary' and ca:rpu 'dependent or secondary'. They are more or less equal to phoneme and allophones respectively. But Tolka : ppiyar's functional classification is unique both in the classification and their treatment.

The first sutra of phonology says that the sound which are to be noted are 30 in number i. e. a to ṉ excluding the three dependent sounds.

The next sutra lists those three dependent sounds as shorter u, shorter i and a:ytam and remarks that they are on a par with those sounds. Therefore the sounds which are to be noted 'eḻutta eṉappaṭupa' i. e. a to ṉ belong to one class which can be called primary eḻuttu and the depend sounds which are to be on a par with them i.e. eḻuttuo:vanna. These thirty sounds which are mentioned as eḻuttu in the first sutra on purpariyal 'chapter on sandhi'.

mu:ṉṟu talaiyiṭṭa muppatiṟṟ eḻuttiṉ
iraṇṭu talaiyiṭṭa mutala:ku irupaht
aṟuna:ṉki : ṟo:ṭuneṟi niṉṟa iyalum
ella: moḻikkum iṟutiyumutalum
meyye: uyireṉṟu a:yiriyala (S. 104)

Among the thirty three sound units all the words beginning with any one of twenty two sound units and ending with any twenty four sound units will be classified as vowel and consonants as initials and finals. Therefore those thirty three sound units, named by him simply eḷuttu are to be taken as basic units in sandhi. What about the other sound units like shortened ai, shortened m, elongated long vowel etc. These are to be considered as non-eḷuttu. So, the Tamil sounds, according to Tholkappiyar could be classified functionally as follows :



Now, we will try to explain the basis of the above classification.

Since the eḷuttus are, according to the Tolka · ppiyar, the basic units in sandhi, it is clear that they should be taken as morphophonemic units or in the termiology of the generative phonology as systematic phonemics Now the problem is to analyse that how far the modern equivalent is justifiable from the observation of Tolka : ppiyar or from the Old Tamil data.

In this connection, it must be said that Balasubrahmaniyam (1970) in his paper, 'Tolka : ppiyar's concept of phonology' has concluded that the format and contents of Tolka : ppiyam eḷuttatika:ram seem to fit well, to a great extent, if not completely with

the format of the phonological component of the transformational generative model in particular and the whole of the transformational generative theory in general (p. 17). With regard to the two-fold classification of thiry three sound units, he has remarked thus: 'Tolka : ppiyar's eḷuttu along with the three eḷuttovaṉṉa (secondary eḷuttu) resemble the level of systematic phonemic representation (p. 12) or the phonological representations of phonological components of transformational generative model.

The phonemic status of the thirty sounds (12 vowels and 18 consonants) are not usually questioned eventhough there are problems of the interpretation of diphthongs in the vowels and nasals in the consonants but the phonemic status of the three secondary eḷuttus are really problematic.

Balasubrahmaniyam has argued very well for setting up the shorter u and a : ytam as separate phonemic units.

Eventhough, shorter u and short u are in complementation, they are taken as distinct units on the basis of their different sandhi behaviour. For instance, if they are followed by a word beginning with a vowel, the word with short u will have a glide while shorter u will disappear.

Short u	naṭu+e :	□	naṭuve	'in the centre'
Shorter u	na:ṭu+e :	□	na :ṭe :	'country(emphatic)'

Moreover, the words with shorter u undergo a lot of changes like the loss of the final syllable; note the sandhi changes of the numerals and names of direction. Therefore, if the short u and shorter u are grouped as one phoneme due to their complementary distribution, the difference in sandhi has to be explained by noting the dffierent canonical patterns in which the shorter u occurs. It is to be noted in this connection that tolka : ppiyar has devoted a separate chapter for the sandhi changes of shorter u. Therefore, the setting up of the shorter u as a distinct unit different from short u can be justified on the basis of difference in their sandhi behaviour.

Therefore Tolka : ppiyar has grouped the thirty three sound units as eḷuttu because they are all occurring in the base forms Then what is the difference between the primary eḷuttu and the secondary eḷuttu ? All the secondary eḷuttu occur in predictable environments while the primary eḷuttu are not But there is one problem in the case of nasal consonant belonging to the primary eḷuttu. This is with regard to the velar nasal The velar nasal in the early middle and old Tamil occurs always before the velar stop and hence all the modern linguists do not set up the velar nasal as a separate phoneme [e. g. Meenakshisundaram, 1965] If so, Tolka : ppiyar is not right in considering the velar nasal as a primary eḷuttu. But he has solved the problem in some other way. Eventhough there is no gemminated velar nasal in the early and middle old Tamil, he has listed it as one of the possible clusters in his grammar If so, the velar nasal cannot be considered as a dependent sound. In this connection it should be mentioned that there are many consonant clusters listed by Tolka : ppiyar for which there are many examples in old Tamil. This has to be explained that his grammar is not observationally adequate but only descriptively adequate. However, some of those clusters are found in the later period.

As for the **non-eḷuttus**, they are all to be derived from some other base sound units and so do not occur as such in the base forms or according to Tolka : ppiyar from—**m**. The shortened ai is derived from ai and shortened **m** from /m/. The elongated vowels are to be derived mostly from the long vowels. But the detailed study of variant forms, it is only to be derived from VCV sequence [for full details, see Shanmugam, 1976]. Tolka : ppiyar has not concentrated on the nature of basic forms of the elongated vowels and the elongated consonants. The base forms or the elongated consonants may be the single consonant.

a : ytam as noted above is an archi-segment without having a corresponping class of sounds. Moreover it is believed that

a : ytam functions as a juncture phenomenon or boundary marker. A detailed discussion of this is found in Kuiper [1958].

Shorter **i** is in complementation with **i** as well as shorter **u.** Balasubramaniyam [1970] could not explain the significance of shorter **i** having a distinct unit.

As already noted, it occurs, only in a single word **mixa**, a particle denoting vocative and so it occurs within a word but not to be found for this. So, the reason for establishing it a distinct unit has to be sought elsewhere. One possible reason may be found in his theory of morphonemic base form Eventhough there are a few cases of hypothetical base form, most of the cases, the free forms are taken as the base form by Tolka : ppiyar. For example the expression **ve ka : ve** : 'intense desire', is explained as the sandhi product of **ve : kal** 'desire'+**ava** : 'desire' because **ve : ku** occurs only in compound and not as free form. Similarly the expressions like **tonnu: ru** 'ninety', **toḷḷa : yiram** 'nine hundred' etc. are not expressed as **tol/ton** but as **onpatu**+ because the latter alone occurs as the form There fore his idea seems to be that all sounds occurring in the base form or in the lexical representation are **eḷuttu.** This theory of eḷuttu seems to be more simpler than one suggested by earlier scholars. Howener, the point to be noted is that Tolka :ppiyer has not used the distributional criteria to classify the sounds.

पाणिनीय व्याकरण का सांचा हिंदी के लिए कितना अनुकूल ?

—विद्यानिवास मिश्र

हिंदी व्याकरण की रचना कई सांचों के आधार पर अब तक हुई। सबसे प्रारंभिक व्याकरण के रूप में 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' का नाम लिया जा सकता है। यह व्याकरण एक प्रकार से भाषांतर व्याकरण (Transfer Grammar) है। इसका उद्देश्य प्राचीन हिंदी के रूप प्राचीन से संस्कृत में भाषांतर प्रक्रिया प्रस्तुत करना है, इस दृष्टि से यह बहुत ही मौलिक प्रयत्न है। इस व्याकरण में दोनों भाषाओं के समानांतर उक्ति खंडों का जोड़ बैठाया गया है, अपने आप में भाषा की प्रकृति की आर्थी पहचान की दिशा में यह एक अद्वितीय उपलब्धि है। इसके बाद काल क्रम से महत्व कुछ स्फुट व्याकरणों का है, उनमें से एक औरंगजेब के निर्देश से अपने शाहजादे को ब्रज भाखा पढ़ाने के उद्देश्य से तैयार कराया गया था, उसमें साहित्यिक भाखा के परिचय के साथ-साथ कोश सामग्री और संक्षिप्त काव्यशास्त्र भी है। यहां यह ध्यातव्य है कि भारतवर्ष में काव्यशास्त्र और व्याकरण का गठबंधन बहुत प्राचीन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपमा का स्पष्ट उल्लेख कई स्थानों पर है 'तोलकाप्पियम्' में भी दोनों शास्त्रों का समावेश है। संस्कृत का पूरा काव्यशास्त्र भाषा की व्याकरण व्यवस्था में ही काव्यार्थ ग्रहण की युक्तियां निकालने की प्रक्रिया अपनाता है। ध्वनि सिद्धांत के आचार्य तो ध्वनि सिद्धांत की स्थापना ही व्याकरण-शास्त्र के ध्वनि या स्फोट सिद्धांत से प्रेरणा लेकर करते हैं और मुक्त कंठ से उनका ऋण स्वीकार करते हैं। उनका तर्क यह है कि जिस प्रकार स्फोट रूप शब्द उच्चरित वैविध्यों का बौद्धिक एकान्वयीकरण है और स्फोट रूप अर्थ बाह्यार्थों (referents) का प्रयोगाभ्यास के द्वारा बौद्धिक अमूर्तीकरण है, उसी प्रकार और गहरे स्तर का ध्वन्यार्थ भी सतही अर्थ से उद्भिद्यमान अर्थों का सहृदय संवेद्यता के निकष पर कसा गया खरा और निखरा अर्थ है। अस्तु! यह तो अवांतर चर्चा हुई, औरंगजेब के बाद फिर साहित्यिक भाषा हिंदी और उसकी बोलियों के व्याकरण के निर्माण अंग्रेजों के आने के बाद शुरू होते हैं, कुछ व्याकरण

तो ऐतिहासिक हैं जैसे हर्नले का गौडीय भाषाओं का व्याकरण। और कुछ लातनी पद्धति के यूरोपीय भाषाओं के व्याकरणों के वजन पर लिखे गए (जैसे केलाग का व्याकरण)। इस दिशा में भारतीयों द्वारा प्रथम उत्कृष्ट प्रयत्न स्व० कामताप्रसाद गुरू का हिंदी व्याकरण है। इस व्याकरण में यूरोप की परंपरागत शैली का उपयोग करते हुए भी संस्कृत व्याकरण की कोटियों (categories) और राशियों (sets) का भरपूर उपयोग किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि आज भी यह व्याकरण अपने तमाम कमजोरियों के बावजूद हिंदी का सबसे अधिक सर्वांगीण व्याकरण है। इसकी मुख्य कमी तो यही है कि यह स्पष्टता और संगति (consistancy) का निर्वाह नहीं कर पाता। दूसरी कमी यह है कि यह रूप-जाल में अधिक फंस गया है। नेसफील्ड की कृपा के कारण तीसरी कमी यह है कि भाषा के गहरे स्तर की संरचना में न जाने के कारण यह अपर्याप्त है। आधुनिक भाषा विज्ञान की स्वस्थ दृष्टि से हिंदी व्याकरण के अनेक प्रयत्न हुए, वे प्रयत्न सीमित तथ्यों पर या सीमित पक्षों पर ही अधिकतर आदृत हैं। इस निबंध के द्वारा मैं यह विचार रखना चाहता हूं कि हिंदी के समग्र व्याकरण के निर्माण में पाणिनीय सांचा (केवल पाणिनीय संज्ञा में या पाणिनि का संस्कृत व्याकरण नहीं) कितना अनुकूल पड़ेगा। वस्तुतः इसका परीक्षण अभी नहीं किया गया है, पर यह परीक्षणीय है।

एक दूसरा कारण भी है जिससे पाणिनीय सांचे की उपयोगिता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। भारतीय चिंतन पद्धति पाणिनीय व्याकरण की वैचारिक पीठिका है और भारतीय अर्थ कोटियां और भारतीय विश्व की शब्दमयी आकृतियां इस व्याकरण के लिए मुख्य उपजीव्य हैं। कमोबेश वे अर्थकोटियां और वे आकृतियां आज की भारतीय भाषाओं के लिए भी उपजीव्य हैं।

पाणिनीय सांचे के पीछे जो भी सिद्धांत हैं, उनकी व्याख्या पाणिनि में प्रतिपदोक्त तो नहीं है, पर उनके टीकाकारों की टीकाओं के द्वारा और पाणिनीय अष्टाध्यायी की आंतरिक अन्विति की तलाश के द्वारा काफी हद तक अनुमेय है। मुख्य सिद्धांत संक्षेप में ये हैं—

(1) भाषा स्वयंपूर्ण है अर्थात् उसका प्रामाण्य उसके लोक प्रयोग में है।

(2) भाषा (संस्कृत) का उद्गम जिस छंदस् वाक से हुआ है वह स्वतः स्फूर्त दृष्ट भाषा है, उसके द्वारा ही नाम और रूप व्याकृत हो चुके हैं।

(3) भाषा पर विचार करते समय भाषा के प्रकार्यों (Functions) जैसे प्रैष, अनुरोध, प्रश्न, उत्तर आदि पर भी विचार करना चाहिए।

(4) भाषा में वक्ता (speaker) बोद्धव्य (Addressee) और वक्ता विवक्षित अभिप्राय तीनों हैं, इस दृष्टि से व्याकरण रचा जाना चाहिए।

(5) प्रकरण के ऐसे नाम (संज्ञा) जिनको नाम देने के आधार ज्ञात हैं भाषिक विश्लेषण की परिधि में आते हैं, जैसे सदन के लिए नगर के जिस द्वार से

प्रस्थान करते हैं, उसे स्रौघ्न द्वार कहेंगे (हिंदी में भी अजमेरी दरवाजा, दिल्ली दरवाजा जैसे शब्द इसी अर्थ में बने हैं।)

(6) शब्द और अर्थ व्याकरण की दो धुरियां हैं, शब्द से तात्पर्य (word) या कोशीय शब्द नहीं है शब्द के अंतर्गत वह सब आता है जो आधुनिक शब्द (sign के अतर्गत आता है। पाणिनि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वाक्य शब्दवाचक है. वाच्य अर्थवाचक (वचो 5 शब्द संज्ञायाम)।

(7) राशियों के निर्धारण में मुख्यरूप से चार आधार होने चाहिए।

(क) व्याकरणिक प्रकार्य जैसे कृदंत = प्रातिपादिक

(ख) कौन किसका अंग है और किस प्रतीक (आदिवर्ण, अंत्यवर्ण या उपधा) से ज्ञाप्य है।

(ग) वितरण वर्ग जैसे, सभी प्रकार या तद्धित

(घ) अर्थ क्षेत्र की समानता (common range of meaning), जैसे गत्यर्थक धातुएं।

(8) व्याकरण की स्पष्टता और लघुता के लिए परिभाषा नियम (meta linguistic rules) बनाये जाएं।

(9) व्याकरण का प्रयोजन वाच्य से वाचक तक अध्येता को पहुंचाना है।

(10) व्याकरण में वर्गीकरण भरसक द्वितात्मक (Binary) रखना चाहिए ताकि वस्तुओं को स्पष्टतया एक-दूसरे के आमने-सामने देखा जा सके।

पाणिनीय व्याकरण की दूसरी विशेषता जो बहुत महत्वपूर्ण है वह यह है कि जहां कहीं ऐतिहासिक रूप इक्के-दुक्के ऐसे मिले जिन्हें उनके मूल ऐतिहासिक रूपों से जोड़ की पहचान न रह गयी हो, वहां उन्हें ऐसे रूपों के साथ जोड़ देना चाहिए जिनके साथ जोड़ने में आर्थिक दृष्टि से कोई कठिनाई न हो और रूपात्मक दृष्टि से उन्हें दूसरी जगह रखने में कठिनाई हो। उदाहरण के लिए अगात् रूप गम् के विविध ऐतिहासिक रूपों में से एक है पर और रूप प्रयोग में नहीं रह गये, इसलिए इसे गम् के साथ न जोड़ कर इ धातु के साथ जोड़ दिया गया है। इ के इस लकार में रूप समाप्त हो गये हैं। दूसरे शब्दों में पाणिनि समकालिक संगति को मुख्य आधार मानते हैं। पुराने हिंदी व्याकरणों में बहुत-सी वर्गीकरण की गड़बड़ी इतिहास का सूत्र मानने के कारण पैदा हुई है। ने की व्याख्या तृतीय विभक्ति एक वचन के रूप में करने की कष्ट कल्पना इसी प्रकार के धुंधले सोच का परिणाम है। उसी तरह संस्कृत से उधार लिये गये इन शब्दों में जिनमें प्रकृति-प्रत्यय अलग-अलग पहचान नहीं रह गयी है ऐसे रूपों का समुदाय देखना जो हिंदी में उत्पादक नहीं है पाणिनि के सिद्धांत के प्रतिकूल है। पाणिनि ने स्वयं ऐसे रूपों को निपातित रूप में स्वीकार कर लिया है।

पाणिनीय सांचे की तीसरी विशेषता है कि जब किसी शब्दवर्ग को परिभाषित करता हो तो भाषेतर परिभाषकों से बचा जाए इसीलिए उनके

यहां शब्दों (Lexeme) के सिर्फ दो मुख्य वर्ग हैं, प्रातिपदिक और धातु प्रातिपदिक के अंतर्गत ही सर्वनाम और अव्यय उपवर्ग के रूप में अंतर्विष्ट हैं। सर्वनाम और अव्यय की परिभाषा भी या तो सूची गिना कर दी गयी है या फिर उनकी रूप संरचना के आधार पर। धातु की परिभाषा सूची देकर दी गयी है। हिंदी व्याकरणों में संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रियाविशेषण आदि भेद पश्चिमी व्याकरणों के अनुकरण में दिये गये हैं। तात्विक रूप से देखें तो वही "मैं" सर्वनाम है (मैं जा रहा हूं) और वही संज्ञा है (मेरा मैं यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है) वही अच्छा विशेषण है (अच्छे लड़कों से यही आशा की जाती है) वही अच्छा संज्ञा है। (अच्छों को भी देखा है) वही क्रिया विशेषण है (अच्छे धाये) वही अव्यय है (अच्छा अब चलूं) वही विस्मयबोधक है (अच्छा !)। व्याकरण की दृष्टि से भी भेद इस स्तर पर किया जाना चाहिए कि अच्छा 'विशेषण' का कार्य कर रहा है या विशेष्य का। वह क्रिया से साक्षात् असंबद्ध है या संबद्ध और उन परिस्थितियों में उसकी विभक्ति व्यवस्था में कोई अंतर होता है या नहीं।

यह सही है कि पाणिनि का सांचा एक ऐसी भाषा के लिए है जो विभक्ति जटिलता की दृष्टि से हिंदी से एकदम अलग है। इसीलिए पद की जो परिभाषा पाणिनि ने संस्कृत पद के संदर्भ में दी है, वह हिंदी पर पूरी तरह लागू नहीं हो पायेगी। "वह जा रहा है" में, जा पद है, पर विभक्त्यंत नहीं है। साथ ही विभक्ति बाहुल्य के कारण ही पाणिनि का ध्यान रूप संरचना पर कुछ अधिक है, पर यह सोचना कि वाक्य संरचना उनके दिमाग में नहीं है, या केवल सरल वाक्य संरचना ही उनके दिमाग में है बिलकुल गलत होगा, क्योंकि उन्होंने एकतिङ (एक समापिका क्रिया वाले वाक्य) और अनेक तिङ् (अनेक समायिका क्रियाओं वाले वाक्यों) का उल्लेख किया है और इस आधार पर वाक्य स्तर पर विवेचन भी किया है। हिंदी व्याकरणों में स्पष्टतः वाक्य की भूमिका कुछ ज्यादा महत्वपूर्ण होगी। पर हिंदी व्याकरण में भी कृत्, स्त्री प्रत्यय, तद्धित और समास की रचना के वर्णन में पाणिनीय सांचा बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है बशर्ते कि उसका अंधानुकरण न किया जाए। पाणिनीय व्याकरण की एक विशेषता है कि वह स्थूल धारणात्मक आधार पर प्रत्ययों का वर्गीकरण नहीं करता, जैसे विशेषण विधायक, क्रियाविशेषण विधायक, संज्ञाविधायक जैसे वर्गीकरण आजकल किये जाते हैं, यह व्याकरण अर्थ की परीच्छिन्नता में (Precision) प्रवेश करता है। प्रत्येक प्रत्यय विधान एक उक्ति विकल्प के रूप में उपवर्णित है, कहिए गर्ग का बेटा या कहिए वह गार्ग्य है, (गग + य)। कहिए वह वेद पढ़ता है वेद को समझता है या कहिए वह वैदिक है (वेद + इक) कहिए वह (रसोई) पकाता है या कहिए वह (पच् + अक) पाचक है। इसी दृष्टि से पाणिनीय सांचे का कोई अनुवर्ती सांचा हिंदी शब्दरचना के वर्णन के लिए बनाया जाए तो वह हिंदी को हिंदीतर भाषियों के लिए सुबोध बनाने में बहुत सहायक होगा। उदाहरण

के लिए यदि बजाय लोक से संबंध=लौकिक कहने के हम कहें लोक को बेहतर मानने वाला लोक में होने वाला, लोक-व्यवहार जानने वाला जैसे विकल्पों के स्थान पर लौकिक है, तो भाषा की बनावट अच्छी तरह समझायी जा सकती है।

पाणिनीय सांचे की द्वितात्मकता का भी उपयोग हिंदी के संदर्भ में अच्छी तरह किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हिंदी क्रिया को समझाने के लिए काल निरपेक्ष और काल सापेक्ष विभाजन किये जा सकते हैं :

वह जाता	वह जाता है/वह जाता था
(कालनिरपेक्ष)	(काल सापेक्ष)
वह जाये	वह जायेगा
(यदि) वह गया	वह गया

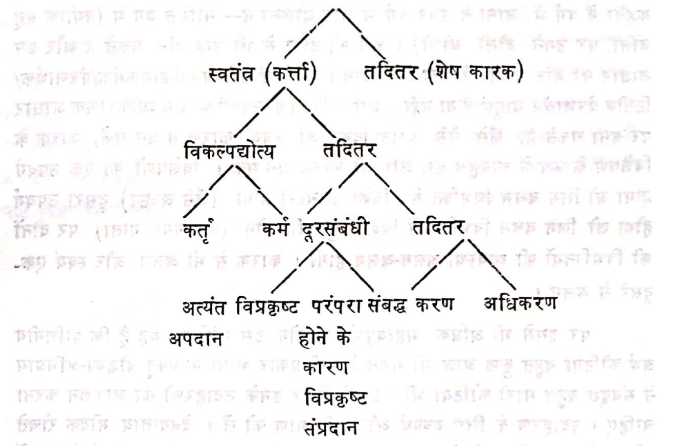
फिर पहलू के आधार पर द्विभाजन किया जा सकता है।

पूर्णता या अपूर्णता के पहलू जहां स्पष्ट हो		जहां न हो
वह जाता है अपूर्ण	वह गया है पूर्ण	वह गया वह जायेगा वह है
यदि वह जाता है	यदि वह गया है	वह जाये यदि वह गया यदि वह जायेगा

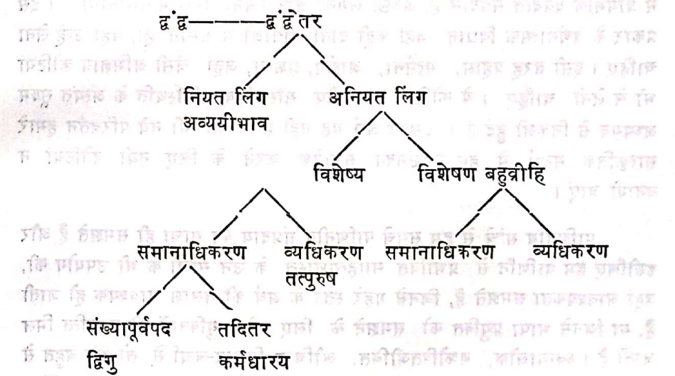
काल का भी भविष्यत्/तदितर विभाजन हो सकता है क्योंकि तदितर में है/था का द्वैत और उसके पूर्व धातु का कृदंत रूप है, जबकि भविष्यत् में गा द्योतक है और इसके पूर्व धातु का संभावना द्योतक रूप है। संस्कृत व्याकरण में विभाजन भूत/इतर है, पर हिंदी की दृष्टि से भविष्यत् और इतर विभाजन अधिक संगत है।

द्वितात्मक विभाजन कई स्तरों पर उपयोगी होगा। कारक प्रकरण और

समास में भी पाणिनीय सांचे में द्वितात्मकता सन्निहित है। कारक में इस प्रकार है :



समास में भी यह द्वितात्मकता संलक्ष्य है :



हिंदी में भी यह द्वितात्मकता उतनी ही उपयोगी है, क्योंकि इसके माध्यम से प्रकार्यों के व्यतिरेक की पहचान सबसे अधिक प्रभावशाली होती है। पाणिनीय सांचे का दूसरा महत्वपूर्ण उपयोग मेरी दृष्टि में यह है कि हिंदी की धातुओं का, हिंदी के प्रातिपदिकों का प्रत्ययों-परसर्गों की राशियों सदृश आधारों पर सूचीबद्ध करें।

अब यहां यह असंगत होगा कि हम धातुओं को विकरण के आधार पर दस गणों में बांटें, हां हम उन्हें, ने वर्ग, ने-इतर वर्ग, और ने—सीमित वर्ग में बांट सकते हैं। कहना ने वर्ग में, जाना ने इतर वर्ग में और बोलना ने—सीमित वर्ग में (क्योंकि वह बोला, पर उसने बोली बोली)। अर्थ की दृष्टि से भी उन्हें बांट सकते हैं और इस आधार पर बांट सकते हैं कि किन धातुओं की संवादी अकर्मक/सकर्मक/प्रेरणार्थक/द्वितीय प्रेरणार्थक धातुएं हैं या नहीं। प्रातिपदिकों के उपवर्ग भी हम व्याकरणिक आधार पर बना सकते हैं, जैसे ऐसे प्रातिपदिक जो स्वयं कारक न बन सकें, कारक के विशेषण के रूप में व्यवहृत हों, और जो कारक बन सकें। विशेषणों का एक उपवर्ग होगा जो लिंग वचन विभक्ति में विशेष्यासुनारी होगा (जैसे अच्छा) दूसरा उपवर्ग होगा जो लिंग वचन विभक्ति में विशेष्यामुसारी होगा (जैसे गया, गाता) पर दोनों की विभक्तियों की व्यवस्था अलग-अलग होगी। कारक से भी अलग और स्वयं एक-दूसरे से अलग।

पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उपयोग इस सांचे का यह है कि पाणिनीय अर्थ-कोटियां बहुत कुछ आज भी संगत हैं, इसी प्रकार भाषा के वक्तृ बोद्धव्य-अभिप्राय से संबद्ध बहुत सारी कोटियां भी। इनको लेकर इनके उदाहरणों का आकलन करना चाहिए। उदाहरण के लिए रुच्यर्थ और प्रीयमाण को लें। 'देवदत्ताय मोदकं रोचते पथि।' देवदत्त को रास्ते में लड्डू अच्छा लगता है। संस्कृत और हिंदी दोनों वाक्यों में प्रीयमाण देवदत्त संप्रदान हैं, अच्छा लगना और रचना दोनों में समानार्थी है। इस प्रकार के वर्णनात्मक विधान जहां कहीं दोनों भाषाओं में समान हों, वहां उन्हें लेना चाहिए। इसी तरह प्रहास, भर्त्सना, आक्षेप, प्रशंसा, जहां जैसी अभिप्राय कोटियां भी ले लेनी चाहिए। ये कोटियां भारतीय सांस्कृतिक परिस्थिति के अत्यंत सूक्ष्म अध्ययन से निकली हुई हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो भी नये परिवर्तन हमारे सांस्कृतिक संदर्भ में हुए हैं उनका समावेश करने के लिए नयी कोटियां न बनायी जाएं।

पाणिनीय सांचे से हम समूचे पाणिनीय संप्रदाय का सांचा ही समझते हैं और इसीलिए हम पाणिनि से प्रभावित साहित्यशास्त्र के उन सांचों के भी उपयोग की, वहां आवश्यकता समझते हैं, जिनसे गहरे स्तर के अर्थ की तलाश आवश्यक हो जाती है, या जिनसे भाषा प्रयुक्ति को समझने के लिए अनेक युक्तियों की उपपत्ति मिल जाती है। ध्वन्यालोक, वक्रोक्तिजीवित, औचित्य विचार-चर्चा से, तो अब बहुत से भाषाविद परिचित हैं, और इनमें वर्णित प्रयोग सार्थकता से भी परिचित होंगे। सरस्वती कंठाभरण में जाति, गति, मति, कामु जैसी युक्तियों का जैसा विशद विवेचन मिलता है वैसा वर्णन सर्जनात्मक भाषा को समझाने के लिए कहीं भी उपलभ्य नहीं है।

मेरा प्रस्ताव है कि पाणिनीय व्याकरण के अध्येताओं और हिंदी भाषा के वेत्ताओं के द्वारा सम्मिलित प्रयत्न होना चाहिए कि हिंदी के लिए किस प्रकार पाणिनीय सांचे को नया रूप दिया जाए कि वह हिंदी भाषा के समग्र वर्णन के लिए उपयोगी हो सके और इसके अनंतर भाषा के तथ्यों के वर्गीकरण का कार्य संपन्न किया जाए। उसके बाद भी जहां कहीं सांचे में परिवर्तन की अपेक्षा हो, किया जाए। परंतु एक सुव्यवस्थित चिंतन के रहते हुए उसको केवल औपचारिक सम्मान देकर बार-बार दूसरे ही सांचों के लिए भटका जाए, उस भटकाव में अपनी भाषा की संरचना ही विकृत कर दी जाए। (अंग्रेजी के अनुसार उदाहरणों से अपनी भाषा को पाट दिया जाए) यह न काम्य है, न वैज्ञानिक ईमानदारी के अनुकूल है।

विचार-विमर्श

विजयराघव रेड्डी—

आपने (डा. विद्यानिवास मिश्र से) अपने शोधलेख के अंत में यह सुझाव दिया है कि हिंदी के व्याकरण को पाणिनीय व्याकरण के आधार पर बदला जा सकता है। इस संबंध में मेरी एक दो जिज्ञासाएं हैं। जहां तक दक्षिणी भाषाओं का प्रश्न है तमिल भाषा को छोड़कर सभी तीनों भाषाओं में पाणिनीय व्याकरण की परंपरा के आधार पर व्याकरण लिखे गये हैं और अब भी उनका अध्ययन किया जाता है। तेलुगु में "आंध्र शब्द चिंतामणि" (संस्कृत में लिखा गया व्याकरण), "बाल-व्याकरण" आदि अनेक व्याकरण हैं, जो अष्टाध्यायी की पद्धति पर सूत्रों में लिखे गये हैं लेकिन मैं देखता हूं कि उत्तर भारत में सभी व्याकरण पाणिनीय पद्धति से नहीं लिखे गये। ऐसी स्थिति में मैं जानना चाहताहूं कि उत्तर भारतीय भाषाओं जिनका स्रोत सीधे संस्कृत या आर्य भाषा परिवार से है, के व्याकरण का संबंध पाणिनीय व्याकरण से कब और कैसे टूटा ? और हजारों वर्षों के अंतराल के बाद पुनः हम हिंदी के व्याकरण को पाणिनीय सांचे पर ढालना चाहते हैं क्या यह संभव है ? वांछनीय है ? इस पाणिनीय सांचे से जहां एक ओर इन दक्षिण की भाषाओं में काफी परिवर्तन हुए हैं, वहीं सांस्कृतिक चिंतन में भी काफी परिवर्तन हुए हैं पाणिनीय सांचे का ही परिणाम है कि इन भाषाओं में सांस्कृतिक समन्वय और चिंतन की एकरूपता पाई जाती है। लेकिन हिंदी आदि उत्तरी भाषाओं में पाणिनीय सांचों के आधार पर लिखे गये व्याकरणों में इस प्रकार का कोई समन्वय दिखाई नहीं देता। इस सांचे के आधार पर एक भी व्याकरण नहीं मिलता।

गोपाल शर्मा—

(डा. रेड्डी से) आपने जो दक्षिणी भाषाओं में अविच्छिन्न परंपरा की बात कही, 'मेरे ख्याल में ऐसी नहीं है। तेलुगु के व्याकरण पाणिनीय सांचे से हटकर नई पद्धति से लिखे गये हैं और यही व्याकरण छात्र स्कूल और कालेजों में पढ़ते हैं।

विजय राघवरेड्डी—

लेकिन ऐसी बात नहीं है। अब भी "बाल व्याकरण" आदि को ही प्रामाणिक मानकर उन्हें स्कूल/कालेजों में छात्रों को पढ़ाते हैं। शिरोमणि विद्वान्, भाषा प्रवीण और तेलुगु की ओरिएंटल परीक्षाओं में तो इन्हीं व्याकरणों का अध्ययन अध्यापन किया जाता है।

गोपाल शर्मा—

नवीं, दसवीं में जो आज तेलुगु व्याकरण पढ़ाये जाते हैं।

विजयराघव रेड्डी—

यह अवश्य है कि छोटी कक्षाओं में आधुनिक पद्धति से लिखे गये तेलुगु व्याकरण पढ़ाते हैं, लेकिन फिर भी प्रामाणिकता के लिए "बाल व्याकरण" से ही उदाहरण दिये जाते हैं। इसलिए आज भी किसी न किसी रूप में तेलुगु में पाणिनीय परंपरा सुरक्षित है।

विद्यानिवास मिश्र—

उत्तर भारतीय भाषाओं में पाणिनीय व्याकरण के विच्छिन्न होने की जो बात आपने (डा. विजयराघव रेड्डी) कही है, उसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि हिंदी को साहित्यिक भाषा के रूप में मान्यता सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले ही मिली है। इससे पहले ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा की मान्यता प्राप्त थी। उत्तर भारत में 16वीं सदी से लेकर 19वीं सदी के अंत तक संस्कृत के माध्यम से व्याकरण के चिंतन की ऐसी सुदीर्घ परंपरा विकसित हुई। लेकिन ये परंपरा संस्कृत आदि जानने वाले विद्वज्जनों तक ही सीमित रही। उस समय देशी भाषाओं के बारे में सोचना और उनके व्याकरण लिखना ही अनावश्यक समझा जाता रहा है। यही कारण है कि इन देशी भाषाओं का विकास पाणिनीय परंपरा से हटकर दूसरी तरह से ही हुआ। रेड्डी जी ने ठीक ही कहा है कि हिंदी भाषा की प्रकृति थोड़ी बदली और वह स्वतंत्र हुई। संस्कृत से शब्द उधार लिये जाने लगे। 20वीं सदी में तब फिर जो व्याकरण लिखे गये उनमें गड्डमड्ड हुआ। उसमें लातीनी व्याकरण लिया गया और पाणिनीय व्याकरण भी लिया गया। संधि-समास को समझाने के लिए। इसी प्रकार बहुत से अन्य कारक नियम आदि लिये गये। लेकिन इन लेखकों के दिमाग में पाणिनीय व्याकरण का सांचा स्पष्ट नहीं था। परिणामतः पाणिनी की गलत नकल की गई। पाणिनी व्याकरण की परंपरा तो नष्ट नहीं हुई। उसका उपयोग साहित्यिक ब्रज या साहित्यिक अवधी या साहित्यिक मैथिली या साहित्यिक खड़ी बोली के विश्लेषण और विवेचन में नहीं हुआ। मैं अब भी सोचता हूं कि पाणिनीय सांचे की अपनी सीमाएं हैं। हिंदी में पाणिनीय सांचे की बात करता हूं तो इन सीमाओं को भी ध्यान में रखता हूं। मैं यह नहीं कहता कि इन सांचों को

यथावत् लेना चाहिए, लेकिन चूंकि संस्कृत और हिंदी की चिंतन परंपरा में एकरूपता है, इसलिए मैं सोचता हूं कि हिंदी व्याकरण में पाणिनीय सांचों का परीक्षण किया जाए। परीक्षण के बाद हो सकता है कि हमें इन सांचों में कुछ मौलिक परिवर्तन करना पड़े। इस दिशा में परीक्षण और अनुसंधान की आवश्यकता है।

कृष्णस्वामी अय्यंगार—

एक बात मैं कहना चाहता हूं। रेड्डी जी ने एक बात उठाई है कि तेलुगु तथा कन्नड में पाणिनी के सांचे पर कुछ व्याकरण लिखे गये और डा. गोपाल शर्मा ने प्रश्न पूछा कि आजकल कौन-सा व्याकरण पढ़ाया जाता है। इसमें एक मौलिक अंतर है। मैं तेलुगु तो जानता नहीं। पर कन्नड़ के बारे में इतना कह सकता हूं कि कन्नड़ में चार व्याकरण बने हैं—दो संस्कृत के माध्यम से और दो कन्नड़ के माध्यम से। और इन चारों का आधार संस्कृत व्याकरण ही है। अंतर यह है कि उन लोगों ने आज से 400 साल पहले ही कन्नड़ भाषा का व्याकरण लिखा! 400 सालों में कन्नड़ भाषा बदल गई। आज अगर स्कूल और कालेजों में हम कन्नड़ भाषा पढ़ायें तो उन व्याकरणों से काम नहीं चलता। इसलिए कि भाषा का रूप बदल गया है। नागवर्मा और भट्टकलंक ने जो व्याकरण लिखे वे उस समय की भाषा के लिए ठीक थे और उन्होंने जो पाणिनि का आधार लिया वह सही ढंग से लिया। उसमें वे असफल नहीं रहे। उस समय की कन्नड को जानने के लिए नागवर्मा का व्याकरण पढ़ना पर्याप्त है, लेकिन आज की कन्नड़ को समझने के लिए आज का व्याकरण चाहिए। क्योंकि भाषा बदलती है। क्योंकि पंडित, शिरोमणि आदि परीक्षाओं में कन्नड़ भाषा का पुराना व्याकरण पढ़ाया जाता है। इससे पुरानी कन्नड को समझने में सहायता मिलती है। पाणिनि व्याकरण को आधार मानने से आधुनिकता से छूट नहीं मिलती। पाणिनि ने जो कुछ लिखा है वह भी अंतिम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संस्कृत में परिवर्तन के साथ-साथ पाणिनि के बाद भी संस्कृत के कई व्याकरण लिखे गये। इसलिए मेरा विचार है कि पाणिनि सांचे को आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करते हुए हम आधुनिकता से मुंह नहीं मोड़ सकते।

PETER E. HOOK

While the attempt to extend the Paninian tradition of description to the task of describing Hindi will have many important benefits, not the least of which would be the recruitment of the traditional Sanskrit Pandit to this new task, there are certain cautions One of them is that the Paninian tradition itself must not be accepted uncritically. For example, Dr. Misra has suggested that the concept of प्रीयमाण could be applied to Hindi as well as to

Sanskrit, yielding an explanation of the को in देवदत्त को रास्ते में लड्डू अच्छा लगता है। The difficulty with this is to that means we must define देवदत्त as the संप्रदान, not the कर्तृ of अच्छा लगना, Now in Hindi there are several rules that one cannot frame unless we consider देवदत्त to be the कर्तृ. For instance, अपना always refers to the कर्तृ :

देवदत्त को अपना मकान अच्छा नहीं लगता Not to the संप्रदान :

मुझे (अपनी)
मेरी किताब दे दो।

Secondly, the use of पूर्वकालिक कृदंत can only be defined by referring to कर्तृ : यह गाना बार-बार सुनकर भी मुझे पसंद नहीं आया Defining मुझे here as संप्रदान results in difficulties for the restriction on the use of पूर्वकालिक कृदंत, since we can not have उसने आकर मुझे किताब दे दी। in the meaning of : after I came he gave me the book. This difficulty exists also in Sanskrit.

इदमुपाख्यानं श्रुत्वा तुभ्यमन्यत्न रोचते।

Since for Panini the कर्तृ of रुच् must be अन्यत्न, this sentence cannot be squared with the rule समानकर्तृकेषु पूर्वकाले। I have discussed this problem in a paper published by the Chicago Linguistic Society's Proceedings (CLS XII) in 1976.

विद्यानिवास मिश्र—

Actually the obsolete costruction, in Sanskrit we find large number of such constructions. This इदं does not represent नमोवाच। इदं is an obsolete construction The situation in Mahabharata is different and that is why इदं श्रुत्वा is not necessarily related to the agent and मुझे आपकी बात सुनकर प्रसन्नता हुई, "प्रसन्नता होना" is a different construction altogether. It is not a parallel construction tc रचना, पसंद आना, प्रसन्नता हुई। प्रसन्नता is a subject. So most of the situations are quite different and as you said there are inherent contradictions in Panini's system. I know panini's contradictions. I would say the language changes and in the changed situation those rules did not fit in and they were reinterpreted the rules. Whatever may be Sanskrit was a language for communication, common for certain specific functions. It was a language and it remained

a language of discourse until last 19th century. I would like to say that even now it is also a language of discourse but a lmited sort of discourse and that language of discourse is undergoing a change. It had not only changed the Panini's Sanskrit but as you go through the language of 17th and 18th century or early 19th century's language it is the entire different language and you have to display that particular language through certain other devices. I propose that panini's system should be experimented because it is valid for systemic categories even now.

Secondly the frame work itself is binary and helps in understanding distinguished features and thirdly as you said the three aspects of language the addresse, the speaker and the situation have been covered by Panini and they are very important for language. Language is not merely an utterance. It has several dimensions. Panini's grammar and Panini's grammatical model is not a grammar. If you use this grammar for Hindi that will be absurd as I myself indicated and I did some observations in Kamata Prasad Guru's Vyakaran and Kishoridas's Vyakaran, they are absurd because they tried to just follow the Panini's grammar and the Panini does not fit in there. For these three reasons I feel that is worth experiment and nothing can be said unless we have tested it.

परंपरागत व्याकरण : सीमाएं और उपलब्धियां

—कृष्णकुमार गोस्वामी

व्याकरण एक भाषावैज्ञानिक विधा है जिसमें भाषा की विस्तृत सामग्री को व्यवस्थित तथा नियमबद्ध करने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में मानव-मस्तिष्क में भाषा-नियम अव्यक्त एवं अज्ञात रूप से रहते हैं और अज्ञात मन के इन नियमों का व्यक्त या ज्ञात कराना व्याकरण का प्रकार्य है : यह पैटर्न समूह को सामने लाता है और शब्दों, वाक्यों एवं प्रोक्ति निर्माण के संबंध में जानकारी देता है। इस प्रकार व्याकरण अपने भीतर विभिन्न पैटर्नों को संभाले होता है और उन्हें भाषा-प्रयोक्ता के लिए अर्थवान बनाता है।

भाषा का व्याकरण अपने प्रयोजन के अनुकूल विकसित होता है। जीवित भाषाओं के प्रवाहपूर्ण होने के कारण उसके नियमों का निर्धारण करना और जन-साधारण में उनका पालन कराना कठिन कार्य है। इसका निर्माण भाषा के प्रति दृष्टि और उसकी उपयोगिता उस युग के अनुसार देखकर होता है। इसी आधार पर व्याकरण की परंपरा हमारे सामने आई जिनमें परंपरागत, संरचनात्मक और रूपांतरण व्याकरण मुख्य हैं। इन व्याकरणों ने भाषा का अध्ययन एवं विश्लेषण अलग-अलग दृष्टि एवं उद्देश्यों के अनुसार करने का प्रयास किया।

परंपरागत व्याकरण मुख्य रूप से तर्कशास्त्र पर आधारित रहा है। इसने भाषा के शुद्ध एवं अशुद्ध रूपों पर ध्यान दिया है और अपने नियमों का जोरदार समर्थन करता रहा है। यही कारण है कि बोलचाल की वास्तविक उक्तियों की उपेक्षा करते हुए इसने भाषा के लिखित, मानक एवं आदर्श रूप पर अधिक ध्यान दिया। इसके अतिरिक्त परंपरागत वैयाकरणों में भाषा की 'स्वाभाविकता' और 'रूढ़िपरकता' पर काफी विवाद रहा है। इस विवाद से भाषा की उत्पत्ति और शब्द तथा उनके अर्थ के बीच के संबंधों पर विचार किया गया और यह भी प्रश्न उभर कर आया कि क्या भाषा नियमित होती है? इन दोनों विचारधाराओं में सैद्धांतिक मतभेद होते हुए भी यह सर्वमान्य रहा कि भाषाओं में नियमितता होती है। इस व्याकरण में ध्वनि, वाक्य और अर्थ को भाषा के अखंड तत्व स्वीकार किया गया।

इधर परंपरागत व्याकरण के विरोध में संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने भाषा की संरचना पर अधिक बल दिया। इन्होंने भाषा के निर्देशात्मक पक्ष को नकारते हुए भाषा के विवरणात्मक पक्ष पर ध्यान दिया। इनके मतानुसार परंपरागत व्याकरण न तो भाषा की मौखिक अभिव्यक्ति में सहायक है और न ही लिखित अभिव्यक्ति में। इन्होंने लिखित भाषा की अपेक्षा बोलचाल की भाषा को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इनका मूल आधार वाक्य विन्यास तथा ध्वनिप्रक्रिया भाषा के स्वायत्त घटक के रूप में है। इन्होने अर्थ-प्रक्रिया पर बहुत कम विचार किया। इसीलिए इनका अध्ययन परिशुद्ध भाषावैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित रहा है।

संरचनात्मक भाषाविज्ञान ने परंपरागत व्याकरण को विषय-वस्तु एवं प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से सदोष माना और इसीलिए यह व्याकरण भाषा शिक्षण के लिए उपयोगी नहीं माना गया। परंपरागत व्याकरण पर जो आक्षेप लगाए गए हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(1) यह व्याकरण आज के भाषा-प्रयोग पर विचार नहीं करता।

(2) यह केवल लिखित भाषा का ही विवरण देता है। वास्तव में यह न तो बोलचाल की भाषा का अध्ययन करता है और न ही भाषा के दोनों रूपों के अर्थात् मौखिक या लिखित रूपों के संबंधों पर विचार करता है।

(3) इसमें रूप-विचार पर अधिक बल दिया जाता है और वाक्य-विन्यास की प्रायः उपेक्षा की जाती है। संज्ञा, विशेषण, सर्वनाम आदि पर जितने पन्ने लिखे जाते हैं, उतने पन्ने वाक्य रचना की महत्वपूर्ण इकाई क्रिया पर नहीं दिए जाते। भाषा शिक्षण की दृष्टि से ये सभी गौण हैं।

(4) अध्येता को सही मिश्रित वाक्य रचना में सक्षम बनाने के लिए यह व्याकरण कोई नियम नहीं बताता। सभी प्रकार के प्रधान वाक्यों या उप-वाक्यों का विवरण तो देता है किंतु ये उपवाक्य किन नियमों के अंतर्गत जोड़े जाते है जिसमें अध्येता और अधिक मिश्रित वाक्यों की रचना स्वयं कर सके, इस ओर कोई संकेत नहीं करता।

(5) यह व्याकरण संस्कृत, लेटिन या ग्रीक आदि क्लासिकल भाषाओं के वर्गीकरण को लेकर अपनी भाषा की व्याख्या करता है।

इसी प्रकार प्रस्तुतीकरण के भी कई दोष बताए गए हैं। उदाहरण के लिए, एक ही समस्या से संबद्ध संरचना को एक ही स्थान पर न देकर यत्र-तत्र बिखरा हुआ दिया गया है। इसके अतिरिक्त कई परिभाषाएं अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष से पूर्ण हैं।

यह सही है कि परंपरागत व्याकरण की अपनी सीमाएं हैं किंतु इसकी जो अपनी उपलब्धियां हैं, उस ओर भाषाविज्ञानियों का ध्यान नहीं गया। परंपरागत व्याकरण ने भाषा को रूप और अर्थ के धरातल पर देखा जबकि भाषाविज्ञानियों ने अर्थ की प्रायः उपेक्षा की है। इसी आधार पर परंपरागत वैयाकरणों को अर्थ विज्ञानी का लेबल भी दिया गया हालांकि इन्होंने रूप पर भी बराबर बल दिया है। इसमें ध्यान देने की बात यह भी है कि संरचनात्मक भाषाविज्ञानी ने अपने परिशुद्ध भाषावैज्ञानिक विश्लेषण में कहीं न कहीं अर्थ का सहारा लेते रहे जबकि वे इसको अपने विश्लेषण का अंग नहीं मानते थे। बाद में रूपांतरण व्याकरण को तो अर्थ को भाषा-विश्लेषण का अंग स्वीकार करना पड़ा। इसीलिए रूपांतरण व्याकरण के प्रणेता चाम्स्की ने अपनी पुस्तक 'कार्टीज़ियन लिंग्विस्टिक्स (Cartesion Linguistics) में कहा है कि परंपरागत व्याकरणों में से कुछ ने तो व्याकरणिक तथ्यों का निरूपण तथाकथित संरचनात्मक व्याकरणों की अपेक्षा अधिक स्टीक और पूर्ण ढंग से किया है। इस प्रकार परंपरागत व्याकरण की उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता, जिनसे यह पता चलता है कि यह भाषावैज्ञानिक व्याकरण की अपेक्षा कितना सही एवं उपादेय है।

भाषावैज्ञानिक व्याकरण संक्रियात्मक वर्गीकरण (Operational Category) के आधार पर अपना अध्ययन करता है लेकिन लौकिक या तार्किक (Logical) संकल्पना अथवा वर्गीकरण को लेकर नहीं चलता, विशेषकर बोधात्मक स्तर पर। संरचनात्मक भाषाविज्ञान में हमें संक्रियात्मक उपकरणों के आधार पर निकटस्थ अवयव विश्लेषण की धारणा तो मिलती है लेकिन इसमें भाषा के दो महत्वपूर्ण पहलू कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों को जोड़ने का प्रयास नहीं किया गया। परंपरागत व्याकरण में लौकिक और व्याकरणिक दोनों स्तरों पर वाक्य का विश्लेषण करने की धारणा मिलती है। व्याकरणिक स्तर पर भाषा का विश्लेषण उसके भौतिक रूपों के वर्गीकरण के आधार पर किया जा सकता है। लौकिक स्तर पर शब्दों के संबंधों को अपने संबद्ध वास्तविक संसार से समझाया जा सकता है। इसमें यह देखा जाता है कि वाक्य में एक शब्द का दूसरे शब्द से क्या संबंध है? इन दोनों आधारों पर संज्ञा का विश्लेषण करने से पता चलेगा कि व्याकरणिक स्तर पर संज्ञा को बहुवचन में लाने में कौनसे प्रत्यय प्रयुक्त होंगे। जैसे लड़के, लड़कों, लड़कियां और लड़कियों आदि। लौकिक स्तर पर देखेंगे कि ये संज्ञा रूप क्रिया के साथ कर्ता या कर्म के रूप में किस प्रकार आते हैं? इसी प्रकार लौकिक स्तर पर काल और समय तथा लिंग विधान में 'जेंडर' और 'सैक्स' के संबंध जोड़ते हुए व्याकरणिक स्तर पर इनका अध्ययन किया जाता है। हिंदी में सर्वनाम पद्धति काफी जटिल है और उसका अध्ययन सामाजिक संरचना के आधार पर करना होगा। इसी आधार पर गुरु (सं० 2022) और वाजपेयी (सं० 2023) ने आदरसूचक सर्वनामों

की व्याख्या करने का प्रयास किया है। चाम्स्की (1965) जैसे भाषाविज्ञानियों ने इनको भाषा व्यवस्था से भिन्न माना है जबकि इससे भाषा के सूक्ष्म भेदों की जानकारी मिलती है। (यह ध्यान में रहे कि समाज भाषाविज्ञान की दृष्टि इस ओर अवश्य गई है)।

हिंदी परंपरागत व्याकरण में वाक्य और प्रयोग की संकल्पना को लौकिक और व्याकरणिक दोनों आधारों पर प्रस्तुत किया गया। इस संबंध में गुरु (सं० 2022) ने कहा कि 'संस्कृत में वाच्य का निर्णय केवल रूप पर हो सकता है, पर हिंदी में क्रिया के कई एक प्रयोग—जैसे लड़के ने पाठ पढ़ा, रानी ने सहेलियों को बुलाया, लड़कों को गाड़ी पर बिठाया जाए : ऐसे हैं जो रूप के अनुसार एक वाच्य में और अर्थ के अनुसार दूसरे वाच्य में आते हैं। इसलिए संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल रूप के आधार पर ही हिंदी में वाच्य का लक्षण करना कठिन है। यदि केवल रूप के आधार पर यह लक्षण किया जाएगा तो अर्थ के अनुसार वाच्य के कई संकीर्ण (संलग्न) विभाग करने पड़ेंगे और यह विषय सहज होने के बदले कठिन हो जाएगा' (255-56)। इसी मत के आधार पर गुरु ने 'वाच्य' और 'प्रयोग' में अंतर करने का प्रयत्न किया जबकि वाजपेयी (सं० 2023) ने संस्कृत वैयाकरणों की भांति इन दोनों को पर्यायवाची माना। इस समस्या पर आज के हिंदी भाषाविज्ञानियों (श्रीवास्तव, 1973) ने कार्य किया और गुरु के मत का समर्थन करते हुए इस संकल्पना को स्पष्ट किया। उदाहरण के लिए :

(1) लड़का रोटी खा रहा है।

(2) लड़के ने रोटी खाई।

पहले वाक्य में 'लड़का' लौकिक एवं व्याकरणिक स्तर पर कर्ता है और रोटी कर्म। दूसरे वाक्य में लौकिक स्तर पर 'लड़का' कर्ता है और व्याकरणिक स्तर पर कर्म है तथा रोटी लौकिक स्तर पर कर्म है जबकि व्याकरणिक स्तर पर कर्ता। अतः वाक्य (1) तो कर्तृवाच्य होगा ही किंतु वाक्य (2) पर विवाद है। गुरु ने वाक्य (2) को कर्तृवाच्य माना है और वाजपेयी ने कर्मवाच्य। प्रयोग के आधार पर श्रीवास्तव ने गुरु के मत की संपुष्टि करते हुए इन दोनों वाक्यों को क्रमशः कर्तरि प्रयोग और कर्मणि प्रयोग स्वीकार किया है। इस प्रकार हिंदी की संरचना के अनुसार वाच्य और प्रयोग में अंतर करना होगा। वाच्य का मूल स्तर लौकिक है तो प्रयोग का व्याकरणिक। कारक लौकिक या प्रकार्यात्मक संकल्पना है। किसी भी वाक्य को देखने के लिए लौकिक स्तर के साथ व्याकरणिक स्तर भेद भी देखना होगा। कर्ता हमेशा प्रथमा विभक्ति में हो या कर्म द्वितीया में, यह जरूरी नहीं है। अतः वाक्य को दो धरातलों पर देखना होगा।

इसी प्रकार कारक की संकल्पना संरचनात्मक या विवरणात्मक व्याकरण में संक्रियात्मक ढंग से रखी गई। रूपांतरण व्याकरण ने तो इसे छोड़ ही दिया। फ़िलमोर (1968) ने अपने 'केस फ़ार केस' निबंध में कारक सिद्धांत को वास्तव में परंपरागत व्याकरण की तरह प्रस्तुत किया। परंपरागत व्याकरण के आधार पर उसने वाक्य में क्रिया और संज्ञा तथा सर्वनाम पदों के बीच पाए जाने वाले संबंधों को ही कारक कहा है। ये संबंध अर्थ के आधार पर निश्चित किए गए हैं। अर्थ के आधार पर निर्धारित इन कारक संबंधों की संख्या सीमित है और ये भाषा विशेष न होकर भाषा सामान्य हैं। पाणिनि की कारक व्यवस्था और फ़िलमोर के कारक व्याकरण के संबंधों पर प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी किपार्स्की और स्टाल (1969) का निबंध और जगदेवसिंह (1970) का निबंध इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

यह सही है कि भाषा का लिखित रूप मौखिक रूप के न तो बराबर है और न ही उसका सही प्रतिनिधित्व करता है। इसके अतिरिक्त भाषा के मौखिक रूप में जिन स्वनों का समावेश होता है, वे लिखित रूप के चिह्नों से मेल नहीं खाते। इतना होते हुए भी यह तो कहा जा सकता है कि यदि भाषा का लिखित रूप मौखिक रूप का स्थान नहीं ले सकता तो कम से कम संप्रेषण के लिए यह उसके पूरक के रूप में अवश्य प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, देवनागरी लिपि में (1) वह कर्ता है और (2) वह (काम) करता है—इन दोनों वाक्यों में लिपि की सहायता से। 'कर्ता' और 'करता' को पृथक रूप में देखा जा सकता है। इसी प्रकार 'पा ली' और 'खा ली' क्रियाओं के पृथक रूप को देखा जा सकता है जबकि उच्चारण में ये 'पाली' और 'खाली' शब्दों के समान हैं (गोस्वामी, 1972)। 'अ-लोप' की समस्या, अनुनासिक्य-नासिक्य ध्वनियों के बारे में भी विचार किया जा सकता है। वास्तव में वर्ण और उच्चारण के संबंध पर न तो वैयाकरणों ने और न ही भाषाविज्ञानियों ने कोई गंभीर अध्ययन करने का प्रयास किया है। यदि वैयाकरण लिखित अभिव्यक्ति को विश्लेषण का मुख्य आधार मानते रहे तो भाषाविज्ञानी प्रधानतः मौखिक अभिव्यक्ति से ही जूझते रहे।

परंपरागत व्याकरण की निस्संदेह यह सीमा रही है कि यह शिक्षित वर्ग की भाषा के औपचारिक एवं लिखित रूप का व्याकरण रहा है। इसके विपरीत संरचनात्मक व्याकरण भाषा के मौखिक एवं अनौपचारिक रूप के अध्ययन पर बल देता है। यह शिक्षित और अशिक्षित वर्ग दोनों के अनौपचारिक संदर्भ में प्रयुक्त होने वाली भाषा पर ध्यान देता है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि परंपरागत व्याकरण की यह प्रमुख सीमा इसकी बड़ी शक्ति भी है। शिक्षा का माध्यम भाषा का मानक रूप रहा है और आज भी शिक्षा के लिए भाषा के मानक रूप को आधार बनाने की प्रवृत्ति है। यदि शिक्षा के माध्यम को समरूपी बनाना है तो भाषा के मानक रूप को अपनाना होगा जिसे परंपरागत व्याकरण अपनाए हुए है।

भाषाविज्ञानियों ने सार्वभौमिक व्याकरण लिखने के मोह में नियम-प्रधान

व्याकरण लिखने की बात कही है। इससे सामासिक व्याकरण (Composite) की संकल्पना नहीं आ पाई। दस-बारह नियमों से किसी भाषा को समेटा नहीं जा सकता। इस प्रकार का व्याकरण सिद्धांत के लिए सिद्धांत बन गया जो भाषा-विज्ञानियों को दृष्टि में रखे हुए हैं। परंपरागत व्याकरण 'सिद्धांत के लिए सिद्धांत' के आधार पर भाषा का विवरण नहीं देता वरन् भाषा को व्यवहार के स्तर पर ग्रहण करता है। इसीलिए इसके विवरण भी एक निश्चित शैक्षिक संदर्भ में दिए गए हैं। यह व्याकरण भाषाविदों के लिए भाषावैज्ञानिक विवरण नहीं देता बल्कि भाषा शिक्षक अथवा शिक्षार्थी की दृष्टि से भाषा का विवरण प्रस्तुत करता है। इसीलिए इनकी दृष्टि भाषा के हर पक्ष के साथ व्यापक रूप से रहती है। इसके विपरीत रूपांतरण व्याकरण में भाषा के किसी एक पक्ष पर व्यापक विश्लेषण तो मिल जाएगा लेकिन पूरा व्याकरण नहीं मिलता। इस दृष्टि से केलॉग (1876) और गुरु (सं० 2022) के व्याकरण सामासिक हैं जबकि यमुना काचरु (1966) आदि का नहीं।

यह आरोप प्राय लगाया जाता है कि परंपरागत व्याकरण एक ओर ग्रीक या लेटिन वर्गीकरण के आधार पर लिखे गए हैं और इसकी ओर संस्कृत व्याकरण के आधार पर भारतीय आर्य भाषाओं के व्याकरण हैं। यह वैयाकरण की सीमा है न कि व्याकरण की। समर्थ वैयाकरणों ने क्लासिक भाषाओं की वर्गीकरण का सहारा लेते हुए भी नई बातें प्रस्तुत की हैं। अंग्रेजी में यसपर्सन (1949) ने अपने व्याकरण में सर्जनात्मक प्रयोग किया है। हिंदी में केलॉग, गुरु और वाजपेयी के व्याकरणों में लेटिन या संस्कृत व्याकरणों का अंधानुकरण नहीं है। केलॉग (1876) ने संस्कृत और हिंदी क्रियाओं की रूप-रचना की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए हिंदी क्रियाओं का विश्लेषण किया। लेटिन या अंग्रेजी भाषा में पूर्वसर्ग और परसर्ग की संकल्पना मिलती है जबकि केलॉग ने हिंदी में परसर्ग को माना, पूर्व-सर्ग के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। गुरु ने सर्वनाम और विशेषण की संज्ञा से भिन्न वर्ग का शब्द प्रमाणित कर हिंदी की प्रकृति के अनुसार कार्य क्रिया और संज्ञा के वर्गीकरण को अधिक तर्कसंगत और सरल बनाने का प्रयास किया। हिंदी के सर्वनाम तू, तुम, आप आदि अपने हैं और वे संस्कृत या अंग्रेज़ी के आधार पर नहीं दिए गए। गुरु के व्याकरण में क्रिया विशेषणों के भेदों-उपभेदों का विशद विवेचन संस्कृत या अंग्रेजी के क्रिया विशेषणों का अंधानुकरण नहीं है। आगे वाजपेयी ने गुरु के अव्यय और क्रिया विशेषण को एक मानने का विरोध करते हुए उन्हें हिंदी की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग माना है। उनके मतानुसार जो अव्यय हो, वह क्रिया विशेषण भी जरूर हो, यह कोई नियम नहीं है। यदि कोई अव्यय क्रिया की विशेषता बतलाता है तब वह अवश्य क्रिया विशेषण होगा, अन्यथा हर्गिज़ नहीं। 'जब', 'तब' आदि समयसूचक क्रिया विशेषण नहीं हैं। इनसे क्रिया में कोई विशेषता मालूम नहीं होती। तब क्रिया विशेषण इन्हें कैसे कहा जाए।" (सं०

2000 : 70)। इसी प्रकार गुरु ने हिंदी में कारक और विभक्ति के अंतर को मानने में कठिनाई महसूस की है जबकि संस्कृत में कारक और विभक्ति में अंतर माना जाता है। इसके अतिरिक्त अनुनासिक व्यंजनों का स्ववर्गीय व्यंजनों के पूर्व प्रयोग तथा अनुस्वार का अंतस्थ और ऊष्म वर्ग के वर्णों के पूर्व प्रयोग करने की जो व्यवस्था संस्कृत वैयाकरणों ने दी, आर्येन्द्र शर्मा (1972) ने उन अनुनासिक व्यंजनों के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग की संकल्पना रखी जो भाषाविज्ञान के 'आर्कीफोनीम' से मेल खाती है। यदि हम यह आरोप परंपरागत व्याकरण पर लगाते हैं तो हमें भाषावैज्ञानिक व्याकरणों के प्रारूप को भी देखना होगा कि वे भी कहां किसी से प्रभावित तो नहीं हैं। रूपांतरण व्याकरण भी एक ऐसा प्रारूप नहीं दे पा रहा जिसमें भाषा विशेष की विशेषताओं को उद्घाटित किया जा सके। यमुना काचरु (1966) के 'इंट्रोडक्शन टू हिंदी सिंटेक्स' पर समीक्षा लिखते हुए मिल्लेर (1970) ने यह कहा कि यह व्याकरण हिंदी के उदाहरणों के आधार पर अंग्रेज़ी का व्याकरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परंपरागत व्याकरण में ऐसी विशेषताएं मिलती हैं जो भाषाविज्ञान में नहीं आ पाईं। इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषाविज्ञान ने मानव भाषा की आश्चर्यजनक जटिलताओं का और व्यक्ति की भाषा के विशिष्ट रूपों का उद्घाटन किया है। इसके अतिरिक्त भाषाविज्ञान ने भाषा के आधारभूत नियमों और भाषा के विवरण देने का सफल प्रयास किया है। अतः भाषा को और अधिक अच्छी तरह समझने के लिए भाषाविज्ञान की सहायता ली जा सकती है जिससे व्याकरण और अधिक उपादेय सिद्ध हो सकता है।

परंपरागत व्याकरण की एक सीमा यह भी रही है कि यह किसी निश्चित मॉडल या प्रारूप को आधार बना कर नहीं चला जिससे विश्लेषण की निश्चित पद्धति नहीं मिल पाई है। इसमें सामान्य या विस्तृत वक्तव्य देकर अपनी बात की जाती रही है लेकिन कोई व्यापक पैटर्न नहीं मिला। विश्लेषण का सुस्पष्ट प्रारूप भाषा-विज्ञान की सहायता से मिल सकता है। लेकिन यह कहना आवश्यक होगा कि भाषाविज्ञान का संतुलित सहयोग लिया जाए जिससे यह न हो कि व्याकरण अपना मूल उद्देश्य खो बैठे। भाषा शिक्षण में परंपरागत व्याकरण मुख्यतः मातृभाषा शिक्षण के लिए उपयोगी है तो अन्य भाषा शिक्षण में भाषाविज्ञान। भाषा के चारों कौशलों की जानकारी के बाद परंपरागत व्याकरण का अध्ययन करना अधिक संगत होगा। अत कहीं ऐसा न हो कि भाषाविज्ञान के उत्साह से भाषा के मानक रूप को विकृत किया जाए और उसके अध्ययन-अध्यापन पर प्रभाव पड़े। इसके अतिरिक्त यह कहना असंगत न होगा कि व्याकरण भाषा के मानक एवं लिखित रूप का विश्लेषण करता है; अतः उसका निर्देशात्मक पक्ष होना जरूरी है। लेकिन यह निर्देशात्मकता रूढ़ि-वादी विचारधारा के अनुकूल न हो वरन् उसमें लचीलेपन की भी कुछ न कुछ गुंजायश होनी चाहिए। यहीं व्याकरण की उपादेयता बढ़ जाएगी।

DEVELOPMENT OF LINGUISTIC THEORIES (GRAMMAR)

—D. D. Mahulkar

Grammar enshrines man's first conscious analytical activity in regard to the tool of communication adopted by the society in which he lived. There is plenty of truth in the view that this analytical activity was probably coeval with man's first efforts of writing his language. Such appears to have been the case with the ancient Greeks for whom grammar meant "the art or technique of writing *grámmata*, i.e., letters". It appears to have been otherwise with the Indians. They upheld the spoken form as the true 'incarnation' of language and tabooed writing. All their energies were primarily devoted to the analysis of the speech sounds of their language which led to the formulation of their early phonetic-grammatical works, the Śikṣā-s and the Prātiśākhya-s.

The main objective of this early grammatical activity, whether in India or in Greece, was the understanding and preservation of the religious literature of the community. This literature was believed to have been 'inspired' and hence all efforts to understand it was spent on its analysis. The analytical procedure started with the sentences of the text and going down the morphological forms reached the phonology. In this endeavour three distinctive fields of language study emerged : Morphology (the study of the organization of inflexions and their rules), Phonology (the study of the organization of the sound units) and Lexicon (the study of the words of free forms). While the morphological and phonological forms were the realities of language the lexical forms were theoretical constructs which formed, as it were, the fulcrum of the entire grammatical activity. Starting from the lexical form one could reach the phonological units by analysis and one could reach the morphological forms by synthesis :

Morphology ←——— Lexis ———→ Phonology
(synthesis) (analysis)

A comprehensive study of the relationships of these three fields constituted the discipline of Grammar.

While discussing this early phase of grammatical study two points must be carefully remembered. One, that this activity was an important part of a socio-religious duty that devolved upon a section of the community which was, so to say, the memory-storage of the community's heritage of religious literature. Secondly, that whatever linguistic-analytical activity emerged out of this effort was a part of a largely prescriptive-motivational code of the community's social life. The purely intellectual effort of pursuing the study of grammar as a *theory* of language appears to have been a very late development in the history of human progress.

Looking back to this early socio-programmatic activity it appears that one of the most important principles of theoretical procedure that emerged out of it was the procedure of segmentation and classification, or in one word, *taxonomy.* Though the word taxonomy has come to be used in a slightly derogatory sense (ever since Chomsky used it in his criticism of the linguistics of Bloomfieldian era), taxonomy served a useful role in fulfiling early man's curiosity to know what the things in this universe are ultimately made of. The Upaniṣads are full of this philosophical query in all aspects of life. While taxonomy searching for the ultimate coustituents of things could end only in speculation in other fields of life, it yielded in language a rich harvest of concrete data—phonetic as well as morphological—which could be practically handled to spin various networks of linguistic theories. These 'networks' emerged as various systems of grammars referred to in such an ancient work as Yāska's *Nirukta.* Various metaphorical models might have been at the back of the minds of these grammarians in composing their systems, models such as an organic body and its parts, a material substance and its elements, a piece of architecture and its sections, etc. The most recurrent model found in the writings of Saussure is that of a game of chess. It appears that the most appropriate model which appealed to the Hindu grammarian might have been that of *yajaña* the sacrificial ceremony. The priest collects various materials for the ceremony, similarly the grammarian gathers his linguistic materials,

(sounds, words, inflexions, etc). Like the priest the grammarian performs various *vidhi*-s which organize and arrange the material for sacrificial offering. Lastly, the entire procedure of sacrifice is organized in the form of a step-by-step derivation in a certain order having a beginning and an end. Grammar as it came to be shaped by Pāṇini in his Aṣṭādhyāyī appears to have taken the form following some such model and the sūtra-s are the rules which enable one to begin with the sounds and reach successfully the finished morphological form by a step-by-step derivational procedure. The whole procedure has the neatness and completeness of a mathematical formulation and it was this mathematical precision of the model which led a scholar like Max Müller to put Pāṇini's grammar on the same level as Euclid's Geometry.

When the European scholars came to be acquainted with Sanskrit during the 18th and 19th centuries Pāṇini's grammar and its methodology cast a great spell on their minds. Here was the grammar of a classical language so perfect in its logical form that it could be thought of as "one of the greatest monuments of human intelligence." (Bloomfield : 1933 ; 11) Pāṇinian model was soon adopted by Otto Böhtlingk (1815-1904) for writing the grammar of a language having a totally different gramatical structure, the Yakut language of Southern Russia (*Die Sprache der Jakuten*, 1851). Franz Finck (1857-1910) wrote an essay, Die Aufgabe und Gliederung der Sprachwissenschaft 1905, on the analytical techniques of Pāṇini. Adopting these he himself produced a grammar of eight different languages in his *Die Haupttypen des Sprachbaus*, 1910.

Unfortunately this European adoption of Pāṇinian model came at a time when scholars in Europe were occupied with the historical-comparative studies of languages. Hence the model failed to 'click'. The logical rigour of Pāṇini's grammar was systematically clarified again by Bloomfield in the Introduction to his 'Menomini Morphophonemics' (1929). This time again linguists in America were busy sharpening their tools for field work in phonemic analysis. Pāṇini was too far ahead of them.

Serious thinking about grammatical procedures began during the fifties when linguists noticed that phonological research is tied up with the morphological order. Before they could attempt any patchwork of morpho-phonological matters Chomsky launched a new programme of doing linguistics. In the Preface to his *Aspects of the*

Theory of Syntax (1965) he admitted that much of his approach lay anchored in Pāṇini's procedures. This gave the younger linguists a chance to look back to the Indian tradition of gramma with a new insight.

The linguistic world of the 1970's has been confronted with two important traditions of grammatical theory and practice :

1. The European tradition
2. The Indian tradition

Cutting across both these traditions is a third tradition

3. The tradition of Logic.

Both the Indian and the European traditions of grammar reveal that grammar has been tied up with logic right from its inception. Be it consciously or unconsciously, when the grammarian sets about his tasks of segmenting, classifying, categorizing, etc. he is either doing the job of a logician or borrowing from him. Right from the earliest days the grammarian, when he talked of his Nouns, Adjectives or Verbs, followed the lead of the logician. The logician's Subject and Predicate became the basic pattern of the grammarian's conception of the sentence. The two tasks became so integrated that logic and grammar came to be looked upon as two sides of the same coin during the 17th century in Europe.

The Indian grammarians did use logic but this was entirely linguistically oriented. It is in these matters that Pāṇini's Aṣṭādhyāyī has came to be looked upon as a *tour de force* among grammatical compositions. Whereas the European tradition of grammar adopting the philosophical-semantic definitions of the parts of speech finds it difficult to justify why words like 'sleep', 'dream' or 'fire' should be nouns though they are not the names of things, persons or places. The question does not simply arise in the Indian tradition. A thorough logical investigation of traditional European grammar as carried out by Hans Reichenback (*Elements of Symbolic Logic*, 1946) has revealed the foundations of quicksand on which the entire structure of their grammar has been built. It was therefore proclaimed at the Texas Conference (1967) that a new orientation of grammar was an urgent need of the day. A variety of grammars have since then sprung up like mushrooms everywhere: case grammar, functional grammar, relational grammar, generative grammar, dependency grammar, stratificational grammar, and a host of other smaller

varieties. None of them taken singly appears to offer an adequate, all-embracing theory of language. Taken together they remind one of the famous story of an elephant and seven blind men. It is extremely difficult to piece together the varieties of grammar so as to discover the points of agreement and disagreement among them, and it appears that for some time to come linguistics will remain scattered among these broken pieces, each reflecting this or that aspect of language in its own way but never the complete image of it.

A time was when every teacher could teach his pupils that an adjective is a word that qualifies a noun. Such were the adjectives 'tall', 'big', 'red', 'honest', and so on. Suddenly we are confronted with the question whether number-words such as 'two', 'three', 'twenty-five', etc. are adjectives. Traditional grammar misused texonomy by declaring that they are just 'numeral adjectives.' If they are, in what sense do they qualify the nouns they go with ? Are the chairs 'three' in the sense in which they are 'red' or 'small' ? We suddenly find the grammatical ground on which we were standing give way under our feet leaving nothing around to support us. The question regarding the grammar of adjective-words was posed by no less a person than the foremost logician of our century, G. Frege, who looked upon traditional grammar as full of flaws arising out of misleading philosophical definitions and assumptions. Until the discipline of grammar is purged of ill-founded assumptions and definitions no fresh grammatical research can be undertaken. Take, for example, the grammar of English in which it has been traditionally held that there are two types of 'articles' in it : the definite article (the) and the indefinite articles (a/an). The first question that comes for discussion is, what is an article ? There is no satisfactory answer to this question, for if it were said that articles precede nouns (a dog) it is found that they also precede adjectives (the rich). Nouns can be used without articles (Dogs are loyal creatures. Honesty is the best policy.), and sometimes when articles are used there are no nouns round about with which they go (The more you eat, the fatter you grow.) The 'article' section in English grammar thus badly needs overhauling. In fact it can be altogether dispensed with.

It was some such reform and reformulation of grammar that was contemplated by logicians like Frege, Wittgenstein and Reichenback but such a reform will have to apply certain logical (non-linguistic) criteria to natural language. Some linguists therefore resent this

logicians' remedy for language. This should go to a reinvigoration of linguistics as a science. The fact that a few matters appear to us amorphous in a natural language does not mean that they *are* amorphous. Perhaps there are laws of nature which we have not yet been able to grasp. Language is one of those few mysteries in human life which are at once a challange and a joy to man's intellectual and creative abilities. Like the laws of music or the laws of mathematics the laws of language might turn out to be far more universal and deeper than we so far deemed them to be. It was perhaps in this sense that Bloomfield wrote : "Linguistic science is a step in the self-realization of man. (Bloomfield : 1914, 325)

We must therefore consider some of the theoretical principles that have emerged in the various grammatical theories, principles which have been established and have been recognized as basic to any 'linguistic' approach to the understanding of the system of language :

1, Principle of Classification or Taxonomy

This is a basic scientific principle applicable to any phenomenon, linguistic or otherwise. Various methods and procedures of classification have emerged during the course of the last several hundred years in the field of language study. Two important linguistic fields have emerged with their own procedures of classification : Phonology and Morphology. Texonomy in these fields has resulted in discovering units or elements which remain isolated and apart.

Though these isolated units can be grouped together into various classes, there is no principle yet in our hand to guide us as to how the units get integrated in the process of language. This is where new grammatical research has to proceed ahead.

2. Principle of the Duality of Form and Content

An important principle which emerged out of the procedures of taxonomy is the principle of duality of form and content. All grammatical theories have at their basis this principle which enables them to identify and segment one linguistic unit from another. Grammatical analysis has to be formal, but meaning has been used as a

heuristic measure all through the centuries. Linguistic have now undertaken the task of formulating the Semantics of natural languages. This would enable future grammars to have a much more scientific procedure at their command.

3. Principle of Paradigmatic and Syntagmatic Relations

Linguistic units are found to hold among themselves two types of relations, paradigmatic (in a vertical commutation) and syntagmatic (in a horizontal ordering) relations. Through the grammarians have known these the first conscious formulation of them is to be found in Saussure (1916). Indian grammars of Sanskrit and European grammars of Greek and Latin have set forth plenty of paradigms of the inflected forms of nouns, adjectives, pronouns, verbs, etc. which led to such important grammatical notions as gender, number, person, case, etc. In fact, all grammars of classical languages are paradigm grammars *par excellence.*

However, grammarians have not been able to exploit all the wealth of the syntagmatic potentialities of languages. The British linguist J.R.Firth has rightly commented that American linguistics, even when it took rapid strides during the forties of the present century, remained largely confined to the paradigmatic procedures of phonemic analysis which was called "the principle of distribution." The Sanskrit grammarians made a major breakthrough in syntagmatic understanding when they treated of the *Sandhi* rules in phonology and the *Kāraka*-relations in sentences. European grammars treated of concord and government on somewhat similar lines. But it appears that much of the treatment of syntagmatic relations was confined to the surface level. Compare, for example, the remarks of V.S.Apte, one of the few grammarians of Sanskrit who treated of the subject of syntax in his *Students' Guide to Sanskrit Composition* (1881) :

> "In Sanskrit grammar, rules on Concord and Government are rarely given. The 'Kāraka-Prakaraṇa' in the *Siddhānta-Kaumudī* is popularly, though not correctly, taken to represent Syntax in Sanskrit ; but it represents only one of the parts of Syntax properly so called, i.e. Government." (p. 1-2).
> "In Sanskrit every word (except adverbs and particles) is inflected, and the grammatical inflexion itself shows the relation in which one word stands to another. Thus, *grammatically* speaking, there is no order as such that need be much attended to...But if there is no grammatical order, there is a sort of *logical* sequence of ideas, which must follow one another in a particular order." (p. 252)

Apte appears to have been the only grammarian who has ever talked of the logical order as different from the mere grammatical order in Sanskrit sentence structure.

It was in 1957 that Chomsky made a 'major breakthrough' in linguistics by proposing to undertake a thorough-going syntactic study of language. What has been the gain of Chomskyan study of grammatical theory ? A major gain has surely been that of a heightened awareness of the complexities of syntagmatic relations of units within language. The feeling of a few great linguists like Humboldt that the sentence should be the starting-point of all grammatical analysis io now fully confirmed and grammarians are exploring a variety of techniques to handle this mode of grammar. There is, however, n royal road from sentence to articulation, and the deeper the probe is done the more mysterious language becomes. A few younger linguists stand bewildered voicing the thoughts expressed by Paul Postal in 1971 :

> "Serious grammatical investigation at the moment is rather like traveling in quicksand. There are no firm supports. Every step is uncertain. Every move is questionable... There are few well-supported principles of grammar that can serve as a guide...We are, in short, really almost at the beginning of the study of the incredibly complex and still largely unknown domain of natural language grammar" (*Cross-over Phenomena,* 1971, p. 3)

Reading this one feels that gone are the golden (?) days when one could pin one's faith on a simple grammar of a classical language and drill the definitions and examples into the soft brains of innocent children. Grammar and its later pedagogical manuals have become an unfertile subject ; they have ceased to have any bearing on a living language. No wonder every child comes to dislike it. "Our present grammar as it is taught," concluded Reichenbach, "with its artificial

classification and gratuitous construction is based on obvious misunderstandings of the structure of language". (*Elements of Symbolic Logic*, 1946, p. 255)

Looking forward to the days when a 'modernized grammar' of our language would be written we find that there are at present four new forces which might go to shape these new grammars and their philosophy :

1. As linguistic researches since 1957 have revealed no consideration of a total grammar of any language can be done without taking into consideration its semantics and the still wider topic of epistemics. Such a view has been current since Frege. Deriving a great impetus from the writings of Wittgenstein, Reichenbach and others the semantic investigation has reached one peak of achievement in the writings of Richard Montague. 'Montague grammar' has become a subject of wide appeal and intensive research.

2. The philosophy of phenomenology as it was preached by Edmund Husserl (1859-1938) contained a doctrine called 'pure grammar'. Though largely unknown to linguists at large it has highly influenced thinkers of eastern Europe, especially the linguists of the Kazan and Prague schools. Works such as J. Derrida's *De la grammatologie* (1967) hold a great promise for the theory and philosophy of grammar of the future.

3. The great linguist Saussure had suggested that linguistics should be considered as a branch of the general science of Semiology. Saussure's suggestion lay dormant for nearly half a century. Semiology has now come to be seriously pursued since R. Barthes wrote his *Elements of Semiology* (1964). The subject has been making a great impact on understanding the language of literature, especially of poetry. Important theoretical researches along this line have come from Barthes himself, and from literary critics such as Lacan and Kristeva. The works of these writers are vitally connected with the aesthetics of language. They have been suggesting that not only in poetic language but in varying degrees in all language there is something which is heterogeneous to sense and signification. Grammatology is looked up to as supplying the viewpoint necessary for understanding the pattern of references which *precedes* speaking and writing. Traditional grammar and linguistics show no awareness of this.

4. Lastly, ever since William Labov initiated his researches into socio linguistics (from 1965 onwards) a great deal has come to light in languages as they are actually used in living societies today. Sociolinguistics has been supplying us with the necessary socio-historical perspectives on grammars of earlier stages as stratification and codification of linguistic codes. The need to compose a grammar such as that by Pāṇini could not have been pedagogical. What then prompted Pāṇini and others to devote their entire life-time to composing such imposing grammars ? We may venture to suggest that these works were undertaken by their composers in a zeal inspired by faith in a kind of structuralism in which everything was lusid man, his environment, his society, and the Creator. Everything was very well related to the other and the whole was simple and clear because it could be formalized. The notion of a formalized grammar thus formed a nucleus round which such a philosophy could twine its own threads. Here, said the grammarian, is man's world as well organized as God's universe. Everyone accepted the view for those who formulated it were the Seers. People admire the mere establishment of facts in primitive societies. However it is only the intelligent who seriously want to interpret them. In the history of grammatical writing the latter motive entered too late, only after 1820's when comparative-historical studies of languages confronted man with the 'why' and the 'wherefore' in grammatical considerations. Generations of Sanskrit scholars in the East, for example, have taken the facts of 'guṇa' and 'vṛiddhi' for granted as the great sage Pāṇini revealed these to them It was the comparative grammar of the 19th century which explained the 'why' of these phenomena of Sanskrit. And yet Indian grammarians are not yet inclined to know this.

The problem posed before us therefore is : Are the grammars of languages of the near future going to be mere codification of facts or are they going to be explanatory systems informing us how inspite of ourselves our social codes take the shape they do because they have their own laws of which we are hardly yet aware ? Our choice would be for the latter. Pure synchrony is an illusion ; every synchronic system contains within it its own past and future, seeds of its doing and undoing. Grammar has to be a theory which has to reveal this. A grammar which fails to do this is at the most "but a dead product of our bungling scientific analysis", in the words of Humboldt.

आधुनिक व्याकरण की चिंतन प्रवृत्तियां

उदयनारायण सिंह
श्र० ह० राजूरकर
अशोक कालरा
सूरजभान सिंह

GRAMMATICAL CATEGORIES AND GRAMMATICAL RELATIONS

—Udaya Narayana Singh

0. Introduction :

In this paper I shall attempt to summarize the arguments against the different brands of Transformational-Generative Grammar as advanced by the advocates of the study of "Grammatical Relations" in the recent years. I shall, then, show the weak points of "Relational Grammar" and finally suggest that the notions as grammatical categories and grammatical relations should both be incorporated within a theory of TG grammar.

1. The TG Position :

There are quite a few notions and beliefs that Transformationalists inherited from the *descriptive* or *structural* linguists. Some of these, such as turning a blind eye to the notion of meaning, were severely criticized in the beginning of seventies or even earlier. But some were spared until recently. One of them is the assumption that the *phrase structure* component is an essential part of a TG grammar and that by applying the methods such as *substitution* (Harris, 1946 : 161-3) and *expansion* (Wells, 1947 : 23) one can reach the notions such as NP, N, V, VP, ADJ, and ADV, etc., which are to be accepted as *primitives* for an analysis of syntactic structures of a language. The assumptions that the meaningful elements *must* be ordered in the *deep* structure and that grammatical relations are of marginal interest as these can be defined *automatically* by the structural configuration of word-classes in a tree diagram were too seductive for a syntactitian to question. The notion of grammatical relations was given a back seat by the TG grammarians in that they were described as useful mainly in the semantic interpretation (Katz and Postal, 1964) of sentence structures. Thus, according to Chomsky (1971 : 2), a syntactic transformation "is independent of

the grammatical relations or meanings expressed in these grammatical relations". Although it was felt by the theorists of TG grammar that the relational notions such as *subject* should not only be defined in a language independent way, but that "this characterization must be accomplished within the general theory of linguistic descriptions" (Katz and Postal, 1964 : 164), the definition they (in particular, Chomsky, 1965 : 69) came up with smacked of their obsession with generalization on the basis of a handful of languages showing a particular type of syntactic structure. I shall come back to this point later in course of summarizing the criticisms by the proponents of relational grammars of the TG position.

The context-free phrase structure rules in Chomsky (1965) included the following :

(1) i. S → NP VP

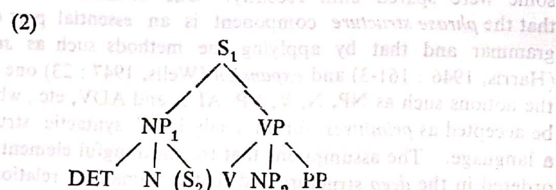
ii. VP → { Copula Predicate
V { (NP) (PP) (PP) (Manner) / S̄ }
Predicate }

iii. Predicate → { Adjective / (like) Predicate Nominal }

iv. NP → (Det) N (S′), etc....

A typical syntactic structure generated by these PS rules would be as follows :

(2)



The grammatical relations such as *subject, direct object,* and *indirect object* were defined with reference to these PS rules and tree structures in the following manner :

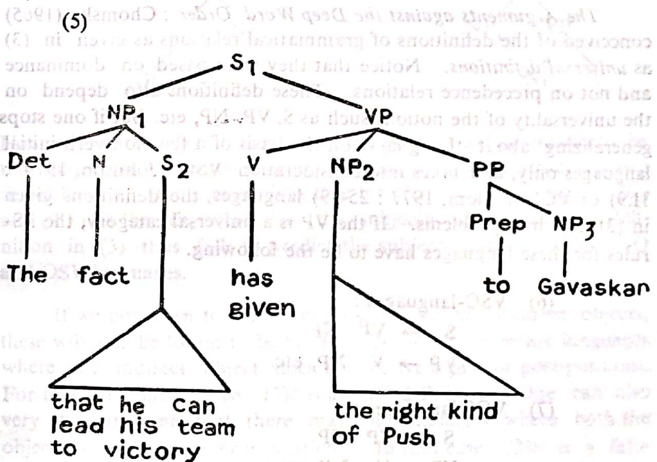
(3) a. Subject of = [NP, S]
b. Direct Object of = [NP, VP]
c. Indirect Object of = [PP, VP]

The definitions in (3) need, perhaps, a little more elaboration. (3)a states that the noun phrase which is immediately dominated by an S-node is the subject of the sentence. Under this definition, NP_1 in (2) is the subject of S_1. NP_2 in (2) is the direct object according to (3)b, because the NP directly dominated by a VP-node is to be called direct object. (3)c would show the PP dominated directly by VP in (2) to be the indirect object of this sentence structure. An example of (2) would make the definitions in (3) more explicit :

(4) The fact that he can lead his team to victory has given the right kind of push to Gavaskar.

The sentence in (4) has the same structure as in (2). A somewhat simplified tree diagram showing the constituent structure of (4) would look like (5) :

(5)



Notice that definition given in (3) automatically and correctly predicts that NP_1 in (5), i.e., *the fact that he can lead his team to victory* is the subject of the sentence in (4). In the same way, it also predicts that *the right kind of push* and *to Gavaskar* are direct and indirect objects, respectively. One can, therefore, draw a conclusion from the above demonstration that Grammatical Categories are the *primitives* of any generative theory of syntax and that Grammatical Relations are derivable from the constituent structure

of these categories and hence are secondary facts in a syntactic theory. However, such a generalization would be erroneous on many counts. A theoretical position such as follows would also miss a number of important generalizations about the syntactic structure of human languages. In the following paragraphs the arguments showing lacuna in the Chomskyan treatment of grammatical relations are presented and then an alternative theory of syntax—a theory which has come to be known as Relational Grammar—is outlined.

2. Arguments against the TG Position :

The arguments against the TG grammar as advanced by the relational grammarians can be categorized in the following manner :

The Arguments against the Deep Word Order : Chomsky (1965) conceived of the definitions of grammatical relations as given in (3) as *universal definitions*. Notice that they were based on dominance and not on precedence relations. These definitions also depend on the universality of the notions such as S, VP, NP, etc. But if one stops generalizing about 'Language' on the basis of a few non-verb initial languages only, and takes into consideration VSO (Johnson. 1974 : II.9) or VOS (Pullom, 1977 : 254-9) languages, the definitions given in (3) run into problems. If the VP is a universal category, the PS-rules for these languages have to be the following.

(6) VSO-languages :

S → VP NP
VP → V NP, etc.

(7) VOS-languages :

S → VP NP
VP → V NP, etc.

If we add to this the object-initial languages found in the Brazilian penninsula by Derbyshire and Pullom (1978)—the existance of which was described as an improbability by Pullom (1977) himself, then the PS-rules for these would look like as follows :

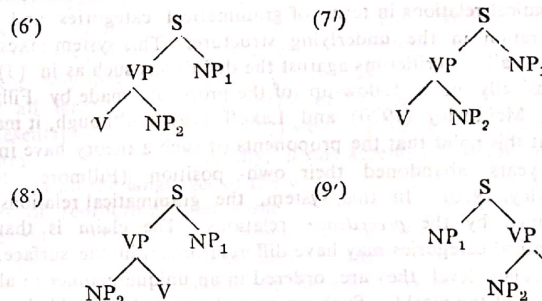
(8) OVS-languages :

S → VP NP
VP → NP V, etc.

(9) OSV-languages :

S → NP VP
VP → NP V, etc.

These four types of languages would thus have the following tree structures generated by their PS-rules as given in (6′)-(10′) :



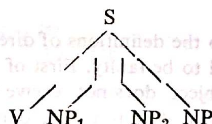
Now, given the definitions in (3), the NP_1 should *automatically* be the subject of a sentence in the languages showing structures (6′) through (9′). But though it is true for (7′) and (8′), in case of (6′) and (9′) it is the NP_2 which has the subjecthood. Chomsky's definition in (3) thus fails to predict the subject relationship for VSO and OSV languages.

If we now turn to the definitions of direct and indirect objects, these will also be found to be faulty. First of all, there are languages where the indirect object does not receive a pre- or post-positions. For these languages, then, (3)c is a false definition. One can also very well imagine that there may be languages where both the objects receive pre- or post-positions. In that case, (3)b is a false statement and (3)c is equally vague. It also shows that PP may not be a universal category. Also recall Chomsky's (1965) expansion of VP given in (1)ii. The VP, according to this definition, does not dominate a "unique" PP which could be described as the indirect object. It shows that either (1)ii is incorrect or that (3)c is false. Even if we accept (1)ii to be wrong, to save (3)c we have to assume that in all languages the NPs to be defined as indirect objects must have at a deeper level a pre- or post-position, which, in some languages, are deleted obligatorily. And, one can also hold that

languages such as Japanese, where both the objects show particles, the marker attached to the direct object should not be taken note of in writing the PS-rules for these languages, but that it should be introduced by a transformation at a later stage. However, the futility of such a position is too clear to be pointed out.

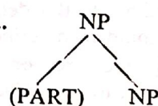
There seems to be only one alternative to the definition of grammatical relations in terms of grammatical categories and their configuration in the underlying structure. This system takes care of almost all the criticisms against the definitions such as in (3). It will basically be a follow-up of the proposals made by Fillmore (1968), McCawley (1970) and Lakoff (1970), although, it may be noted at this point that the proponents of such a theory have in the recent years abandoned their own position (Fillmore, 1977: McCawley, 1970). In this system, the grammatical relations will be defined by the *precedence* relations. The claim is that the grammatical categories may have different orders in the surface, but at a deeper level they are ordered in an unique manner in all the languages of the world. Such an underlying order could be VSO (McCawley, 1968), although all other word order possibilities could be equally good claimants to such an honour. The VP-node which is the source of most of the trouble faced by definitions in (3) could be dispensed with under such an analysis. All languages would have the following underlying representation :

(10)

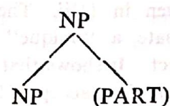


To cover those cases where there is a particle either preceding or following the noun, one can expand the NP-nodes in (10) in either of the following way :

(11) a.



(11) b.



Under this analysis, then, the relational notions can be defined in the following manner :

(12) a. NP/V__X=Subject of

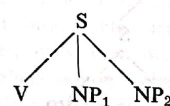
b. NP/V, NP__X=Direct Object of

c. NP/V, NP, NP__X=Indirect Object of

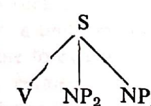
According to (12), NP_1, NP_2, and NP_3 in (10) would be subject, direct object and indirect object, respectively.

However attractive this proposal may seem, upon a second consideration, it does not look that seductive. Notice first of all that there is no reason why the relational notions should be defined in the way they have been in (12), because one may take a position that all languages have an SOV or SVO order in the underlying representation. In that case (12) would have to be taken as an arbitrary definition. Secondly, if one accepts (3) as the deep word order for all the languages of the world, one has to posit various types of reordering rules some of which may apply prior to any other rule. That is, for the languages which do not show VSO as an alternative order in the *surface*, such reorderings become a must. The definition does not have any explanatory value and is inadequate although it may point out the right relationship that an NP bears to the sentence it is used in. Thirdly, (12) is a circular definition in that if one asks, for instance; which NP is the *subject* of a particular sentence ? The answer would be— the NP that immediately follows the verb. Obviously, the next question is : How does one know whether a particular NP is to be ordered in the deep structure in such a way that it comes immediately after the verb ? The answer would be as follows : Simply find out the subject and place it after the verb. The answer is simple, but it is circular too. Fourthly, even if one holds that one should utilize only the precedence relationship, and that categories such as VP and PP are not universal, i.e., if one conceives of tree structures such as (6″) through (9″) instead of (6′) through (9′), one would face the same problems as mentioned above :

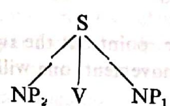
(6″)



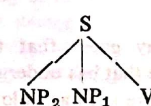
(7″)



(8″)

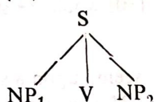


(9″)

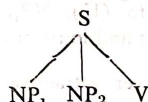


If one also adds SOV languages to this list, one would get the following structures :

(13) SVO-languages :



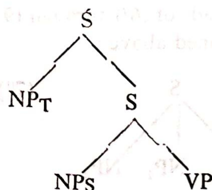
(14) SVO-languages :



Such a position as above would run into more difficulties than any other proposal, because here one cannot even use precedence relations to point out grammatical relations correctly. Notice that there is no difference in the structural configuration of (6″) and (7″). Similarly. (8″) and (13), and (9″) and (14) have the same structure. But in (6″), (13) and (9″), the NP that occurs first is subject, while in the other three, it is the second NP that is subject. Therefore, under this assumption, one cannot give a universal definition of the relational notions.

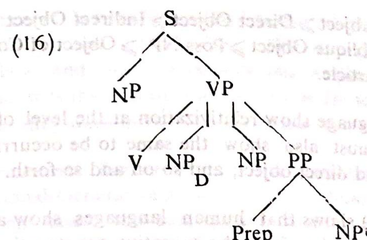
The Arguments Against TG Definitions of Surface Relations : One of the main defects in the definition of relational notions given by the transformationalists is that they left it vague as to how superficial grammatical relations should be defined. This may be due to a belief that they do not play important role in the surface structure. Chomsky (*1965* : 220-1) admitted, however, that in case of topicalization, one would find the S-node dominating two NPs at a time but that in such cases one could use the notion of precedence to define *subject* relationship. Johnson (1974 a : II-14) reports that one way to get out of this is to imagine that topicalized NP has been Chomsky-adjoined in the following way :

(15)



One may guess that to define or point out the two objects in a sentence that has undergone dative movement, one will have to have a structure such as follows :

(16)



(15) and (16) show that the moved NPs have to be marked in some way or the other or that the configurations have to be changed to accommodate these into the cases covered by (3). But ad hocness in such solutions is quite obvious even to a layman in syntactic theory. Moreover, since precedence relations are language-specfic and because Chomsky (1965) opts for such a notion to define surface grammatical relations, one must conclude that TG grammarians do not think that relational terms should be defined universally at the superficial level too. Now, if one can show that surface grammatical relations defined universally enables one to capture certain generalizations which are otherwise missing when one does not do so, it would make the TG position vulnerable. This is a point that emerges clearly from the discussion of the argument that comes next.

The Arguments Based on Language Universals : Keenan and Comrie (1972/1977) report that languages belonging to different language-families behave in a remarkably similar fashion in the manner they allow various "surface" grammatical relations to take a relative clause. If we assume that relations such as subject, direct object, indirect object, etc. are defined in a uniform way at the superficial level, only then we would be able to explain as to why relativization phenomenon behaves in this manner. They claim that these surface relations form a hierarchy as in (17) and that if language employs a relative clause formation strategy to a relation occupying a particular position in the hierarchy, all other relations that are higher than this relation must also show relative clause formation in that language.

(17) Subject $\geqslant$ Direct Object $\geqslant$ Indirect Object $\geqslant$ Oblique Object $\geqslant$ Poss-NP $\geqslant$ Object of Comparative Particle.

Thus, if a language show relativization at the level of, say indirect object, it must also show the same to be occurring at the levels of subject, and direct object, and so on and so forth.

Comrie (1974) shows that human languages show a *tendency* universal in the way they form the causative constructions. Here again, the hierarchy in (17), better known as Accessibility Hierarchy, is followed. The general tendency is that when a causer is introduced as an agent into a sentence, the original subject loses its subjecthood and gets demoted to the next higher position in the sentence which is lying vacant. Thus, if the sentence concerned is an intransitive sentence, i.e., if it has originally only a subject, with the introduction of causer or agent, the original subject would become the direct object. If the sentence is transitive thereby involving a subject and a (direct) object, the causer would push this subject as low as the indirect object position. Similarly, the subject will be demoted to an oblique position, if the sentence concerned is di-transitive. This is a further proof that grammatical relations (even at a superficial level) could be used in the study of language universals. It would be impossible to translate these and many other universals based on relational notions in terms of grammatical categories.

Johnson (1974 b) shows that rules that give rise to derived subjects also follow the same hierarchy of grammatical relations. His *Advancements-to-Subject-Chaining Constraint* shows that if one is able to derive subject from indirect object position, it can not be the case that in that language, direct objects cannot be made subject. Notice that it does not say that all languages must have rules to create subjects from all positions. He also shows (Johnson, 1977) that rules that promote Indirect Objects, Benefactives, Instrumentals, and Commitatives also follow the relational hierarchy.

Perlmutter and Postal (1974) had proposed a number of universals that utilize the notions such as subject and object. They included Reflexivization and Coreference Deletion and a number of other phenomena. Similarly, Perlmutter and Postal (1978) also talks about a number of generalizations which they call the oblique law,

stratal uniqueness law, chômeur law, motivated chômage law, final *l*-law and the nuclear dummy law. We would not go into the details of these and other generalizations about '*Language*', but what these show is that grammatical relations are to be taken more seriously than they were in the TG tradition.

The Arguments Regarding-the Characterization of Rules ; The Transformational-Generative grammar has the following assumption that "...in all cases, the rule applies blindly, caring nothing for these differences (= differences of relational notions). Thus, in an important sense, the rules are structure-dependent and only structure dependent. Technically, they are rules that apply to abstract labeled bracketing of sentences......, not to systems of grammatical or semantic relations" (Chomsky, 1971 : 31). Such a characterization of syntactic rules can be shown to be false if it could be proved that a syntactic rule written in term of grammatical relations captures new insights about 'Language'. By looking into the nature of one rule—passive formation, one can show why TG characterization of this rule is not acceptable. To capture the notion of passivization, TG grammarians employed a number of criteria to suit the idiosyncracies in the passive rule of different languages. These criteria included 'word order', 'case', and 'verb marking'. Notice that none of these could be used consistently and universally. For instance, one can think of at least the following types of word order changes, if not more, when Passivization applies :

(18) a. No change ; e.g., Cebuano (Bell, 1976), Chuj (Johnson, 1978)

b. $NP_1—V—NP_2 \Rightarrow NP_2—V—NP_1$; e.g., English (Chomsky, 1957, 1970), Albanian (Johnson, 1978)

c. $NP_1—NP_2—V \Rightarrow NP_2—NP_1—V$; e.g., Turkish (Perlmutter and Postal, 1977 Japanese (Kuno, 1973)

d. $V—NP_2—NP_1 \Rightarrow V—NP_1—NP_2$; e.g., Malagasy (Keenan, 1972)

e. $V—NP_1—NP_2 \Rightarrow V—NP_2—NP_1$; e.g., Nitinat (Klokied, 1975)

In (18)b—(18)e, NP_1 in the left column is the original subject and NP_2 is the direct object. In all such cases in the other column, NP_2

is the (derived) subject and NP_1 an oblique object of some kind. Also note that (18) is somewhat simplified in that the passive marker in the verb and other phenomena have not been shown here. From (18), one can easily understand the futility of using *'word order'* as a criterion to characterize a universal passive rule. Similarly, the criterion of 'case' also fails to cover all cases, because one faces at least the following situations with regard to case marking :

(19) a. No overt case marking ; e.g., English, Indonesian (Perlmutter and Postal, 1977)

b. Nominative-Accusative system, where : NP_{Nom} — NP_{Acc} ⇒ NP_{Obl} — NP_{Nom} ; e.g., Latin (where the oblique is ablative) and Russian (where the oblique is instrumental)

c. Ergative-Absolutive system, where : NP_{Erg} — NP_{Abs} ⇒ NP_{Obl} — NP_{Abs} ; e.g., West Greenlandic Eskimo (Rischel, 1975), where the oblique is instrumental

d. Ergative-Absolutive system, where even in passive, the case marking remains unchanged ; e.g., Basque (Lafitte, 1962)

The types noted in (19) would multiply if one takes into account the word order changes that accompany the change in case marking. For instance, in Eskimo, the case-marking for Absolute does not change, but it is fronted. Similar things happen in Latin and Russian. The position of V is another thing that has been ignored here for the sake of simplification. In spite of this, it is quite clear from the typology of case-marking in passive-formation that 'case' cannot be a criterion in defining passivization as a universal phenomenon. If we turn towards *Verb morphology,* the situation would seem more hopeless. This is because verb morphology may involve prefixation, infixation, suffixation or an introduction of a non-finite form plus an AUX, and it is not clear as to how one can think of a language-independent 'passive morphology'. Then, there are languages like Mandarin Chinese (Cummins, 1976) where the shape of the verb remains the same when an active sentence undergoes passivization. Here the object NP is simply fronted and a particle *bei by* is placed before the doer. All these point out that TG grammar fails miserably in characterizing passive rule in a language-independent manner. The reason may be either that they used wrong criteria so far or that passive IS a language-particular rule. Perlmutter and Postal (1977) argue that the former is true in this case. They hold that the right criterion would be the notion of *grammatical relations.* By using such a criterion, they come up with the following generalization about passivization and the way it works in different languages. (22), they claim would be a consequence of (20) and (21) :

(20) An active *direct object* becomes a *derived* (or superficial) *subject* in the passive clause,

(21) The (Original) *subject* of this active clause is neither the subject nor the (Superficial) *direct object* of the corresponding passive sentence.

(22) In the absence of a *Direct-Object Creating rule* in a particular language, which can fill in the gap laft over by the promotion of direct object to the subjecthood, the passive clause in that language would be a '(Superficially) intransitive clause'.

(20) and (21) could be roughly characterized in the following way (Johnson, 1977 : 154) :

(23) Passive (in relational terms) (DO—S)

a. DO (A, V_i)→S (A, V_i)

b. S (B, V_i)→X (B, V_i)

3. Relational Grammar : An Outline :

Relational Grammar (henceforth, RG) originated from a generative tradition of grammar-writing because of a general dissatisfaction of the way syntactic facts were handled by the transformationalists. But within a span of less than a decade, one witnessed a number of changes in the formulation of RG. As if to look very different from the traditional TG grammar, the proponents of RG came up with what is now known as Arc Pair Grammar (henceforth, APG). Both RG and APG introduced a whole lot of new terms

and conventions, and presented the (already confused) analyst with a set of postulates, devices and laws. I shall discuss them very briefly in a rather diluted and non-technical way in the following paragraphs. However, I shall confine myself to the discussion of RG only, because a discussion on APG would not be possible within the limited space and time that I have here.

The theory of Relational Grammar, to my mind, was developed by one-time generativists as well as by the syntactitians interested in the comparison of various syntactic processes across different language-families, and this is why RG has had two distinct streams of development. While the former linguists went on to develop RG into APG showing as keen an interest in rigorous formalisms as the TG grammarians, the latter seem to have lost faith in exploiting the notion of *grammatical relations* to such an extent. These two approaches may be called generative and universalistic, respectively. I shall now outline the basic assumptions and hypotheses of RG as developed in the early seventies by Perlmutter and Postal (1974), Johnson (1974 a, 1974 b), Keenan (1972, 1975 a, 1975 b), Keenan and Comrie (1972), Trithart (1975), Comrie (1974), Bell (1974 a, 1974 b) and others.

When Keenan and Comrie (1972, and later published as 1977) worked on a number of languages across different language-families, they were trying to do several things : (1) They wanted that the attention of linguists should go to a wide variety of languages rather than being restricted to the nature of a few well-known Western languages ; (2) they were interested in comparing languages by employing certain criteria which were independent of a particular model of grammar ; and (3) they wanted to show that (1) and (2) may help us in gaining new insights about universal grammar. Thus, at that point, they did not envisage that their research might lead a number of linguists to construct the theory of RG. They point out that with reference to grammatical relations, languages behave in a strikingly similar way. Their Accessibility Hierarchy as given in (17) received support from the works done by Johnson (1974 b) and Trithart (1975) who showed that certain other rules also maintain such a hierarchy. In the Linguistics Institute in the summer of 1974, Perlmutter and Postal came up with some concrete proposals for an alternative to the TG grammar. In their model, they called Subject (SU), Direct Object (DO), and Indirect Object (IO) as *terms*, out of which only the first two were *primaries*, whereas *non-terms* were all types of oblique objects such as instrumental, ablative, locative, possessive, and others. All types of Oblique Objects (OO) and IO would, then, be called non-primaries. Grammar was thought to involve two different representations (in the pattern of deep and surface structure in the TG tradition) of grammatical relations, and a number of syntactic rules were conceived as the bridges between the underlying and surface grammatical relations. These relation-changing rules were also believed to be cyclic. The underlying representation of grammatical relations do not involve the notions such as *dominance* and *precedence*, and hence there is nothing parallel to PS-rules of TG in the RG theory. This also means that grammatical relations such as SU, DO, IO, and OO were taken as basic, undefined and undefinable (although Keenan 1975 a had tried to define SU) 'primitives' in RG, and that there was no place for the notion of *grammatical categories* in this theory. The surface orders were thought to be results of the application of post-cyclic movement rules of different types. All derivations in a particular language and grammars of all languages were thought to be conditioned by a set of universal principles (called *laws* by the authors). It was beleived that this set of laws would also define the *possible grammar of natural languages*. They were, thus, interested in finding out as to what rules would be found in human languages, and given a set of possible rules, which ones would be selected by particular languages, and what would constraint such a selection ? The *laws* included the following, among other principles :

(24) *Cyclicity Law* : Operations that alter termhood status of NPs are cyclic.

(25) *Relational Annihilation Law* : NPs whose grammatical relations have been taken over by another (as it happens in passivization, see 20 and 23a) cease to bear any grammatical relation to their verb. (In that case they are *demoted* to non-term or *chômeur* status. Notice that in passive clause, where the DO becomes the SU, the original SU does not become DO ; rather it becomes an OO).

(26) *The Agreement Law* : Only terms can trigger verb agreement (i.e., OOs cannot control the same).

(27) *Reflexivization Law* : Only terms can trigger reflexivization (i.e., OOs cannot).

(28) *Coreferential Deletion Law* : Only terms can trigger coreferential deletion.

(29) *The Reranking Law* : A rule that alters the status of an NP with respect to termhood must increase the rank of that NP (RG *rank* is equivalent to TG notion of *commands*, but it also indicates the rank in the relational hierarchy. This law states that relation-changing rules would either promote an NP into a higher clause or increase its relational status. It also implies that such a rule can never demote an SU to DO or IO, or from DO of a higher clause to IO of a lower clause).

(30) *Advance Laziness Law* : An NP undergoing advancement will advance to the lowest point in the hierarchy permitted by universal and language-particular conditions (Advancement rules change the *rank* of an NP, and are different from Ascension rules where a part of an NP usurps the *rank* of the NP which embeds the former, e.g., subject-to-object raising. Passivization, Subjectivalization of the dative, etc. are examples of advancement rules. This law states that a rule which advances an IO to a position higher than IO would automatically advance IO to DO and SU both, unless the language concerned has restrictions on, say, DO-formation).

Johnson (1974a) had an idea of *relationally-based* grammar similar to that of Perlmutter and Postal (1974). Johnson (1974 a) assumed that each sentence has an 'Underlying Relational Network', on which 'Trans-Relational Rules' would apply, followed by a set of 'Linearization Rules' to generate the surface sentence structures. A relational network (RN) is either a lexical category (such as N and V) or a set of relational networks in which there is a 'Governor'—a grammatically independent unit, on which depend all other members. If a relational network is part of another relational network, then the former would be described as a 'Relational Sub-network'. Trans-relational rules would "map" RNs into RNs by changing the status of an NP in a particular clause. All such rules would in a format of '*Relational Description*' (RD, parallel to TG : SD) and

Relational Change (RC= SC in TG tradition). These rules *promote* (through ascension or advancement) the ranks of NPs and such promotions necessiate *demotions* of the NP (holding a status which was assigned to another NP), and a principle similar to that in (25) would demote this NP to an CO level. Such a demotion is called *X-Rating*, i.e , the demoted NPs which had a SU, DO or IO status would now have *X* or $\hat{CH}$ (=Chômeur) status. The linearization rules in each language would follow two general principles, and they are as follows :

(31) All linearization occurs with respect to the domain of a governor.

(32) X-rated elements can be linearized in any order with respect to each other.

The latter principle suggests that if there are three X-rated elements, A, B, and C, then they may have any of the following arrangements: ABC, ACB, BAC, BCA, CAB, and CBA. However, all such orders could be found only if A, B, and C belonged to the same relational sub-network governed by the same verb, i e., if they are of the same rank. Thus, although one can have (33)b and c, (33)d is an impossibility :

(33) a. *Mary* believed *that John photographed Roxie.*

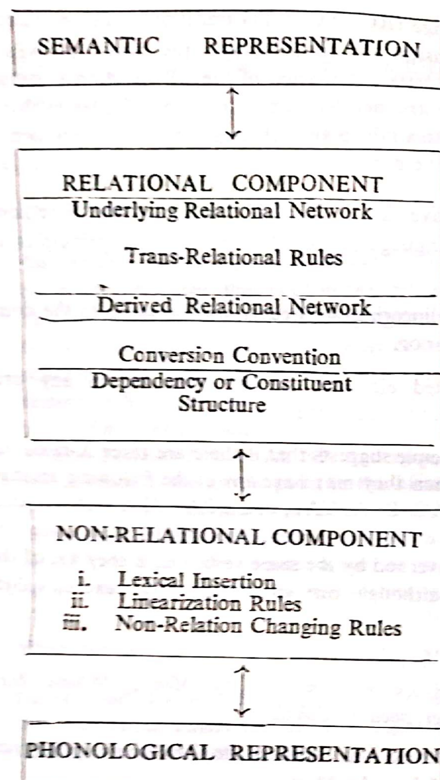
b. Roxie was believed *by Mary*$_{xi}$ *to have been photographed by Jahn.*$_{xj}$

c Roxie was believed *to have been photographed by John*$_{xj}$ by Mary$_{xi}$.

d, Roxie was believed *to have been photographed by Mary by John.*

In (33)d, *by Mary*, an X-rated element has been allowed to be ordered before *by John*, an X-rated element of a different clause level.

Johnson (1974 a) had also thought of a way of translating the final relational network into a constituent structure showing different grammatical categories on the tree. The non-relation-changing rules would apply on this structure. His basic organization of a relationally-based grammar (with minor modifications and elaboration) is as follows :



Notice that the trans-relational rules are cyclic and among the linearization and non-relation changing rules, some rules may have *priority* (="ordering" in TG) over the others. And it is possible that all non-relation-changing rules are actually linearization rules, and that there is no distinction between the two. It may also be noted that the *tail* of the Accessibility Hierarchy in (17) was blunted by the RG theorists who proposed a *Relational Hierarchy* (RH) in the following way :

(35) SU < DO < IO < OO

The RH was considered to be a universal statement which all laws of RG refer to. The implication of a universal such as in (35) is

that all of these relations are distinguished by all languages. Also note that in (34) above, both the relational and non-relational component may show in addition to universal constraints on them many more conditions which are language-particular.

4. A Critique of Relational Grammar :

There are several important ways in which one can show that Relational Grammar as it has been outlined in the earlier section is devient in some respects. Notice that RG and its principles are based on the Relational Hierarchy (RH). Therefore, the best way to begin would be to show that RH and the assumptions RG makes about it are lacunar. Gary and Keenan (1977) show that in Kinyarwanda, a Bantu language, the relational term IO does not exist, and that the NPs that are semantically *Recipient* and *Benefactive* behave syntactically in the same way as DOs do. For instance, DOs have the following properties in Kinyarwanda, which are shared by these two semantic classes. This language has a SU-V-DO-OO order, where SU and DOs do not show case-marking while OOs take prepositions ; only SU triggers verb agreement ; DOs are/ reflexivizable, while OOs are not ; both SU and DO show a shadow pronoun in the verb under pronominalization, whereas certain types of OOs which are pronominalizable take independent form of pronouns ; the optional passive rule promotes DOs to subjecthood and demotes SUs to OO level ; and, SU and DO are accessible to relativization, while OOs are not. The recipient and the benefactive behave exactly in the same way as the DO, and in most of the instances they occur before the DO, but after the verb. They are as different from OOs as DOs are. If this analysis is correct, then, it shows that all the languages may not show all the positions on RH, and that a language may show doubling at a particular level. This leads to a conclusion that RH is not a universal syntactic fact. Another instance of syntactic doubling comes from the causativization rule (cf. Comrie, 1974 : 11-19). With the introduction of a causer, the causee SU gets demoted to the next available vacant position in such constructions (cf. Section 2 for a discussion). But some languages do allow the original SU either to remain SU, or to demote this causee to another level in the RH which is already occupied by another NP. For instance, Park (1973) and Kuno (1973) give examples from Korean and Japanese, respectively, of multiple subject constructions.

On the DO level, doublings are found in Latin, Ancient Greek, Hebrew, Arabic and Sanskrit (cf. Comrie, 1974). IO-level doublings were found to be commonest, and it occurs in Punjabi, French, Tagalog, Georgian, and in some dialects of Turkish. All these show again that the relational annihilation law as defined in (25) is not a universal principle. Also, such demotions to termhood violate the reranking law as formulated in (29). Notice that it is logical to expect doubling on the term levels (i.e., on SU, DO, and IO) as OO in RH assimilates a number of categories such as locatives, ablatives, instrumentals, etc. Finally, another source of doubling is the impersonal passive construction attested in Spanish, Latin, German, Polish, Dutch, Finnish and other languages, where in passive clauses, objects are not promoted but subjects are demoted to other termhood status. If this is the only way of forming passivization, then (23) is no more a *universal* passive rule. It also shows that in the superficial level, SU need not be expected in all the constructions of human languages. Lastly, the X-Rating Convention (Johnson, 1974) which pushes the *usurped* NPs to OO level does not seem to work here and two DOs or IOs are allowed to stay in surface when such a passive rule operates. An example of demotion without promotion near home would be Bengali constructions such as in (36)c as against (36)b such as follows :

(36) a. aami eTaake bhaalo mone kori
I + SU it + DO good mind + loc + do + pres + agr
"I think it to be good".

b. aamaar eTaa bhaalo mone hOe
I + C O (Poss) it + SU be + pres + agr
"It is thought to be good by me".

c. aamaar eTaake bhaalo mone hOe
I + OO it + DO
"It is thought to be good by me".

Johnson (1974a) had himself shown that Ergative-Absolutive languages such as Dyirbal followed a hierarchy which was very different from AH (cf. 17) and RH (cf. 35). It has a hierarchy such as follows :

(37) The Ergative Hierarchy (EH)
SU of intransitive/Do ≥ SU of transitive ≥ IO ≥ OO...

Without going into details of EH, one can only say that given the fact that it exists, it would imply that RH in (35) is not a universal. Hence, the laws that make use of RH are also of typological nature. There is also evidence that some of these laws are not part of the 'legal' code of particular languages. One such law is the agreement law as in (26). Lawler (1977 : 225) reports that "Perlmutter and Postal's original claim, which seems to be supported by evidence from most languages with verb agreement, was that such agreement could only be triggered by terms...and further, that these must be cyclic terms of the clause in which agreement takes place...". This position follows from the assumptions that the rules in the relational component are cyclic, while those in the non-relation-changing ones are probably ordered but not cyclic, and that the former rules apply before the latter. In Lawler (1975, 1977), there was ample proof that at least in one language, Achenese, verbs agreed with the pre-cyclic terms, i.e., SUs, DOs, and IOs of the Underlying Relational Network. What it means is that in some languages, the organization of grammar may be such that some of the non-relational changing rules can or must be ordered before any of the trans-relational rules apply. This, in turn, implies that the organization of RG as in (34) is also at best a typological statement and is no more a universal. Recently, I showed that in another language, Maithili, OOs also control and trigger verb agreement in the same way as any other relational term would do. Thus, it is claimed there (U.N. Singh, 1978) that RG should be satisfied with a weaker principle than (26), which says that

(38) The NPs which control verb agreement, if any, include b-subjects (Keenan, 1976)

What happens in Maithili is that the sentences where OOs control verb agreement, the SUs also retain control over the same.

5. Conclusion :

The evidences presented in the section § 4 shows quite clearly that there are many loopholes in the formalization of the RG as sketched in section § 3. At the same time, it is also true that a definition of grammatical relations on the basis of grammatical categories as given in section § 1 runs into a number of problems which were pointed out in § 2. The obvious question that an analyst sitting with a body of language-corpus to write a grammar would

raise is : What do I do ? Should I continue doing the way things are done in the TG tradition, depending largely on an analysis of structured categories, or write a relational grammar there by accepting grammatical relations as the primitives of grammar ? The answer to this question, I feel, should be : None. Because, it is my belief that insights of both TG and RG could be incorporated into a theory that makes use of both categorial and relational notions. At this stage of research I am not quite clear as to how one should do so, but I do hope that this seminar will show the right directions for research in the field of syntax, and suggest a way out of this problem.

विचार-विमर्श

लक्ष्मीबाई—

What is subject and object ? How you define subject and object ?

उदयनारायण सिंह—

The very wrong point of view to say that I could not see the whole definition of subject and object. I may repeat some of these things for a new information. If you look into pages 90 to 94 I have taken for granted that the work by Puller, Brainberg and others that they say these are languages with VOS, SOV, SVo word order. I taken it for granted that there exists something on the basis of that only we show that they insist the object. Otherwise how else we are going to prove the dominance important in TG grammar. How we are going to write PS rule for No. 6. All we have to say that this goes to VP NP and this to NP VP.

Within the frame of relational grammar there are two schools : one school has been called the Universalistic and another is called the Mentalistic school, which is recognized by Postal. Within the frame work of universalistic school they tried to define subject. They indeed tried to define what the basic sentence is. Not all the criteria is found in all the language but in many those are found, we say subject is something. In the latest school the argument is said that they show that the subject or direct object are non defined. The Relation Grammar show that these notions are primitive but not only primitive which can be defined but which can never be defined. That is why I have taken it for granted that subject, object, direct object these are adjectives.

ज्ञानमल मेहता—

On Universalistic categories of grammar, the people might have worked on two or three languages and may have come to some type of conclusion. My point is as you have earlier said these

models have spread the doubt. Should we nourish universal categories of grammar saying universal categories of grammar are language universals and form a universal grammar ?

उदयनारायण सिंह—

I tried humbly to mention what relational grammar can do. I totally differ from you when you say that those who worked on TG or Non-TG or those who worked on in the frame work of universal grammar, the universal grammarians did not work on 2 or 3 languages. They certainly did work on 6 or 7 languages and then come up with this notion. One of them worked on 40 languages. This is not that you work on 40 languages of a family and come up to some proposal. They worked on languages of different families. Myself in a humble attempt when I worked on two different languages to show that there exists a definite heirarchy.

The second point is that is RG or TG going to announce some model relevant that is based on universal principles.? I think we should give up unless we find universal categories or universal relation/unit and to write grammar and talk in terms of grammar, if we write grammar for Hindi or Telugu. Now a man has learned grammar based on X, then go up to learn a second language such as Telugu based on grammar Y then how he is going to learn it ? Each time we have learnt a different unit. Another argument is why you should have a universal unit for writing a grammar ?

तुलनात्मक व्याकरण

—भ० ह० राजूरकर

1. आज देश के भीतर ही नहीं, देश से बाहर भी जन-समुदायों का संपर्क बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हम चाहने पर भी अपने को एक भाषा तक सीमित नहीं रख सकते। दूसरी भाषा सीखनी ही पड़ती है। मातृभाषा से भिन्न जब हम दूसरी भाषा सीखते हैं, तो भाषा-अधिगम में व्याकरण से सहायता मिलती है। भारतवर्ष में आज एक भाषा से काम चलाना सुविधाजनक नहीं है। हिंदी को यदि संपर्क भाषा के रूप में काम करना है, तो हिंदी के साथ अन्य भाषाओं की तुलना आवश्यक है। यह हिंदी के हित में है। जब भी हम दूसरी भाषा सीखते हैं, तो तुलनात्मक रूप में दो भाषाओं पर विचार करते ही हैं। इस तरह से विचार करते समय हम व्यावहारिक कठिनाइयों में से मार्ग निकालने का प्रयत्न करते हैं। इस स्थिति में समस्या का बौद्धिक समाधान तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर ही दिया जा सकता है। इस विषय में शोध हो और हम व्यावहारिक रूपों से सिद्धांतों की ओर बढ़ें, तो ये सिद्धांत हमें अनेक प्रश्नों का उचित समाधान दे सकेंगे। तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर भाषाओं के इतिहास को समझने में भी सुविधा होगी। वस्तुतः तुलनात्मक व्याकरण का अध्ययन दो या दो से अधिक भाषाओं के सीखने-सिखाने में सहायक होगा और इससे अनुवाद का काम सरल होगा।

2. श्री जो. वार्द्रियैज़ (1966:110) का कहना है—"व्याकरणात्मक धाराओं का वर्गीकरण सामान्य पदरचना का ऐसा विषय है, जिसमें अनुसंधान का कार्य नहीं हुआ।" इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी भाषा में जो व्याकरणात्मक धाराएं प्रचलित रहती हैं, उनका पता लगाना शोध का कार्य है। जब एक ही भाषा के भीतर व्याकरणात्मक धाराओं का पता लगाना शोध का कार्य है, तो तुलनात्मक व्याकरण अपने आप में शोध का विषय है, यह मान लेना अनुचित न होगा। इस शोध के महत्व को ज्ञापित करना तथा इस शोध के उपादानों पर प्रकाश डालना प्रस्तुत लेख का प्रयोजन है।

3. व्याकरणात्मक धारा का तात्पर्य संबंध-तत्वों द्वारा भावों को अभिव्यक्त करने वाली धारा है। उदाहरण के लिए 'वचन' व्याकरणात्मक धारा का नाम है। वचन को व्यक्त करने के लिए हम जिन संबंध-तत्वों का प्रयोग करते हैं, वे सब वचन की धारा के अंतर्गत आएंगे। एक ही धारा के लिए एक ही प्रकार के ध्वनि-तत्वों का (प्रत्ययों का) प्रयोग होना चाहिए। किंतु हम देखते हैं कि एक ही भाषा में एक ही प्रकार की व्याकरणात्मक धारा के लिए अलग-अलग ध्वनि-तत्वों का (प्रत्ययों का) प्रयोग मिलता है। ऐसी स्थिति में हम अर्थ से रूप और रूप से ध्वनि पर उतर आते हैं। मूलतः व्याकरणात्मक धाराएं अर्थ से (तार्किक पद्धति से) संबंध रखते हुए भी विकल्पात्मक स्थितियों के कारण ध्वनि-तत्वों से अधिक संबद्ध जान पड़ती है। इस नाते हम यह अनुभव करने लगते हैं कि व्याकरणात्मक धाराओं का संबंध ध्वनि-तत्वों से अधिक है। ऐसा है भी। किंतु इसके विश्लेषण की आवश्यकता है और उनकी पहचान की भी। हमारा प्रयत्न यह होता है कि व्याकरणात्मक धाराओं को तार्किक पद्धति प्रदान करें। इस संबंध में विश्लेषण करने से जो अनुभव हुआ है, उसे व्यक्त करते हुए जो वाद्रियेंज (1966-131) ने लिखा है—

> किसी भी भाषा की व्याकरणात्मक धाराओं का चाहे कितना ही विश्लेषण किया जाय, उनको किसी तार्किक पद्धति के अंतर्गत करना असंभव है। इस तथ्य की विवेचना के कुछ बहुत हो स्पष्ट व्याकरणीय कारण हैं। बात यह है कि प्रत्येक भाषा का व्याकरण—चाहे उसके इतिहास के किसी काल का विचार कीजिए—ऐसे असंख्य व्यापारों का परिणाम है जिनका व्याकरणीय पद्धति के विभिन्न अंशों से स्वतंत्र संबंध है। यदि पदरचनात्मक परिवर्तन तथाकथित सादृश्यमूलक है, तो सादृश्यमात्र से ही संपूर्ण पद्धति तर्कयुक्त नहीं हो सकती।

तुलनात्मक व्याकरण तार्किक पद्धति को समझने में उपयोगी है। यह किसी भाषा की व्याकरणात्मक धाराएं तार्किक पद्धति में नहीं बैठतीं, तो उसके कारण तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर स्पष्ट हो सकते हैं।

4. 'तुलनात्मक व्याकरण' व्याकरण के सैद्धांतिक स्वरूप को समझने में उपयोगी है। यदि किसी भाषा में पाए जाने वाले रूप ऐसे हैं, जो अर्थ और ध्वनि में तार्किक पद्धति से संतुलन रखते हैं अर्थात् निश्चित संबंध-तत्व निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं, तो उक्त भाषा के रूप अधिक स्थिर माने जाएंगे। इस दृष्टि से संस्कृत भाषा के रूप अधिक स्थिर और दृढ़ हैं। संस्कृत के रूपों की इस कसावट को, दृढ़ता तथा अभिव्यक्ति क्षमता को अधिक समर्थ देखकर ब्लूम फील्ड (1933 : 10) ने लिखा है—

इसमें (पाणिनि व्याकरण में) रचयिता की भाषा का सर्वांगीण विवेचन है। क्या रूप-साधन, क्या शब्द-साधन, क्या समास रचना, क्या वाक्य रचनात्मक प्रयोग—सभी के संबंधों में छोटी-से-छोटी बातों का वर्णन है। कोई भी भाषा अभी तक इतनी संपूर्णता से वर्णित नहीं हो पाई है। कदाचित् यह अंशतः इसी सर्वोत्तम नियमबद्धता का परिणाम था कि आगे चलकर संस्कृत पूरे ब्राह्मणी भारत की राज्यभाषा और साहित्यिक-भाषा बनी। किसी भी व्यक्ति से मातृभाषा के रूप में व्यवहृत न होने के बहुत बाद तक संस्कृत (यूरोप में परिनिष्ठित लैटिन की भांति) पाण्डित्यपूर्ण अथवा धार्मिक रचनाओं की कृत्रिम माध्यम बनी रही।

कहना यह है कि संस्कृत भाषा का व्याकरण विश्व की भाषाओं में आदर्श और परिपूर्ण माना गया है। भारतवर्ष की भाषाओं के लिए तो संस्कृत व्याकरण आप्त रूप में प्राप्त रहा है और आज तुलनात्मक व्याकरण पर शोधकार्य करने के लिए इस भाषा के व्याकरण को जानना मेरी दृष्टि में अतीव उपयोगी होगा।

5. शब्द के सामान्य अर्थ और व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) में भेद होता है। जैसे—

सामान्य अर्थ एक है व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) एक नहीं है।	व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) एक है। सामान्य अर्थ एक नहीं है।
उठना	उठा
उठा	लिखा
उठता	पाया
उठकर	गिरा

प्रथम तालिका में सामान्य अर्थ एक है, किंतु व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) एक नहीं है। वे हैं—क्रियार्थक संज्ञा, भूतकालिक कृदंत, वर्तमानकालिक कृदंत और पूर्वकालिक कृदंत। दूसरी तालिका में सभी का व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) एक है और वह है—भूतकालिक कृदंत। सामान्य अर्थों में यहां भेद है। सामान्य अर्थों का बोध हमें कोश से हो सकता है, किंतु व्याकरणात्मक अर्थ का बोध हमें कोश से नहीं होता। यदि हमें कोई भाषा आती है, तो इसका तात्पर्य यह मान लेना चाहिए कि उसके व्याकरणात्मक अर्थ से संबंध रखने वाले रूपों से हमारा परिचय हो गया है।

6. तुलनात्मक व्याकरण का तात्पर्य ही यह है कि दो या दो से अधिक भाषाओं के व्याकरणों की तुलना करना। भाषा भेद का मुख्य कारण व्याकरणों में भेद

पाया जाता है। यदि दो या दो से अधिक भाषाओं के समान अर्थ रखने वाले समान व्याकरणात्मक रूप पास-पास रखे जाएंगे तो फिर उनमें जो भेद होगा वह ध्वनि भेद मात्र होगा। उदाहरण के लिए—

देश की भाषाएं			विदेशी भाषा
संस्कृत	हिंदी	मराठी	अंग्रेजी
त्वं	तू	तू	You
द्वौ	दो	दोन	Two
अस्ति	है	आहे	Is
नव	नया	नवा	New
सर्पः	सांप	साप	Serpant
कोकिला	कोयल	कोकिळा	Cukoo

यहां शब्दों की जो तालिका दी गई है, उनमें तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किए गए सभी शब्दों के सामान्य अर्थ तथा व्याकरणात्मक अर्थ (रूप) समान हैं। इस स्थिति में भेद केवल ध्वनि-भेद रह जाता है। इस ध्वनि-भेद के कारण भाषा-भेद मानना पड़ता है। इस तालिका के शब्दों में ध्वनि-साम्य के लक्षण मिलते हैं और इस आधार पर भी इन भाषाओं को एक परिवार की भाषाएं कहा जा सकता है।

7. एक परिवार की भाषाओं में अनेक भाषाएं पाई जाती हैं और एक भाषा के अंतर्गत अनेक बोलियां। इन सबके भेद या अलगाव का प्रमुख आधार हमारे पास व्याकरणात्मक रूप ही है। मूल शब्द समूह में (सामान्य अर्थ की दृष्टि से) समानता मिलने पर भी व्याकरणात्मक रूपों की समानता जब तक दो भाषाओं में न मिले तब तक उनको एक नहीं माना जा सकता। कई बार यह भेद बोलीगत भी होता है। बोलीगत भेद और भाषागत भेद में अंतर यह है कि दो विभिन्न बोलियां बोलने वाले एक-दूसरे की बोली को आसानी से समझ सकते हैं, तो उन्हें एक भाषा से संबद्ध मानना चाहिए किंतु दो भाषाओं में ऐसी स्थिति नहीं होगी। वहां स्थिति यह होगी कि दोनों एक-दूसरे की बोली नहीं समझ पाएंगे। ऐसी दो भिन्न भाषाओं के समूह में भी समानता मिल सकती है। खोजने पर हिंदी और मराठी में समानार्थी शब्दों की बहुत बड़ी संख्या मिलेगी, किंतु दोनों का व्याकरण एक नहीं है। हिंदी में रूप जिस तरह से बनते हैं उस तरह से मराठी में नहीं बनते। इस तुलना में जिस शब्द-समूह में रूप बनने की संभावना कम रहती है उनमें समानता अधिक मिल सकती है। ऐसी स्थिति में उच्चारण-भेद मिलेगा और यह उच्चारण-भेद एक भाषा के भीतर पाई जाने वाली बोलियों में भी मिलेगा। हिंदी और मराठी के

संख्यावाचक विशेषण आपस में कुछ ध्वनि-भेदों को छोड़ दें, तो बहुत हद तक समान प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ—एक/एक; दो/दोन; तीन/तीन; चार/चार; पांच/पाच छह/सहा; सात/सात; आठ/आठ; नौ/नऊ; दस/दहा···आदि। इस तरह सभी संख्यावाचक विशेषण लिखें, तो ध्वनि-भेद की कुछ प्रवृत्तियां दिखलाई देंगी। संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि के मूल रूप समानार्थी प्रतीत होने पर भी उनके व्याकरणात्मक रूपों में भेद मिलता है। तुलनात्मक व्याकरण का अध्ययन करते समय हम इस बात की खोज करते हैं कि मूल रूपों से व्याकरणिक रूप किन कारणों से बदलते हैं और उनके बदलने के सामान्य नियम क्या हैं? व्याकरण मूलतः भाषा की तार्किक व्यवस्था है और यह ऐसी व्यवस्था है जिससे भाषा नियमानुसार अभिव्यक्ति में सहायक होती है। ऊपर दी गई तालिका में प्रथम शब्द /तू/ है। हिंदी और मराठी दोनों में यह समान है। दोनों में ही यह मध्यम पुरुष, एक वचन, कर्ताकारक के रूप में प्रयुक्त होता है किंतु इनसे बनने वाले अन्य रूप दोनों भाषाओं में समान नहीं हैं। हिंदी में /तू/ से /तुझे～तुझको～तुझसे～तेरा/ आदि रूप बनते हैं, जबकि मराठी में /तू/ से /तुला～तुझ्याने～तुझ्याहून～तुझा/ आदि रूप बनते हैं। दोनों की व्याकरणात्मक धाराएं अलग-अलग हैं। हम किसी भाषा को ठीक ढंग से जानते हैं, इसका अर्थ यह है कि हम उसके व्याकरणात्मक रूप आवश्यकतानुसार बना सकते हैं।

8. व्याकरण भाषा-अधिगम का साधन है। इस आधार पर आज विश्व में भाषाएं सीखने का प्रयास हो रहा है। इस प्रयास में तुलनात्मक व्याकरण के निष्कर्ष सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तर पर उपयोगी हो सकते हैं। इस प्रकार के प्रयास के लिए (तुलनात्मक व्याकरण के लिए) हमें भाषाओं में प्रचलित व्याकरणिक रूपों की नए सिरे से खोज करनी होगी। केवल लिखित रूपों के आधार पर किसी भाषा के व्याकरणिक रूपों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि हम इस कार्य को कैसे करें? इसके लिए कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया जा सकता है। जैसे—

(1) तुलनात्मक व्याकरण के लिए सामग्री की खोज भाषा की प्रधान बोली के आधार पर हो। बात यह है कि यदि किसी भाषा का संपर्क बोली से छूट जाता है, तो फिर वह भाषा व्याकरण पर अधिक निर्भर हो जाती है। प्रत्येक भाषा का बोली रूप, उस भाषा का जीवित रूप है, ऐसा मानना चाहिए।

(2) हम जिस बोली को जानते हैं और उसका व्यवहार करते हैं (मातृभाषा के बोली रूप से हम परिचित होते हैं।) तो उस बोली से संबंध रखने वाली भाषा सीखना हमारे लिए सुगम होता है। उक्त भाषा को सीखते हुए उस भाषा को हम अपनी बोली के आधार पर ही जीवन दे पाते हैं। इस स्थिति में व्याकरण का ज्ञान

हमारे लिए भाषा सीखने की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं होता है। उस स्थिति में व्याकरण के आधार पर हम अपनी भाषा की व्यवस्था को समझते-समझाते मात्र हैं।

(3) हम जिस बोली को जानते हैं, उस बोली से संबंधित भाषा को न सीखकर यदि कोई अन्य भाषा सीखते हैं, तो उस समय हमें कठिनाई का अनुभव होता है। इस स्थिति में हम व्याकरण से सहायता लेते हैं। माध्यम रूप में हमारी अपनी बोली से संबंधित भाषा के व्याकरण से हम सहायता लेते जाते हैं और तुलनात्मक रूप में दूसरी भाषा के व्याकरणिक रूपों से परिचय प्राप्त कर उक्त भाषा सीखते जाते हैं। भाषा सीखने की सामान्य प्रक्रिया यही रहती है।

(4) तुलनात्मक व्याकरण ऐसे तथ्य प्रस्तुत कर सकता है, जिससे सीखने वाला अपनी भाषा के व्याकरणिक रूपों के साथ सीखी जाने वाली भाषा के रूपों के साथ तुलना कर सके। अर्थात् कन्नड भाषी व्यक्ति हिंदी सीखें और मलयालम भाषी हिंदी सीखें, तो दोनों के लिए शैक्षिक व्याकरण अलग-अलग हों। माध्यम रूप में किसी भाषा को सीखने के लिए जो भाषा अपनाई जाएगी, उस भाषा के व्याकरणिक रूपों का तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। इससे संबंधित भाषा का व्यवहार करने वाला वर्ग नई भाषा को सुविधा से सीख सकेगा। संपर्क के आधार पर अलग-अलग भाषाओं के साथ अलग-अलग शैक्षिक व्याकरण तैयार हो सकते हैं। इन सब शैक्षिक-व्याकरणों के आधार पर सैद्धांतिक तुलनात्मक व्याकरण का स्वरूप अधिकाधिक वैज्ञानिक होता जाएगा।

(5) अंग्रेजी भाषा का प्रचार प्रसार विश्व में शैक्षिक-व्याकरण के आधार पर हुआ है। भारत में भी अंग्रेजी भाषा, इन्हीं शैक्षिक व्याकरणों के आधार पर जीवित है। हम अंग्रेजी के बोली रूप से परिचित नहीं हैं किंतु उसके भाषा रूप से हमारा परिचय है। ठीक इसी तरह हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में अहिंदी क्षेत्रों में पहुंचना है तो संबंधित भाषाओं के शैक्षिक व्याकरण ग्रंथ तैयार करने होंगे और ये शैक्षिक व्याकरण 'तुलनात्मक व्याकरण' की सामग्री के रूप में ही होंगे।

(6) साहित्य के अध्ययन से भाषा के अध्ययन को भिन्न मानना चाहिए। इस नाते हिंदी का पठन-पाठन भाषा रूप में अलग होगा और इसके लिए व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता है। भारत में बोली जाने वाली प्रधान आधुनिक भाषाओं के साथ हिंदी के व्याकरण की तुलना प्रस्तुत करने वाले स्वतंत्र ग्रंथ लिखे जाने चाहिए। जैसे—

1. हिंदी-मराठी······तुलनात्मक व्याकरण
2. हिंदी-तेलगु······तुलनात्मक व्याकरण

3. हिंदी-मलयालम······तुलनात्मक व्याकरण
4. हिंदी-कन्नड······तुलनात्मक व्याकरण
5. हिंदी-तमिल······तुलनात्मक व्याकरण
6. हिंदी-बंगला······तुलनात्मक व्याकरण, आदि

इस प्रकार के तुलनात्मक व्याकरण प्रस्तुत करना शोध का कार्य है। इस कार्य को प्राजेक्ट के रूप में लेकर संबंधित भाषाओं के क्षेत्र में रहने वाले विद्वान कार्य कर सकते हैं। यह कार्य सैद्धांतिक रूप में हो और उसका व्यावहारिक उपयोग शैक्षिक व्याकरण के रूप में किया जाए।

(7) तुलनात्मक व्याकरण के आधार पर शैक्षिक व्याकरण लिखे जाने चाहिए। ये व्याकरण ग्रंथ ऐसे होने चाहिए जिनका उपयोग पठन-पाठन हेतु तत्काल कक्षाओं में पाठ्यक्रम की पुस्तकों के रूप में किया जा सके। इनका प्रचलन जब तक नहीं होगा तब तक भाषा का प्रचार-प्रसार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ठीक से नहीं हो सकेगा।

(8) हिंदी के साथ तुलनात्मक व्याकरण के ग्रंथ जिन-जिन भाषाओं में लिखे जाएंगे, उन-उन भाषा क्षेत्रों में हिंदी का संपर्क सुविधाजनक होगा। इस प्रकार के अध्ययन की विपुल सामग्री हमारे आसपास मौजूद है। इसे वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है।

(9) तुलनात्मक व्याकरण अनुवाद के कार्य में सहायक होंगे।

(10) तुलनात्मक व्याकरण लिखने के लिए अनूदित ग्रंथों को सामग्री के रूप में माने और इस आधार पर दोनों भाषाओं के रूपों की तुलना करें।

(11) हिंदी से अन्य भाषा में अनूदित ग्रंथों की तालिका बनाएं और इसी तरह अन्य भाषा से हिंदी में अनूदित ग्रंथों की तालिका बनाएं। तालिका इस रूप में हो सकती हैं—-

(1) मूल मराठी—अनुवाद हिंदी
(2) मूल हिंदी—अनुवाद मराठी

दोनों ही प्रकार के अनूदित ग्रंथों में वे अनुवाद अधिक ठीक मानने चाहिए जो अनूदित ग्रंथों की भाषा से संबंधित व्यक्ति ने किए हैं। अर्थात् मराठी भाषी व्यक्ति ने हिंदी ग्रंथ का अनुवाद मराठी में किया है। इसी तरह हिंदी भाषी व्यक्ति ने मराठी भाषा का अनुवाद हिंदी में किया है।

इस प्रकार के ग्रंथों में अनूदित भाषा में मूल बोली भाषा का रूप अधिक सुरक्षित रहेगा और तुलनात्मक व्याकरण लिखने में इससे सुविधा होगी।

ये कुछ सुझाव हैं, जिनके आधार पर तुलनात्मक व्याकरण का कार्य किया जा सकता है। केंद्रीय हिंदी संस्थान का प्रयोजन हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार उन क्षेत्रों में करना है, जहां की बोली हिंदी से संबंधित नहीं है। वहां पर अन्य बोली रूपों तथा उनसे संबंधित भाषा रूपों के साथ हिंदी की तुलना करते हुए उन भाषाओं के माध्यम से हिंदी को बोधगम्य बनाना है। संस्थान के इस कार्य में तुलनात्मक व्याकरण निश्चित ही सहायक है। संस्थान तुलनात्मक व्याकरण के ग्रंथ लिखवाने के लिए सर्वेक्षण कर नई सामग्री एकत्रित करे तो इससे हिंदी भाषा का हित होगा और हमारी व्यावहारिक कठिनाइयां दूर होंगी।

प्रकार्यात्मक व्याकरण : संकल्पना और स्वरूप

—अशोक कालरा

पिछले चार दशकों में व्याकरण के क्षेत्र में बहुत तेज़ी से परिवर्तन हुए और कई प्रकार के व्याकरण सामने आए। यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि व्याकरण एक ओर भाषा संबंधी सैद्धांतिक दृष्टिकोण से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर भाषा शिक्षण / भाषा अधिगम के व्यावहारिक पक्ष द्वारा पुनर्पोषित होता है और इन दोनों क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों का प्रभाव व्याकरण पर पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रक्रिया में प्रत्येक नए व्याकरण की भूमिका अपने पूर्ववर्ती व्याकरण की आलोचना के रूप में स्थापित की जाती रही। उदाहरण के लिए, यदि परंपरागत व्याकरण की आलोचना इसलिए की जाती थी कि इसमें केवल लिखित भाषा को आधार बनाया जाता है तो संरचनात्मक व्याकरण को भाषा प्रयोग के एक सीमित पक्ष का प्रतिपादन करने का दोषी पाया गया और रूपांतरक प्रजनक व्याकरण में भाषा को समरूपी मानने के कारण समाज में भाषा प्रयोग से असंबद्ध होने का दोष दिया गया। यदि रूपांतरक व्याकरण में वक्ता की भाषिक क्षमता और भाषिक व्यवहार (चॉम्स्की 1957) में विभेदन किया गया तो उसे सामाजिक व्यवस्था से बांधने के लिए संप्रेषणपरक क्षमता (हाइम्स 1972) का रूप दे दिया गया। किंतु हैलिडे प्रभृति अन्य भाषाविद् ऐसी धारणा को अनावश्यक जटिलता मानते हुए इसे मनोवैज्ञानिक-समाजभाषाविज्ञान कहकर नकारते हैं।

व्याकरणों के क्रमिक विकास के संदर्भ में प्रकार्यात्मक व्याकरण की संकल्पना द्वारा व्याकरण के पूरे स्वरूप को पुनः प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। प्रकार्यात्मक व्याकरण भाषिक व्यवस्था के प्रकार्यों से संबद्ध है। इसकी मूल संकल्पना इस तथ्य पर आधारित है कि भाषा सामाजिक प्रक्रियाओं को अभिव्यक्त करने का साधन है और अपने परिवर्तों के आधार पर सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तों को न केवल अभिव्यक्त करती है अपितु उनके द्वारा ही निर्धारित भी होती है।

प्रकार्यात्मक व्याकरण का पूरा संदर्भ समझने के लिए हम उन आधारों को लेते हैं, जो विविध व्याकरण संबंधी धारणाओं में मत-वैभिन्न्य का कारण बनते रहे

हैं। इस प्रकार न केवल प्रकार्यात्मक व्याकरण की अन्य व्याकरणों से तुलना की जा सकती है अपितु इसका स्वरूप और सैद्धांतिक आधार भी स्पष्ट हो जाता है।

व्याकरण में वाक्य को भाषिक इकाई माना जाता रहा है। प्रकार्यात्मक व्याकरण में आधारभूत इकाई प्रोक्ति (Discourse) है जिसमें सामाजिक मूल्य निहित हैं। वास्तव में यह अंतर व्याकरण में भाषा की मूल प्रकृति से संबद्ध है। प्रकार्यात्मक व्याकरण यह मानकर चलता है कि भाषा वाक्यों का समूह न होकर प्रोक्ति है। प्रोक्ति-एक ऐसा संकेत-विधान है जिसका रूप सामाजिक व्यवस्था द्वारा निर्धारित होता है और जिसमें भाषा-प्रयोक्ता के लिए आवश्यक निर्देश भी रहते हैं। भाषा का विकास समाज के सदस्यों के सार्थक संवाद का परिणाम है और संवाद द्वारा भाषा-प्रयोक्ता सामाजिक व्यवस्था को प्रकट करते हैं, अपनी सामाजिक स्थिति और सामाजिक भूमिका को भी व्यक्त करते हैं।

इस संदर्भ में यह बात भी महत्वपूर्ण है कि समाजभाषाविज्ञान से प्रभावित भाषा विश्लेषण पद्धति में भी सामाजिक संदर्भ के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। किंतु वहां सामाजिक परिवेश पर आरोपित करने के बाद भाषा के किसी अंश का मूल्यांकन किया जाता है। प्रकार्यात्मक व्याकरण भाषा की आंतरिक व्यवस्था को आधार बनाकर उसे सामाजिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से प्रतिपादित करना चाहता है। अतः इन दोनों विचारधाराओं का संकेंद्र एक-दूसरे के विपरीत है।

प्रकार्यात्मक व्याकरण वाक्य की संरचना का अध्ययन उसके प्रकार्यों के आधार पर करता है क्योंकि आपाततः वाक्य की संरचना का निर्धारण उसके प्रकार्यों पर ही आधारित है।

प्रकार्यात्मक व्याकरण के अंतर्गत भाषा न केवल सामाजिक संदर्भ के विभिन्न पक्षों को अभिव्यक्त करती है बल्कि उन्हें संकेतबद्ध करने का एक महत्वपूर्ण साधन भी है। अतः सामाजिक परिवर्तों के अनुरूप भाषा परिवर्तों के अस्तित्व को भी स्वीकार किया गया है। इस संबंध में दो धारणाओं की चर्चा आवश्यक हो जाती है—बर्नस्टीन के अनुसार सांस्कृतिक-सामाजिक एवं भाषिक उपलब्धियां समाज के वर्गों में अनुस्तरित रूप में प्राप्त होती हैं जबकि लैबॅफ़ के अनुसार भाषिक उपलब्धियों का अध्ययन करने पर सामाजिक अनुस्तरण का पता चलता है। प्रकार्यात्मक व्याकरण इन दोनों धारणाओं के समन्वित रूप को अपनाते हुए मानता है कि भाषा में पाए जाने वाले विविध रूप सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत अंतर से सीधे संबद्ध हैं। इस प्रकार बोली-भेद द्वारा समाज की संरचना और क्रम का पता चलता है। जबकि प्रयुक्ति-भेद द्वारा सामाजिक प्रक्रियाओं का बोध होता है।

नियमों के निर्धारण के आधार पर भी प्रकार्यात्मक व्याकरण अन्य व्याकरणों से भिन्न है। भाषा का व्याकरण नियमों का समूह है और उसकी संकल्पनाओं का आधार तार्किक होता है। भाषा के नियम भाषा-संरचना के आधार पर संगठित होते हैं। भाषा व्यवस्था को न केवल तार्किक दृष्टिकोण से देखा जाता है अपितु पूरी भाषा व्यवस्था नियमों द्वारा बाधित होती है। ये नियम शृंखलाबद्ध और क्रमिक होते हैं। प्रकार्यात्मक व्याकरण के अनुसार भाषा का प्रयोग क्रमिक नियमों के आधार पर न होकर प्रोक्ति के संदर्भ की अर्थगत संभावनाओं पर आधारित होता है। वास्तव में संप्रेषण व्यवस्था में समाज के सदस्य अर्थ का विनिमय करते हैं और यह एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है। इसको प्रतिपादित करने वाला व्याकरण, विभिन्न उपलब्ध विकल्पों में से उचित चयन प्रक्रिया पर आधारित होगा, नियमों पर नहीं और उसका क्षेत्र काव्यशास्त्र (Rhetorics) होगा, तर्कशास्त्र नहीं।

रूपांतरक व्याकरण के समान प्रकार्यात्मक व्याकरण वक्ता को भाषिक क्षमता और व्यवहार में अंतर को महत्व नहीं देता। इस दृष्टिकोण से भाषा के अर्थपरक पक्ष, भाषा अधिगम प्रक्रिया और भाषिक क्षमता को एक साथ देखना आवश्यक होगा। व्याकरण के संबंध में एक आम धारणा है कि इसमें अर्थपरक पक्ष को उतना महत्व नहीं मिलता जितना मिलना चाहिए। प्रकार्यात्मक व्याकरण की दृष्टि से भाषा विषयक चिंतन भाषा को अर्थगत संभावनाओं का समूह मानता है। वक्ता प्रकार्यों के आधार पर इस समूह में से कुछ भी चयन कर सकता है और जो भी वह चुनता है, वही उसका अभिप्राय है। प्रकार्यात्मक व्याकरण में भाषा विवरण का लक्ष्य है इन अभिप्रेत संभावनाओं को व्यवस्थित रूप में रखना। इस धारणा के अनुसार भाषा अधिगम प्रक्रिया के अंतर्गत भाषा के विभिन्न प्रकार्यों पर अधिकार प्राप्त करना और प्रत्येक प्रकार्य की अर्थगत संभावनाओं को निर्धारित करने की दक्षता प्राप्त करना, बालक के सामाजीकरण के विकास का क्रम है।

हैलिडे (1964) के अनुसार भाषा के आधारभूत प्रकार्य हैं—

—अनुभव को प्रतिपादित करना
—तार्किक संबंधों को स्थापित करना
—वक्ता श्रोता को परिस्थिति का प्रतिभागी बनाना
—(भाषा का) प्रोक्ति रूप में प्रयुक्त होना।

भाषा के ये प्रकार्य भाषा की अर्थ-व्यवस्था में निहित रहते हैं और व्याकरणिक व्यवस्था के आधार का काम भी करते हैं क्योंकि वास्तव में व्याकरण का काम है—भाषा के प्रकार्यों द्वारा संचालित अर्थ को अभिव्यक्तिबद्ध करना।

प्रकार्यात्मक व्याकरण का व्यावहारिक पक्ष

प्रकार्यात्मक व्याकरण भाषा को सामाजिक प्रक्रियाओं को अभिव्यक्त करने का साधन और उनके द्वारा निर्धारित रूपों का समुच्चय मानता है। हिंदी के क्षेत्र में आधुनिक चिंतन-परंपरा भाषा के प्रति इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर रही है। प्रयोजनमूलक हिंदी की संकल्पना के मूल में प्रकार्यात्मक व्याकरण की मान्यताएं ही हैं। श्री मोटूरि सत्यनारायण द्वारा सुझाई गई निम्नलिखित "हिंदी की भूमिकाएं" भी इसी विचारधारा की प्रतीक हैं अर्थात् हिंदी भाषी समाज की प्रक्रियाओं को संकेतबद्ध करने और अभिव्यक्त करने के लिए हिंदी भाषा के विभिन्न प्रकार्य और इन प्रकार्यों पर आधारित विभिन्न परिवर्तों का विवेचन एक प्रकार से प्रकार्यात्मक व्याकरण का ही एक सोपान है।

हिंदी की भूमिकाएं

1. **प्रादेशिकता की भूमिका**—जिससे वह जिन-जिन प्रदेशों में स्वीकृत प्रादेशिक भाषा है, प्रदेश की राजभाषा है, भाषा के उन सभी प्रयोजनों को साधे, जिनसे शैक्षिक माध्यम के रूप में समाज-कल्याण तथा सांस्कृतिक समृद्धि की संप्राप्ति हो।

2. **राष्ट्रीयता की भूमिका**—जिससे राष्ट्रीय भावना के बल पर वह सभी प्रदेशों के बीच संप्रेषण-माध्यम के रूप में उभरे।

3. **संघ राज्य प्रशासनिकता की भूमिका**—जिससे वह प्रशासन के दायरे में संघ राज्य के कार्यकलापों तथा अंतर्राज्यीय व राज्यीय प्रशासनिक गतिविधियों के साथ संलग्न रहे।

4. **सार्वदेशिकता की भूमिका**—जिससे उसकी उपादेयता देश के वाणिज्य, व्यापार, उद्योग तथा अन्यान्य कार्यकलापों के साथ जुड़ती हुई विस्तृत होती जाए।

5. **जनपदीय भूमिका**—जिन क्षेत्रों की अपनी कोई क्षेत्रीय भाषा विकसित नहीं है या अविकसित जनपदीय भाषाओं की बहुतायत है, सामाजिक, शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के लिए स्वीकृत वह जनपदीय भाषाओं के बीच अपना स्थान बनाते हुए भाषा-माध्यम के रूप में उभरे।

6. **अंतर्प्रादेशिकता की भूमिका**—जिससे वह देश के अनेक भाषायी समाजों और समुदायों की सामासिक प्रवृत्तियों के उत्थान तथा उन्नयन के लिए सक्षम भाषा-माध्यम के रूप में उभरे।

7. **सांस्कृतिक-सामासिकता की भूमिका**—जिससे उसे सामासिक संस्कृति की वाहिका के रूप में विकसित होना है, जो संविधान की अष्टम सूची में उल्लिखित भाषाओं के संपर्क, सहयोग तथा साहचर्य के साथ संपन्न हो सके।

8. **अंतर्राष्ट्रीय भारतीयता की भूमिका**—जिससे वह विदेशों में रहने वाले प्रवासी भारतीयों में उनका भाषा-माध्यम बन सके और आवश्यकतानुसार उनकी शिक्षा, साहित्य और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप में उभर सके।

9. **भारतीय संस्कृति के प्रतीकत्व की भूमिका**—जिससे भारत के विभिन्न भाषा-भाषियों के बीच साहित्य, संगीत, कला आदि के द्वारा भौगोलिक वैविध्य पर आधारित प्रतीकों, प्रतिबिंबों, कल्पनाओं तथा कलाकृतियों का प्रचार माध्यम बन सके।

10. **अंतर्राष्ट्रीय माध्यम की भूमिका**—जिससे कि भारत के साथ अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के भाषा माध्यम के रूप में विदेशी इसे सीखने के लिए आकृष्ट हों।

विचार-विमर्श

रमेशचंद्र आर्य—

जहां तक Functional या Notional व्याकरण का सवाल है, देखिए अब तक कोई Functional Grammar लिख कर नहीं दे सके हैं। एक स्तर पर आपको वही structural method वही simplicity, clarity, availability बहुत सारे नामों का अनुकरण करना पड़ता है। एक स्तर पर हम छात्रों का ध्यान प्रयोजन-मूलक जैसे 'स्टेशन पर टिकट खरीदना', 'दुकानदार से बात करना' इस पर अपने व्याकरण को केंद्रित करें। मैं यह पूछना चाहूंगा कि प्रकार्यात्मक व्याकरण की स्थिति जो है वह केवल सैद्धांतिक है या व्यावहारिक भी है?

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव—

एक प्रश्न आपसे है कि क्या आप व्याकरण और Teachers Grammar में अंतर करते हैं? क्या आप पाठ्यपुस्तक और पढ़ाने की विधि में अंतर करते हैं? क्या क्लास रूम operation और खुद उस operation की सामग्री में अंतर करते हैं? अगर करते हैं तो यह प्रश्न निरर्थक है, वर्ना यह प्रश्न सार्थक है।

रमेशचंद्र आर्य—

देखिए, मैं यह मानता हूं कि व्याकरण कई प्रकार के हैं। व्याकरण के Reference Grammar और पाठ्य विधि में स्पष्ट अंतर है। वैसे भी स्थितिपरक व्याकरण को सीधे क्लास रूम में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस अंतर को जैसा कि शास्त्रीजी ने अभी कहा कि Learner's Grammar काफी हद तक काम करता है। Learner's Grammar वह व्याकरण है जिसे अध्यापक सीधे क्लास रूम में प्रस्तुत करता है कि ये एक स्टेज है इस तरह से आप चलिए। 'मेरी सहायता की आवश्यकता हो तो मैं जरूर सहायता करूंगा।' 'मेरी सहायता के बिना भी आप आगे चल सकते हैं।' इनमें अंतर अवश्य है। लेकिन जहां हम Functional Grammar, Reference Grammar, Pedagogical की बात करते हैं वहां यह अंतर बहुत ही कम है।

प्रकार्यात्मक व्याकरण का सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष

—सूरजभान सिंह

1. अंतर्निहित लक्षणों की दृष्टि से प्रकार्यात्मक व्याकरण की स्पष्ट भिन्नता रूपात्मक व्याकरण से है न कि शैक्षिक व्याकरण से। रूपात्मक व्याकरण में "कोड" (भाषा) का वर्णन होता है और प्रकार्यात्मक व्याकरण में "कोड के प्रयोग का"। रूपात्मक व्याकरण भाषा की आंतरिक संरचना का वर्णन करता है। यह आंतरिक संरचना सामाजिक व्यवहार में किस प्रकार वस्तुतः प्रयुक्त होता है इसका वर्णन प्रकार्यात्मक व्याकरण करता है। रूपात्मक व्याकरण में भाषा व्यवस्था पर और ऐसे नियमों पर बल होता है जो "सुगठित वाक्य" प्रजनित करने में सहायक हो। प्रकार्यात्मक व्याकरण में भाषा-संप्रेषण पर और ऐसे नियमों पर बल होता है जो उपयुक्त प्रसंगों में उपयुक्त वाक्यों के प्रयोग को नियंत्रित करता है। एक का संबंध व्याकरणिक क्षमता से है और दूसरे का "संप्रेषणीय क्षमता" से (कैम्पबेल और वेल्स, 1970, हाइम्स, 1972)। रूपात्मक व्याकरण सामान्यतः किसी व्याकरणिक सिद्धांत या मॉडल पर आधारित होता है लेकिन प्रकार्यात्मक व्याकरण के लिए किसी विशेष रूपात्मक सिद्धांत पर आधारित होना जरूरी नहीं।

लक्षणों की दृष्टि से शैक्षिक व्याकरण पद्धतिपरक होता है। यह अपनी सामग्री रूपात्मक व्याकरण से भी ले सकता है और रूपात्मक तथा प्रकार्यात्मक दोनों व्याकरणों से भी। इसकी विशिष्टता केवल सामग्री के चयन, अनुस्तरीकरण और प्रस्तुतीकरण में है जो मुख्यतः शैक्षणिक तथा मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं द्वारा नियंत्रित होता है। प्रकार्यात्मक व्याकरण और शैक्षिक व्याकरण दोनों की पद्धति चयनात्मक होती है और दोनों ही अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुसार रूपात्मक व्याकरण से आवश्यक सामग्री का चयन करते हैं। प्रकार्यात्मक तथा शैक्षिक दोनों व्याकरणों के उद्देश्य भी मोटे तौर पर समान होते हैं: अर्थात् दोनों का उद्देश्य संप्रेषण के एक साधन के रूप में भाषा का प्रयोग करने में छात्र को समर्थ बनाना है, लेकिन दोनों में एक फर्क भी है: द्वितीय भाषा के सामान्य शैक्षिक व्याकरण में वाक्य-रचना की व्याकरणिक क्षमता प्रदान करने के बाद प्रायः इस समस्या को

अधूरा ही छोड़ दिया जाता है, लेकिन प्रकार्यात्मक व्याकरण इससे और आगे बढ़ते हुए उन प्रयोग-रूढ़ियों और परंपराओं का भी वर्णन करता है जो संदर्भ के उपयुक्त सुगठित वाक्यों के चयन को नियंत्रित करते हैं (क्राइपर और विडोसन; 1975 : 156)।

रूपात्मक व्याकरण चाहे वह सैद्धांतिक हो या अभिप्रायात्मक प्रायः मातृ-भाषियों या उस भाषा का अच्छा ज्ञान रखने वाले पाठकों के उपयोग के लिए होता है; इसके विपरीत प्रकार्यात्मक व्याकरण प्राय अन्य भाषी या उस भाषा की संतोष-जनक संप्रेषणीय क्षमता न रखने वाले पाठकों के उपयोग के लिए होता है। शैक्षिक व्याकरण मातृभाषी के लिए भी बनाए जा सकते हैं और अन्य भाषी के लिए भी। यह भी संभव है कि शैक्षिक व्याकरण में रूपात्मक तथा प्रकार्यात्मक दोनों तत्वों का समावेश हो, विशेष रूप से प्रारंभिक और माध्यमिक स्तर के व्याकरणों में। इस पर और चर्चा § 4 में की जाएगी।

2. प्रकार्यात्मकता का सैद्धांतिक आधार

प्रकार्यात्मकता की संकल्पना सामान्यतः प्राग संप्रदाय, फर्थ, हैलिडे आदि से जोड़ी जाती है। "प्रकार्यात्मकता" की संकल्पना के पीछे यह मान्यता है कि प्रत्येक भाषा की संरचना उसके उस सामाजिक प्रकार्य से जुड़ी होती है जिसके लिए हम भाषा का प्रयोग करते हैं। इसलिए हम सामाजिक व्यवहार में किस भाषा संरचना का प्रयोग करते हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम उससे अपना क्या प्रयोजन या प्रकार्य सिद्ध करना चाहते हैं। इस सिद्धांत के पीछे यह समाजभाषावैज्ञानिक मान्यता निहित है कि भाषा तत्वतः एक सामाजिक उपकरण है और हमारी उक्तियां वाक्-घटनाएं (स्पीच इवेन्ट्स) हैं—ऐसी संप्रेषणात्मक घटनाएं जिनमें एक से अधिक संरचक तत्व निहित होते हैं: जैसे—वक्ता, श्रोता, विषय, चैनल, संदेश-रूप (message-form), परिवेश (setting) कोड। इनमें से, प्रत्येक तत्व का भाषा के विभिन्न प्रकार्यों को निश्चित करने में योग होता है और ये प्रकार्य फिर भाषा की संरचना में प्रतिबिंबित होते हैं।

मोटे रूप से भाषा तीन प्रकार के प्रकार्यों के लिए प्रयुक्त होती है : पहला, भाषा का प्रयोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक किसी विषय की सूचना संप्रेषित करने के लिए हो सकता है जिसे भाषा का विषय बोधक (referential) प्रकार्य कहते हैं। (जैसे, "दूध गिर गया है") दूसरे, भाषा का प्रयोग वक्ता के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए किया जा सकता है जिसे भाषा का कर्तृबोधक (expressive) प्रकार्य कहते हैं (जैसे, "भगवान आपका भला करें") और तीसरे, भाषा का प्रयोग दूसरे की क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए किया जा सकता है जिसे भाषा का

निर्देशात्मक (conative) प्रकार्य कहते हैं (जैसे, "बाहर जाओ")। इनमें से भाषा का प्रत्येक प्रकार्य वाक्-घटना के किसी न किसी संरचक तत्व पर केंद्रित है, जैसे विषय बोधक प्रकाय में "विषय" की प्रमुखता लक्षित होती है, कर्तृबोधक प्रकार्य में "वक्ता" की प्रमुखता लक्षित होती है और निर्देशात्मक प्रकार्य में "श्रोता" की प्रमुखता लक्षित होती है।

जेकब्सन (1960) ने वाक्-घटना के संरचक तत्वों के आधार पर भाषा के कुछ अन्य गौण प्रकार्य भी बताए हैं :

(क) संपर्क बोधक (phatic) प्रकार्य, जो दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप का "चैनल" या मार्ग खोलने या जारी रखने में सहायक होता है। इसका संबंध वाक्-घटना के संरचक तत्व "चैनल" से है। उदाहरण—हैलो; जरा सुनिए; हां; कहिए, अच्छा……।

(ख) प्रसंग बोधक (contextual) प्रकार्य जो किसी प्रोक्ति या उक्ति को एक परिवेश या संदर्भ प्रदान करने में सहायक होता है। इसका संबंध वाक्-घटना के संरचक तत्व "परिवेश" से है। उदाहरण—यह आकाशवाणी है; बाजार का दृश्य……।

(ग) अभिभाषिक (metalinguistic) प्रकार्य जिसमें भाषा का प्रयोग स्वयं अपनी ही संरचना का वर्णन करने के लिए एक साधन के रूप में किया जाता है। इसका संबंध वाक्-घटना के संरचक तत्व "कोड" से है। उदाहरण—"आप कहां रहते हैं?" एक प्रश्नवाचक वाक्य है।

(घ) काव्यात्मक (poetic) प्रकार्य जिसका संबंध मुख्यतः प्रोक्ति (Discourse) संरचना से है जिसमें संदेश नहीं बल्कि संदेश का रूप या आकार महत्वपूर्ण होता है। इसका संबंध वाक्-घटना के संरचक तत्व "संदेश-रूप" से है, जैसे बच्चों के अर्थ रहित बाल-गीत-अक्कड़ बक्कड़, बंबे बो…… ।

भाषा के प्रकार्यात्मक सिद्धांत का प्रारंभ सामान्यतः फर्थ (1957) से माना जाता है जिनका कहना था कि भाषा के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण चीज उसका सामाजिक प्रकार्य है क्योंकि हर उक्ति किसी न किसी संस्कृति-नियंत्रित संदर्भ में ही बोली जाती है। प्राग संप्रदाय (जेकब्सन, 1960, वाचेक 1964, फाइड 1972) ने भी भाषा के संप्रेषणीय तत्व को स्वीकार किया जिसे उन्होंने communicative dynamism और functional sentence perspective कहा। उन्होंने विशेष रूप से यह विश्लेषण करने का प्रयत्न किया कि प्रोक्ति किस प्रकार विकसित होता है

और थीम-संरचना किस प्रकार संदेश के विभिन्न तत्वों की प्रमुखता को प्रभावित करती है।

भाषा-प्रकार्य के त्रिमुखी वर्गीकरण को आधार मानते हुए हैलिडे (1970 : 140) ने भी भाषा संरचना के तीन स्तर स्वीकार किए जो भाषा के तीन प्रकार्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं :

भाषा संरचना	भाषा प्रकार्य
(1) कर्मकता संरचना (transitivity.s)	संकल्पनात्मक प्रकार्य (ideational)
(2) वृत्ति संरचना (mood.s)	अंतर्व्यक्तिगत प्रकार्य (interpersonal)
(3) सूचना संरचना (information)	प्रकरणात्मक प्रकार्य (textual)

उसकी इस मान्यता के पीछे यह धारणा निहित है कि किसी भी संदर्भ में भाषाप्रयोक्ता के पास कई विकल्प मौजूद होते हैं जिनमें से उपयुक्त विकल्प का चयन कर वह "टैक्स्ट" (Text) का निर्माण करता है। उदाहरण के लिए, वह अनुरोध कर सकता है, आज्ञा दे सकता है, प्रश्न पूछ सकता है, सामान्य कथन कह सकता है या विशिष्ट कथन कह सकता है।

आइए अब देखें कि प्रकार्यात्मकता का यह सिद्धांत प्रकार्यात्मक व्याकरण के लिए कहां तक उपयोगी है। प्रकार्यात्मक सिद्धांत वस्तुतः प्रकार्यात्मक व्याकरण की केवल आंशिक आवश्यकता को ही पूरा कर पाता है। प्रकार्यात्मक व्याकरण का उद्देश्य भाषा-प्रयोग के नियमों और प्रतिबंधों के द्वारा छात्र को संप्रेषणात्मक क्षमता प्रदान करना होता है। हैलिडे प्रयोक्ता के पास उपलब्ध विकल्पों का व्यवस्थित विवरण तो प्रस्तुत करते हैं लेकिन विभिन्न संदर्भों में उपयुक्त विकल्पों का चयन किन नियमों या प्रतिबंधों द्वारा नियंत्रित होता है इसका उनके पास कोई समाधान नहीं।

हिंदी का एक उदाहरण लें। मान लीजिए कोई व्यक्ति ट्रेन में किसी मुसाफिर के पास वाली सीट पर बैठना चाहता है। इस प्रसंग में बात करने के लिए उसके पास निम्नलिखित विकल्प या कुछ और संभव है :

1. क्या मैं यहां बैठ सकता हूं ?
2. मैं यहां बैठ जाऊं ?

3. क्या यह सीट खाली है ?
4. यहां कोई तो नहीं बैठा है ?

इन विकल्पों को स्वीकार करते हुए क्या हम कोई ऐसा नियम या प्रतिबंध निर्धारित कर सकते हैं जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि अमुक विकल्प का प्रयोग अमुक प्रसंग में अधिक उपयुक्त है ? भाषा के इस प्रकार के प्रयोगों के संबंध में हम जो भी नियम बनाएं उनका समावेश प्रकार्यात्मक व्याकरण में होगा, लेकिन प्रश्न उठता है : क्या हम भाषा-प्रयोग के नियम बना सकते हैं, और अगर हां, तो किस सीमा तक। इस प्रश्न पर हम बाद में विचार करेंगे। (§ 3)

हाल ही में वाक्-क्रिया सिद्धांत (आस्टिन, 1962, सर्ल, 1969) के अंतर्गत वाक्यों के वृत्तिपरक अर्थ को उनके निष्पादनपरक मूल्यों के आधार पर विश्लेषित करने के कुछ प्रयत्न किए गए हैं। किसी उक्ति को उच्चारित करने का अर्थ है कोई "क्रिया" निष्पादित करना और इस दृष्टि से हर वाक्य में किसी न किसी निष्पादन-तत्व (performative element) की सत्ता स्वीकार की गई है जिसे illocutionary force कहा गया है। अतः वाक्य के निष्पादनपरक विश्लेषण (performative analysis) में इस बात की सूचना दी जाएगी कि वाक्य भाषा के कौन-से प्रकार्य को निष्पादित कर रहा है—वह सूचना दे रहा है, प्रश्न पूछ रहा है, आज्ञा दे रहा है, अनुरोध कर रहा है, शंका व्यक्त कर रहा है, पूर्वानुमान कर रहा है या वादा कर रहा है। उदाहरण के लिए "बारिश हो रही है" वाक्य में "सूचना देने" का निष्पादन-तत्व अंतर्निहित है और इस प्रकार इस वाक्य का निष्पादनपरक विश्लेषण होगा : मैं यह सूचित करता हूं कि बारिश हो रही है। इसी प्रकार "बाहर जाइए" का निष्पादनपरक विश्लेषण होगा "मैं आपको आज्ञा देता हूं कि आप बाहर जाइए"। कहना न होगा कि इस प्रकार का निष्पादनपरक विश्लेषण भी व्याकरणिक क्षमता और संप्रेषणीय क्षमता के बीच की दूरी नहीं पूरी कर सकता क्योंकि किसी भी भाषा के संदर्भ में इस प्रकार के निष्पादन-तत्वों का व्यवस्थित नियमन तथा वर्गीकरण नहीं हुआ है।

3. क्या प्रकार्यात्मक तत्वों का वर्णन और शिक्षण संभव है ?

अब तक हमने कुछ मूलभूत प्रश्न अनुत्तरित छोड़ रखे हैं। क्या किसी भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों का ऐसा वर्णन तथा नियमन संभव है जिससे विभिन्न संदर्भों में भाषा-प्रयोगों का निर्धारण किया जा सके ? अगर थोड़ी देर के लिए मान लिया जाए कि यह संभव है तो क्या यह वैयाकरण के कार्य-क्षेत्र में आता है ? और फिर, क्या भाषा के प्रकार्यात्मक लक्षण पढ़ाए जा सकते हैं या पढ़ाए जाने चाहिए।

यह सत्य है कि भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों का सरलता से नियमन नहीं किया जा सकता। इसका एक कारण यह है कि प्रायः सभी उक्तियां बहुप्रकार्यात्मक होती है अर्थात् एक उक्ति कई भिन्न संप्रेषणात्मक संदर्भों में प्रयुक्त होने की क्षमता रखती है और इसी प्रकार परस्पर भिन्न वाक्य संरचनाएं एक ही संदर्भ में एक ही प्रकार्य के लिए प्रयुक्त हो सकती है। इन तथ्यों से भाषा संरचना और भाषा-प्रकार्य के परस्पर संबंधों के पूर्वोक्त सिद्धांतों का एक सीमा तक खंडन होता प्रतीत होगा। पहले वाले उदाहरण को ही लें तो स्पष्ट होगा कि चारों वाक्य क्या मैं यहां बैठ सकता हूं ? मैं यहां बैठ जाऊं ? क्या यह सीट खाली है ? यहां कोई तो नहीं बैठा है ? चार भिन्न संरचनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं लेकिन दिए गए प्रसंग में एक ही प्रकार्य को निभाते हैं। कोई भी सामान्य वैयाकरण इन चारों संरचनाओं को एक कोटि के अंतर्गत नहीं दिखाएगा लेकिन किसी भी प्रकार्यात्मक व्याकरण के निर्माता को इस विशिष्टता का किसी न किसी रूप में समावेश करना होगा। लेकिन वह जानता है कि कई स्थलों पर वह ऐसे निर्विवाद नियम नहीं बना सकता जो विभिन्न संदर्भों में विभिन्न संरचनाओं के प्रयोग को नियंत्रित कर सके। यहां तक कि निष्पादनपरक विश्लेषण भी इसमें अधिक मदद नहीं कर सकता। जैसे, मैं इस सीट पर बैठना चाहता हूं, इसलिए मैं आपसे पूछता हूं, अनुरोध करता हूं कि.......।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि व्याकरण-पुस्तक में किसी भी भाषा की रूपात्मक संरचना का वर्णन या विवेचन होगा और इसलिए इसका संबंध संदर्भ युक्त वाक्यों से न होकर संदर्भ मुक्त व्याकरणिक वाक्यों (लायन्स, 1977 : 387) से ही होगा। व्याकरण की सामान्य पुस्तकों में पाए जाने वाले व्याकरणिक वाक्यों में संप्रेषणात्मक मूल्यों का अभाव होता है, लेकिन वे किसी भी भाषा की मूल संरचना और व्यवस्था को समझने के लिए आवश्यक हैं। अतः प्रश्न उठता है कि संदर्भयुक्त वाक्यों या प्रकार्यात्मक तत्वों को लेने के लिए व्याकरण के क्षेत्र को कहां तक बढ़ाया जा सकता है ? सबसे पहले यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि संदर्भयुक्त वाक्यों या प्रकार्यात्मक तत्वों का वर्णन करने के लिए व्याकरण की पुस्तक ही एकमात्र मंच नहीं है। वार्तालाप पुस्तकें, मुहावरा कोश, शैली-पाठशालाएं, प्रयोग-कोश, तकनीकी शब्दावली, व्यवसायकपरक भाषा-पुस्तकें आदि कई अन्य उपायों द्वारा भी पाठकों को प्रकार्यात्मक या संप्रेषणात्मक क्षमता प्रदान की जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि किसी भी भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों का कितना अंश न्यायसंगत रूप से प्रकार्यात्मक व्याकरण का अंग बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रश्न में निहित है कि प्रकार्यात्मक तत्वों का कितना अंश प्रत्यक्ष रूप से किसी उक्ति की संरचना को प्रभावित करता है। किसी संदर्भ विशेष की कोई भी उक्ति या कोई भी वाक्य संरचना जिसमें प्रयोग-आवृत्ति, सहप्रयोग या विशेष अर्थ के लक्षण

दिखाई दे प्रकार्यात्मक व्याकरण का अंग बनने के अधिकारी हैं—प्रकार्यात्मक तत्वों की आनुपातिक मात्रा व्याकरण के आकार लक्ष्य और स्तर पर निर्भर करेगा। इस पर हम § : 4 में पुनः चर्चा करेंगे।

एक दूसरा प्रश्न है, क्या भाषा प्रकार्यात्मक तत्वों को पढ़ाया जा सकता है ? यह शंका दो कारणों से उत्पन्न होती है। पहला, जिस प्रकार भाषा के रूपात्मक तत्वों का प्रमाणिक विश्लेषण हमारे पास उपलब्ध है, उस प्रकार भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों का कोई प्रामाणिक विश्लेषण हमारे पास उपलब्ध नहीं है। एलेन और विडेसन (1975 : 89) के अनुसार, कई वर्षों से भाषा-शिक्षण पद्धति के लेखक "कोड" या "भाषा" को पढ़ाने के तरीकों पर बल देते आए हैं लेकिन भाषा के प्रयोग को कैसे पढ़ाया जाए इस संबंध में वे प्रायः मौन रहे हैं।

एक मत यह भी है कि "संप्रेषणात्मक क्षमता" प्रत्यक्ष रूप से पढ़ाने की जरूरत नहीं; क्योंकि एक बार भाषा की मूलभूत व्याकरणिक संरचना समझ लेने के बाद संप्रेषणात्मक संदर्भों में उनके प्रयोग का ज्ञान उन्हें स्वतः हो जाएगा। इस प्रकार का मत उस स्थिति में तो स्वीकार किया जा सकता है जब विदेशी भाषा का अध्ययन किसी निकट प्रयोजन की सिद्धि के लिए न किया जाए जैसे प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों के उन छात्रों के लिए द्वितीय भाषा विशेष जिन्हें उस भाषा का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी या पड़ेगी भी तो सुदूर भविष्य में। लेकिन जहां द्वितीय भाषा का अध्ययन किसी निकट प्रयोजन को ध्यान में रखकर किया जा रहा हो वहां भाषा के संप्रेषणात्मक तत्वों को पढ़ाने की आवश्यकता स्वतः स्पष्ट है, जैसे प्रशासनिक हिंदी, बैंकिंग हिंदी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी हिंदी पर्यटकों के लिए हिंदी आदि का शिक्षण। इन स्थितियों में प्रकार्यात्मक व्याकरण पढ़ाने का उद्देश्य व्याकरणिक तथा संप्रेषणात्मक क्षमता के बीच की दूरी को यथासंभव कम करना और वास्तविक संप्रेषणात्मक संदर्भों के साथ संपर्क के अभाव को पूरा करना है।

विदेशी भाषा शिक्षण की आधुनिक पद्धति में संदर्भगत और अर्थपूर्ण परिवेशों में वाक्य-सांचों और शब्दावली का शिक्षण, और कक्षा में दुकान, रेलवे स्टेशन आदि जैसी नाटकीय स्थितियों और वार्तालापों का सृजन इस बात के प्रमाण हैं कि छात्रों को संप्रेषणात्मक क्षमता प्रदान करने की समस्या के प्रति लेखक और अध्यापक जागरूक हैं यद्यपि केवल मात्र इन उपादानों से ही छात्रों को भाषा के रूप और प्रकार्य के जटिल संबंधों की पूर्ण जानकारी नहीं दी जा सकती।

भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों को पढ़ाने के लिए कुछ प्रचलित तरीके अग्रानुसार हैं :

(1) संरचनात्मक सिद्धांतों के आधार पर वाक्यों या उक्तियों का वर्गीकरण कर चुकने के बाद शिक्षण के किसी चरण में वाक्यों और उक्तियों का अभिप्रायात्मक तथा प्रकार्यात्मक सिद्धांतों के आधार पर पुनर्वर्गीकरण। उदाहरणार्थ, अनुरोध करने के लिए, आज्ञा देने के लिए, सामान्य कथन कहने के लिए, हर्ष तथा खेद के भाव व्यक्त करने के लिए परिचय के लिए, पूछताछ के लिए, वादा करने के लिए, पूर्वानुमान करने के लिए जिन उक्तियों तथा वाक्यों का प्रयोग होता है, उन्हें विशिष्ट वर्गों में रखा जाए भले ही संरचना की दृष्टि से वे परस्पर कितने ही भिन्न हों। इस प्रकार की युक्तियां उपचारात्मक सामग्री के लिए अधिक उपयोगी हैं। छात्र के कार्यकलापों में नयापन लाने के अलावा इस प्रकार की सामग्री से उसे भाषा के अपने पूर्व ज्ञान को अर्थ के स्तर पर पुनर्व्यवस्थित करने में भी सहायता मिलती है।

(2) भाषा-प्रयोग के सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों और परंपराओं के संबंध में संक्षिप्त टिप्पणी (जैसे, जी, श्री, नमस्ते, भाई साहब, ससुराल)।

(3) संदर्भयुक्त शिक्षण, संदर्भयुक्त सांचा अभ्यास, स्थितिसृजन, छात्रों से और छात्रों के बीच वास्तविक वार्तालाप आदि।

(4) जेकोबोवित्स (1974) ने "ट्रान्जेक्शनल इंजिनियरिंग कम्पिटेन्स" की एक नई तकनीक की चर्चा की है जिसका उद्देश्य भाषा शिक्षण को "कहने" और "सुनने" की क्रिया से और आगे ले जाना और प्रामाणिक वार्तालाप के अंतर्निहित संप्रेषणात्मक तत्वों पर बल देना है।

4. प्रकार्यात्मक व्याकरण की रूपरेखा

भाषा के प्रकार्यात्मक तत्वों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रश्नों का विवेचन कर लेने के बाद अब हम प्रकार्यात्मक व्याकरण के लिए एक मोटी रूपरेखा तैयार करने की स्थिति में हैं। "प्रकार्यात्मक व्याकरण" से यहां मेरा तात्पर्य ऐसे व्याकरण से है जिसमें भाषा के रूपात्मक तथा प्रकार्यात्मक दोनों तत्वों का समावेश है और जो उस प्रकार्यात्मक व्याकरण से भिन्न होगा जिसमें भाषा का केवल प्रकार्यात्मक पक्ष ही हो रूपात्मक पक्ष नहीं।

उद्देश्य : इस प्रकार के प्रकार्यात्मक व्याकरण के दो उद्देश्य होंगे :

(1) भाषा की मूलभूत संरचनात्मक युक्तियों का ज्ञान प्रदान करना।

(2) इन संरचनात्मक युक्तियों के ज्ञान को विभिन्न संप्रेषणात्मक प्रसंगों में वास्तविक प्रयोग में लाने में छात्र को समर्थ बनाना।

यहां व्याकरण के लक्ष्य और पाठ्यक्रम के लक्ष्य में भ्रम नहीं होना चाहिए क्योंकि सामान्यतः पाठ्यक्रम के लक्ष्य में "ज्ञान" की अपेक्षा "कौशल" पर अधिक बल होता है।

आकार : प्रकार्यात्मक व्याकरण एक स्वतः पूर्ण सहायक पुस्तक के रूप में भी हो सकता है, सामान्य पाठों के साथ व्याकरणिक और सांस्कृतिक टिप्पणियों के रूप में जुड़ा भी और नियमित शिक्षण-सामग्री में ज्ञानात्मक और सृजनात्मक ड्रिल और अभ्यासों के रूप में एकीकृत भी।

चयन—अपने पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रकार्यात्मक व्याकरण मुख्य रूप से रूपात्मक व्याकरण से अपनी सामग्री का चयन करता है। सामग्री के चयन में कई महत्वपूर्ण प्रतिबंध होते हैं : भाषा-व्यवस्था के केवल ऐसे नियम या विवरण ही प्रकार्यात्मक व्याकरण में स्थान पाते हैं जो सुगठित वाक्य बनाने के लिए आवश्यक हैं। तदनुसार भाषा के ऐसे सभी व्याकरणिक तथ्य या विवरण जो वाक्य जनित करने के लिए आवश्यक नहीं हैं। प्रकार्यात्मक व्याकरण में स्थान नहीं पा सकते और इसके विपरीत ऐसी सभी संरचनात्मक युक्तियां जो वाक्य की रचना में सहायक होती हैं इसमें स्थान पाते हैं।

अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रकार्यात्मक व्याकरण में भाषा के ऐसे समाजभाषा वैज्ञानिक और आर्थी तथ्यों, भाषा-प्रयोग की परंपराओं और संदर्भगत सूचनाओं का चयन होता है जो भाषा-प्रयोक्ता को उपयुक्त संदर्भों में उपयुक्त वाक्यों का प्रयोग करने में सहायक होते हैं।

सामग्री का चयन कुछ अभाषिक तत्वों पर भी निर्भर करता है, जैसे :—

(क) प्रस्तावित व्याकरण का स्तर। प्राथमिक माध्यमिक, या (उच्च/स्तर के साथ-साथ रूपात्मक तथा प्रकार्यात्मक तत्वों की मात्रा बढ़ती जाती है)।

(ख) छात्र की आयु तथा पृष्ठभूमि।

(ग) छात्र की आवश्यकता—उसे भाषा अपनी निकट आवश्यकता की पूर्ति के लिए चाहिए या किसी सुदूर तथा अनिश्चित आवश्यकता की पूर्ति के लिए चाहिए।

(घ) व्याकरण का स्वरूप—नियमित, उपचारात्मक या सहायक।

अनुस्तरीकरण—प्रकार्यात्मक व्याकरण का अनुस्तरीकरण इस बात पर निर्भर

करता है कि यह शैक्षणिक व्याकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है या छात्रों के संदर्भ-व्याकरण के रूप में। यदि शैक्षणिक व्याकरण के रूप में है तो इसकी अनुस्तरीकरण-योजना पाठ्य-सामग्री की अनुस्तरीकरण-योजना के अनुरूप होगी जो मुख्यत: चक्रीय (Cyclic) होगी। यदि प्रकार्यात्मक व्याकरण छात्रों के संदर्भ व्याकरण के रूप में होगा तो अनुस्तरीकरण-योजना मुख्यत: रेखीय (Linear) होगी और इसका क्रमीकरण तार्किक भी हो सकता है। (जैसे संज्ञा से वाक्य) और संरचनात्मक भी (जैसे वाक्य से संज्ञा)।

विचार-विमर्श

कृष्णकुमार शर्मा—

विद्वान वक्ता ने जितने निर्भ्रांत रूप से प्रकार्यात्मक व्याकरण की उपादेयता स्वीकार की है पृष्ठ 131 पर

"A functional Grammar.........................
....or integrated teaching material."

क्या संरचना और प्रयोजन की प्रतिबद्धता को निर्धारित कर सकते हैं? अगर आप ऐसा कहते हैं तो क्या यह objective होगा? क्या हम व्याकरण को objective science के रूप में निरूपित कर सकेंगे? दूसरी बात यह है कि एक ही प्रयोजन के लिए विविध वक्ता भिन्न प्रकार की संरचनाओं के प्रयोग करता है। जिन्हें हम style marker के नाम से जानते हैं। तब फिर क्या अपने छात्र को सारी संरचनाओं को या style marker को सिखाएंगे? और तब उनकी जटिलताओं को कैसे स्पष्ट करेंगे?

रमेशचंद्र आर्य—

मैं दो प्रश्न पूछना चाहता हूं। एक तो यह स्पष्ट नहीं हुआ कि प्रपत्र में व्याकरण का Format क्या है? क्योंकि अगर आप एक तरफ पृ० 132 पर देखें तो अंतिम वाक्य है—

"Formal course material it may either follow a logical ....noun." दरअसल अगर ये functional grammar है तो इसमें grading functional categories की ही होनी चाहिए। क्योंकि यदि अंग्रेजी का सवाल है जिसमें structural aspect है। भाषा की संरचना क्या है? भाषा का प्रयोग अलग-अलग संदर्भों में कैसे हो सकता है? क्या हम इसको functional grammar कहेंगे? या दूसरी तरफ communicative grammar of Hindi जिसमें कि gradation functional category है, जैसे कि duration, obligation,

formation । हम functional grammar किसे कहेंगे ? Functional gradation grammatical categories का होगा या कि notional gradation आदि का ।

सूरजभान सिंह—

डा० रमेशचंद्र आर्य ने जो बात पूछी थी पहले उसका जवाब दे दूं कि ये functional gradation होगा कि notional gradation । जहां मैंने यह लिखा है—मैं functional व्याकरण की रूपरेखा दे रहा हूं वहां मैंने यह स्पष्ट किया है कि ये प्रकार्यात्मक व्याकरण की कल्पना है जिसमें format व्याकरण भी सम्मिलित है और प्रकार्यात्मक व्याकरण भी सम्मिलित है । एक ऐसा प्रकार्यात्मक व्याकरण भी हो सकता है और वह उच्च-स्तर के लिए है जहां केवल वाक्य दे दें remedial lesson के रूप में । जब हम किसी छात्र को भाषा सिखाते हैं तो हम यह नहीं सिखायेंगे कि अनुरोध के लिए कितने तरह के वाक्य होंगे । हमें पहले उसका format रूप बताना होगा । एक ऐसा functional grammar भी हो सकता है जिसमें हो सकता formal component बिलकुल भी न हो । जिस तरह की रूपरेखा मैं बना रहा हूं उसमें मैंने बताया कि प्रकार्यात्मक व्याकरण भी है और notional व्याकरण भी है जिसे आप दोनों तरह से निरूपित कर सकते हैं। लेकिन जब course material के लिए आप तैयार करेंगे तो यह काम नहीं आएगा, remedial material के लिए काम आ सकता है । हमने पहले उसे formal grammar से भाषा में सीख लिया फिर उसे notionally categorize करेंगे । पांच-छह तरीके हैं जिनसे हम functional component को ला सकते हैं ।

दूसरा प्रश्न था आपका प्रकार्यात्मक व्याकरण का format क्या है ? यहां मैंने बताया है कि शायद डा० शर्मा ने भी यही पूछा था । format को हम तीन तरीके से रख सकते हैं । यहां प्रकार्यात्मक व्याकरण भी बात नहीं कर रहे हैं । functional component को हम कैसे पढ़ायें ? Functional component पढ़ाने के लिए ये जरूरी नहीं है कि एक पृथक पुस्तक ही हो । Functional component को आप तीन तरीके से बता सकते हैं । एक तरीका यह है आर अलग से self content किताब बनायें । Cultural modes हों, uses के बारे में भी हो । दूसरा तरीका यह है कि जो आपका regular teaching material है उसके अतिरिक्त व्याकरणिक notes या sociolinguistic टिप्पणी दें कि इनका प्रयोग यहां होता है, इसका अर्थ यह है ।

तीसरा तरीका यह है कि टिप्पणी न दीजिए पर ऐसे drills और अभ्यास दीजिए कि स्वत: उसे सीख लें ।

डा० शर्मा का प्रश्न था संरचना और प्रयोग का संबंध । उनका कहना बिलकुल ठीक है कि संरचना और प्रयोग का संबंध जरूरी है । जैसा कि मैंने पहले कहा कि प्रारंभिक अवस्था में हम प्रकार्यात्मक व्याकरण को अलग से नहीं पढ़ा सकते । हमें प्रारंभिक अवस्था में संरचना को साथ लेकर चलना होगा । पहले formal component को बताएंगे तब ये formal component से घिरे हुए हैं, इन दोनों का संबंध बताएंगे । ये जटिल कार्य जरूरी हैं ।

दूसरा प्रश्न है क्या इस तरह के व्याकरण में हम सारे रूप बताएंगे । जैसा कि मैंने कहा प्रारंभिक अवस्था में आप काम मात्र के लिए अर्थ बताएंगे, variable कम बताएंगे । जैसे-जैसे आपका पाठ्यक्रम स्तर बढ़ता जाएगा । इसलिए यह जरूरी है कि जहां हम प्रकार्यात्मक व्याकरण का प्रयोग करें, कई तरीकों का प्रयोग करें ।

कृष्णकुमार शर्मा—

मैंने यह पूछा है कि क्या आप इस तरह प्रकार्य के आधार पर लिखे गए व्याकरण को objective science के रूप में निरूपित कर सकते हैं ? हम यह भी जानना चाहते हैं कि व्याकरण को हम objective science जैसे भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र के रूप में निरूपित कर सकते हैं ? जब आपने इसमें संदर्भ को जोड़ दिया है और इन सारी चीजों को परिगणित कर दिया है, तब क्या यह objective science हो सकती है ?

सूरजभान सिंह—

Objective science के रूप में तभी हो सकती है जब कि यह मातृभाषा-भाषी के लिए तैयार करें, functional व्याकरण नहीं, कोई भी व्याकरण । लेकिन जब आप पाठ्यक्रम से उसको संबद्ध कर रहे हैं तो बहुत-सी चीजें उसमें आएंगी । formal घटक भी उसमें आएंगे । उसके साथ अलग से ऐसी कोई किताब प्रारंभिक अवस्था में नहीं बना सकते जिसमें यह कहें कि प्रकार्यात्मक व्याकरण स्तर पर एक किताब है, और वह objective है । जो भाषा अच्छी तरह से जानते हैं, पर जो functional component जिनके नहीं है, उनके लिए तो हो सकता है ।

भाषा शिक्षण के संदर्भ में व्याकरण
और
व्याकरण शिक्षण

शिवेंद्रकिशोर वर्मा
जे० सी० शर्मा
रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
विजयराघव रेड्डी तथा शंकुतला रेड्डी
सीताराम शास्त्री
जी० एम० मेहता
नटुभाई के० जोशी
बूदराजु राधाकृष्ण

THE ROLE OF GRAMMAR IN SECOND LANGUAGE TEACHING

—Shivendra Kishore Verma

1. In order to understand the role of grammar in second language teaching it may be a good idea to try to answer five interrelated wh-questions. These questions are :

(a) What's grammar ?
(b) Why grammar ?
(c) Which grammar ?
(d) How much of grammar ?
(e) How should we go about presenting the 'facts' of grammar ?

2. *What's grammar ?* This is a very important question for us, for grammar means different things to people working in different areas. It ranges from 'how to write a language correctly' to 'philosophy and metaphysics'. We are here interested in, what we may call, a bread-and-butter variety of grammar, a learner's grammar. A grammar of a language, whether it is a linguist's grammar or a learner's grammar, is a description of the sentences of that language. It is *not* a list of sentences. A list of sentences would be a kind of sentence dictionary or sentence lexicon. In fact, the sentences of a human language cannot be listed for a language in an infinite set of sentences. What a grammar does is to reduce these sentences to a finite system of sentence-forming principles. By 'system' here we mean a set of grammatical choices and relations, which show how the sentences of a language are constructed and how different types of sentences are interrelated. The emphasis here is on that creative power which enables us to generate an infinite set of sentences with the help of a finite set of rules. The central question is : what is it that makes a human language tick ? How do we put words together in phrases, phrases in clauses,

clauses in sentences, and sentences in discourse to make them mean what they mean ? The answer to these questions is that it is the grammar of a language that makes that language work and that gives an account of what it is that a person knows when it can be said of him that he knows that language. It is grammar that makes language so essentially a human characteristic. By the grammar of a language we mean those principles or rules which underlie the sentences of that language. All grammars are basically attempts to make statements about linguistic units and their relations. They are ways of talking about how words are used to make units that communicate a meaning. In the process of making these statements grammarians have to answer a set of other questions : What are the parts (or constituents) of a sentence ? How are they organised ? What are the parts of each part or subpart or subsubpart ? How are they organised ? How are the sentence types (active/passive, statements/questions, positive/negative, unemphatic/emphatic) inter-related ? How are simple sentences combined to produce complex and compound sentences ? How are complex sentences reduced to simple sentences ? How are sentences organised in a discourse ? What are the grammatical choices available ? What are the choices available, for example, in the system of tense ? Are we free to select any tense we like or is our choice governed partly by meaning (i. e. 'time reference' in this context) and partly by such grammatical requirements as inter-sentence tense-concord ? Consider the following discourse :

"I met John yesterday near our College. He told me that he was coming."

The choice of the past in the first sentence is based on time-reference—reference to an event that happened before the speaker's *Now*. The second sentence has two clauses in it. The choice of the past in the subordinate clause is a purely grammatical choice governed by the grammar of the tense system in English. If the speaker says : "He told me that he is coming", we will understand what he means but we may dismiss the sentence as ungrammatical', which means that the speaker of that sentence has violated one of the rules of the grammar of English. Let's consider another sentence :

*Dog the cat the chased.

Here we have five simple words of English. They have been put together but they do not make a sentence. It seems that something has gone wrong with the way the words have been put together. The following re-arrangements make the sentence grammatical :

The dog chased the cat.
The cat chased the dog.

This means that every language has its own set of rules for arranging words in sentences. In fact, every language has its own set of rules for organizing morphemes in word-structure, words in phrase-structure, phrases in clause-structure, and clauses in sentence-structure In addition to this relation which may be called the order of constituents in linguistic units, some of the other important grammatical relations are : subject-verb agreement, verb-object/complement relation, verb-adverb relation, modifier and head noun relation, inter-clause tense concord. Let's consider another choice in English –the choice of the passive. The choice of the passive is semantically motivated by the desire to bring the affected goal/receiver into prominence, but this choice is available if and only if certain grammatical conditions are fulfilled such as the verb is marked 'transitive' and the 'subject' and the 'object' are not coreferential.

A grammar of a language, as we have already said, is a description of relations. It is a highly complex, abstract, and technical kind of thing. A number of scholars have used the words 'grammar' and 'structure' synonymously. We would like to make a distinction between the two. By 'grammar' we mean the total system of which 'structure' is a component. 'Structure' refers to an abstract symbolic representation of relations obtaining among the constituents of unit. The following are structural realizations at different levels and represent different kinds of abstraction :

(i) NP+VP+NP
(ii) S + V +O
(iii) Actor+Process+Goal

The first one shows sentence structure in terms of categorical constituents, the second one in terms of grammatical functions, and the third one in terms of semantic roles. There are two points worth noting here : the first one is that we are talking about 'constituents'

or organization of constituents at different levels, that is we are at different aspects of the organization of sentences. The second point refers to the meaning of such statements as "*This is a...*" is a structure. When we say that "*This is a...*" is a structure what we, in fact, mean is that it is *one* example of NP+Vbe+NP or S+V+C structure. It may be useful to make a distinction here between grammatical systems and lexical sets. The number of choices in a grammatical system is limited, but the choices in a lexicon are relatively unlimited. For example, the grammatical system of number in English offers us only two choices : count and non-count. If we select the count, we have again only two choices : singular and plural. In the following sentences the empty slot can be filled by any member of a relatively large set of items.

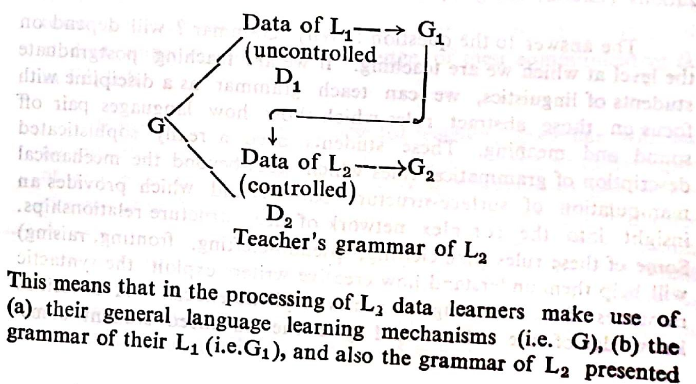
This is a...... .

These choices are lexical choices, which are open-ended. In place of *this*, we have a very limited set of choices: *that, it*. These are (closed system) grammatical choices. Learning a language is a process of internalizing the grammatical rules of a language and the meanings and behaviour of lexical items. The grammatical rules of a language *can* be captured in four or five years if one is properly exposed to the language. Of course, one *does* go on refining these rules as one interacts with different varieties of this language. Lexical rules cannot be captured in four or five years. Since no two words behave exactly the same way in every situation, we have to keep on learning new words, their meanings, and collocations all our life.

One of the questions arising out of the points already discussed is : is there one single best lexico-grammatical description of a language ? This question has been raised by Halliday in 'Syntax and the Consumer' (Halliday. 1964, 11-24). His answer to this question appears to be an emphatic 'no', for he maintains that there is a wide range of purposes for which a description of language may be used. In assessing the value of a description, it is reasonable to ask whether it has proved useful for the purposes for which it is intended ; and such purposes may be external as well as internal to linguistics. What we need for our language teaching programmes is a good description of the 'facts' of the language we are teaching. In addition to language teachers we have a number of different sorts of consumers of grammars. They are linguists, students of linguistics, interested laymen, and students learning languages. Grammarians

like Jacobe and Rosenbaum are interested in the methodology of description. "Before we can describe what we know, we must know *how* to describe it ; we must know, in other words, how to classify the facts which we observe." (Jacobs and Rosenbaum. 1968, Preface V)

3. Now we come to the second question : Why grammar ? Every normal human child is born with a built-in language learning mechanism (which may be called G). When the child is exposed to a human language this mechanism gets activated and helps him build a minigrammar of that language (which may be called G_1). As he goes on interacting with that language, he goes on refining and expanding his minigrammar. In about five or six years the child succeeds in internalizing the core/basic grammar of his language. The function of a formal course in grammar then is to confirm the rules that he has learnt and fill in gaps, if any, in his grammatical system. In learning a second/foreign language, the learner has a big handicap. His exposure to the language is restricted. If he is an adult learner, he has an added problem—he has to learn how to recategorize human experiences in terms of the linguistic and socio-cultural systems of the second language. In the process of internalizing the systems of L_2 (which may be called G_2) there is usually an intense interaction between G and G_1 on the one hand and the data of L_2 (which may be called D_2) on the other. The following is a schematic representation of the processes involved in internalizing the relational networks underlying L_2 :



This means that in the processing of L_2 data learners make use of (a) their general language learning mechanisms (i.e. G), (b) the grammar of their L_1 (i.e.G_1), and also the grammar of L_2 presented

to them by their teachers. It is a fact that a vast majority of learners of English in India are exposed to English only in their English classes and in their textbooks ; their proficiency in English is inevitably restricted since their experience of English has been confined to only one social domain, very few role-relationships and a limited number of speech functions. Exposure to a rich variety of linguistic material is as important in first-language acquisition as in second-language learning. A properly organized course in grammar (as a component of a language teaching programme with its main focus on enriching the linguistic experience of students) can make them familiar with the basic principles of the syntex of English—word-order, concord, the use of the systems of articles and tenses, question formations, complex and compound sentence formations and thereby promote quick and efficient language learning. We must, however remember that this cannot be achieved by a unidirectional process of pumping grammatical information into what, some people think, are empty vessels. In fact, the learners play an active role in this process. They are not passive recipients of language : they are active participants in this language-learning activity (Verma, 1974 : 10). They actively strain, filter, reorganize what they are exposed to. Their imitations are not photographic reproductions but artistic recreations. Learning a language is not a simple process of memorizing a set of sentences : it is a creative process of learning a finite system of sentence-forming rules which help the learners generate a variety of sentences in a variety of contexts. 'The teacher must therefore give the learner a boost to making his own generalizations' (Lakoff, 1969, reprinted 1972 : 67).

The answer to the question : Why grammar ? will depend on the level at which we are teaching. If we are teaching postgraduate students of linguistics, we can teach grammar as a discipline with focus on those abstract rules which show how languages pair off sound and meaning. These students need a really sophisticated description of grammatical rules which goes beyond the mechanical manipulation of surface-structure patterns and which provides an insight into the complex network of deep-structure relationships. Some of these rules (like clefting, pseudo-clefting, fronting, raising) will help them understand how creative writers exploit the syntactic resources of their language to achieve stylistic effects. "A conscious knowledge of the rules would give the advanced student some

degree of conscious insight into material that he has already learned to use without benefit of grammatical explanation. Furthermore, it would help him to predict the behaviour of phenomena not brought under direct observation in the teaching text, and to achieve discriminating control over the increasingly large quantities of data that he will be called upon to handle as the course proceeds" (Allen, 1974 : 73). At this level our grammar should not have only a simple descriptive component but must also have an explanatory component. If we are teaching grammar at the High School level, we may have the following aims in view :

(a) to present a rapid review of the key grammatical patterns,

(b) to reinforce the patterns already introduced but not fully mastered by the learners. We realize that certain patterns or rules have not been firmly established and therefore pupils need to have extra practice in these areas,

(c) to organize remedial work (including categorization of errors),

(a), (b), (c) together would mean helping the learners move from one level of 'interlanguage' to another and thereby approximate the systems of the target language. On the basis of our new insights into the nature of language and our increasing awareness of the socio-cultural components of language use, we have begun to consider errors as crucial to language learners and in fact a natural part of the gradual movement of the second language learners toward target language competence. At this level therefore we will not teach grammar as an end in itself but as a useful aid in helping students improve and extend the range of their communicative skill in English.

If we are organizing a course for teachers, grammar will have an important role to play in it. It will give them a good description of the patterns of English, make them familiar with one or more systems of analysis and help them categorise and describe errors. A good course in grammar can help teachers select their grammar from among a set of grammars. It will make them fairly familiar with the major systems and also the subsystems of English, and thereby help them answer not only 'what' and 'how' questions, but also such 'why' questions as are listed below :

(a) 'Why should I use *the present perfact progressive* in a given context and not *the present progressive* ?'

(b) Why is a sentence like 'he is resembled by his father' ungrammatical ?

(c) 'If you will look after my luggage, I'll go and buy my ticket' is a grammatically correct sentence. Why is the following then ungrammatical ?

'If you will drop this piece of chalk, it will break.'

This means that a grammar should also be explanatory, giving, as far as this is possible, the reasons why the usage is such and such. If a teacher has a fairly good knowledge of grammar and usage, he can organize his teaching points in terms of both the relatedness of linguistic items and their functions in different contexts of situation. "Clearly, however, if language teachers are to be called upon to make judgements about what constitutes an appropriate treatment of grammar for classroom use, it will be an advantage if they are conversant with the main developments in modern grammatical theory. We believe that a knowledge of grammatical theory is an indispensable part of every language teacher's training, even if in many cases this knowledge will reveal itself in the teacher's general attitude and approach to problems, rather than directly in the construction of specific diagrams and exercises" (Allen & Widdowson, 1975 : 46) All we are trying to say is that linguistic insights into language can be used to group related patterns and formulate productive rules. By 'insights' we mean linguistic notions that increase one's understanding of the nature of language and of language learning.

A linguistically-oriented grading can bring together such interrelated patterns as declarative and interrogative, affirmative and negative, active and passive, causative and non-causative and so on, and then combine these features to move in the direction of complexity ; for example, a negative interrogative is more complex than a simple interrogative, and a passive negative interrogative more complex than a negative interrogative. This does not mean that what is linguistically 'complex' is, in every case, going to be pedagogically complex. For example, *This is a difficult problem* may be said

to be a linguistic realization of two underlying sentences : (1) *This is a problem.* (2) *It is difficult.* Classroom teachers may not find this sentence difficult to teach. For them it may be like any other simple sentence. The point which needs stressing here is that at some stage teachers may find it useful to ask their students to combine (1) *This is a problem* and (2) *It is difficult* into (3) *This is a difficult problem.* This will help students internalize a set of principles regarding complex sentence formation. At a more advanced stage they can be shown how (3) is related to a complex sentence with a relative clause in it. One of the questions that may be asked at this point is ; How is this exercise different from exercises based on 'substitution drills'? One good answer to this question is : "In traditional substitution drills, a particular sentence pattern is held constant and new vocabulary items are substituted into the pattern. The idea is to 'establish' the sentence pattern. The new transformationally-oriented drills tend to hold the principal content vocabulary constant and change the sentence patterns to different but related patterns. The idea is to make students familiar with a group of related sentence patterns such as : questions and statements, affirmatives and negatives, combining two related sentences into a complex sentence with an embedded relative/complement clause in it and so on" (Verma ; 1973 : 20).

We must, however, note that the ability to churn out grammatically correct sentences is not enough. We must help our students select sentences keeping in view the sociocultural setting, the participants involved, and the topic (s) of discourse. Knowing a language involves not only the ability to construct well-formed sentences but also the ability to use them appropriately in acts of communication. The ability to produce grammatically well-formed sentences is only one element contributing to communicative competence. The learner must develop the ability to select a particular grammatical sequence, the one which is appropriate to the context, both linguistic and socio-cultural. The picture unfortunately is distressing. "At one extreme we have had students able to repeat rules and paradigms and concoct artificial samples of the foreign language without being able to communicate effectively, either in speech or writing ; at the other extreme we have had students who are very fluent in the production of set phrases which they have learned by imitation but who are unable to create at will utterances

to convey their message in the foreign language. Surely competent foreign-language use is something other than either of these" (Rivers ; 1968 : 71-72). We must impart a knowledge of the basic structural principles but we must ensure that the students know-how to put their knowledge of these principles to practical use. "A number of language teachers and applied linguists have suggested that the 'structural' approach to foreign language teaching, which focuses attention on the formal properties of the language being learned and lays stress on the importance of manipulating sentence patterns, does not satisfactorily provide for the learning of communicative competence...... This has led to proposals that the 'content' of foreign language courses should be primarily of a communicative rather than of a narrowly conceived linguistic character" (Allen & Widdowson ; 1975 : 89-90). What is really important is "to ensure that the language data to which the learner is exposed be presented 'in context', i.e. as part of continuous discourse or dialogue, and in a situational context, if necessary, simulated" (Pit Corder ; 1973 : 93).

4. There are grammars and grammars. Which grammar to teach ? Again the answer to this question will depend on the level at which we are teaching. If we are teaching students of linguistics, we would like to make them familiar with all the linguistically sophisticated models of grammar. If we are teaching English as a second language, we will go in for that grammar which gives us the facts of modern English neatly categorized and explained. A book like *A University Grammar of English* (Quirk & Greenbaum : 1973) can be of particular value to foreign students and teachers because, at the same time as it gives them an awareness of the mechanisms of the language, it provides them with a detailed description of the language as it is spoken and written by educated natives. *A Communicative Grammar of English* (Leach and Svartvik ; 1975) is devoted to the *uses* of grammar and not to grammatical *structure*. It is designed to give the maximum help to fairly advanced students of English, and for this reason employs a communicative rather than a structural approach. We have already said that a grammar of a language is a description of the sentences of the language. What do we mean by 'description' here ? By 'description' we mean a set of statements about the facts of a language in terms of a theory. In fact, in nearly all the models of grammar available today the emphasis is on theoretical framework. In processing 'facts' it is natural for a grammerian to be influenced by his theoretical commitments..... Writers of teaching grammars or pedagogical grammars will have to have their main focus on 'facts' and the relatedness of facts. In presenting and explaining facts they can make use of the insights of modern grammars. For example, they can use the insights of linguistics to explain how we can reduce 1 (a) to 1 (b) but we can't reduce 2 (a) to 2(b) :

1(a) The man who is coming here this evening is a teacher.
(b) The man coming here this evening is a teacher.
2(a) The man who came here yesterday was a teacher.
*(b) The man came here yesterday was a teacher.

Languages have their own rules for reducing clauses to phrases. If a grammar fails to capture these rules, it cannot help us understand the 'facts' of that language. When we talk about pedagogical grammar, we do not mean a new set of facts : we mean a new way of selecting and presenting facts. "A pedagogic grammar is typically electic in the sense that the applied linguist must pick and choose among formal statements in the light of his experience as a teacher, and decide what are pedagogically the most appropriate ways of arranging the information that he derives from scientific grammars" (Allen, 1974 : 60). "Pedagogic grammars of this kind", says Pit Corder (1973 : 327), "are in some degree textbooks in the methodology of grammatical presentation." The reason why some of the traditional grammars have come in for criticism is not that they are traditional but that they are not descriptions of contemporary English. If a grammar labels the following sentences ungrammatical

Who are you looking for ?
The man who I wanted to see has left
It's me

it cannot be accepted as a description of the facts of contemporary English, for the sentences listed above constitute some of the 'facts' of modern English.

Linguists are not interested in 'facts' for the sake of 'facts'. They are interested in the 'facts' of English because they help them

understand how English grammar works. At a higher level of abstraction one can say that there are no 'facts' in language itself. It is the linguist who 'creates' them in his description. "Facts" are convenient 'fictions' created by linguists to talk about language(s). Linguists are really interested in 'how'- in the mechanisms of English. This is explicitly stated in the Preface to Lees *The Grammar of English Nominalizations* (1963) : "Only by studying the gramatical details of particular languages may we gain a deeper insight into the mechanisms underlying what most characteristically human. type of behaviour, man's ability to communicate by means of language" (p. xvi). A transformational grammar of English, for example, attempts to make explicit and conscious what the speaker of English does intuitively and unconsciously. Teachers are interested in the 'facts' of English because they are the raw material out of which their language lessons are made. Linguists are interested in finding out the most powerful systems of formalisms for describing and explaining 'facts'. Teachers are interested in finding out the most simple, useful and productive systems of presenting 'facts' in their classroom and textbooks. "The challenge lies in finding some way of incorporating formal linguistics into teaching materials without destroying the pedagogic validity of the presentation" (Allen, 1974 : 92). Allen and Van Buren (1971 : 150) make a distinction between formal grammars and practical grammars. Formal grammars are concerned with language competence, i.e. they are designed to provide, in a highly abstract and systematic way, a full specification of the knowledge about language structure that underlies a native speaker's performance. Practical grammars, of which teaching grammars are a particular type, consist of a selection of data drawn from an underlying formal grammar according to rather vague principles of convenience and practical usefulness which are entirely different from the principles that underlie formal grammars. It may once again be useful to examine the question of the relative importance of sentence grammar and word grammar. In a language teaching situation we cannot draw a sharp line between grammar and lexis. In the beginning we make our students familiar with the essential patterns of grammar using simple words and then move on to what we call 'vocabulary expansion'. Vocabulary items derive their meaning from the grammatical frames and also the contexts of situation in which they function. In the process of helping students expand their use of lexical items we are also helping them

handle some of the most delicate grammatical 'choices' and relations. In fact, the most delicate grammar is word grammar. Let's look at the grammar of *say, tell,* and *ask* :

say that........

tell someone that........

ask someone if/whether........

Note that we *ask, tell, like, expect, want* somebody to come but we do not *say, think, doubt, hope* somebody to come. We *see/meet* people but we do not *wait/look* people. Such examples can be multiplied. One of the fundamental difficulties encountered by the foreign student of English is the nature of the 'pattern' or 'patterns' in which a verb occurs. "A knowledge of how to put words together is as important as, perhaps more important than, a knowledge of their meanings. The most important patterns are those for the verbs. Unless the learner becomes familiar with these he will be unable to use his vocabulary. He may suppose that because he has heard and seen 'I intend (want, propose) to come', he may say or write 'I suggest to come', that because he has heard or seen 'Please tell me the meaning'. 'Please show me the way', he can say or write 'Please explain me this sentence' (Hornby; 1954). The relationship between verb usage and meaning is one of the most complex and subtle areas in the English language. Leech (1971) has described this area systematically with particular reference to tense, aspect and modal auxiliary usage. His explanations of the differences in meaning between verbal forms are insightful. The most natural inference from *I saw him this March,* for example, is that March is over, while *I have seen him this March* suggests that March is still with us. We can understand and appreciate this difference in meaning if we are familiar with both the formal and semantic aspects of the verbal forms in English. In the process of refining and expanding our grammar, we reach a stage where our grammar shades into a grammar of English words. H. E. Palmer is right in saying : "When the foreign student of English complains that English grammar is 'difficult' or composes ungrammatical sentences and constructions, it is usually not because he is ignorent of grammatical categories, but because he is not aware of the peculiarities pertaining to individual words" (Palmar; 1938 : iii). The formal (grammatical and lexical) patterns are surface manifestations of different types and shades of meaning. Learning a second language is a process of learning how

the forms of a language have been determined by the functions it has evolved to serve. 'Learning language is learning how to mean' (Halliday, 1973 : 24). In a learning-teaching situation it may be useful to take 'situation' as the starting point, that is, to subcategorize 'situations' and then look for their formal realizations. This approach is based on the assumption that the basic grammatical systems have already been established. Hornby's *patterns*, for example, are related systematically to meanings, uses and situations. "Instead of dealing with such auxiliary and model verbs as *be, have can-could, will-would, shall-should, may-might, must, ought* one by one and describing their functions, the situation is taken as the starting point. The concept of obligation can be expressed by the use of such words as *necessity, necessary, compulsion, obligation, obligatory*... But except in formal style these are words that an Englishman is unlikely io use. He will prefer constructions with *have to* (or *have got to*), *must, ought*, or *should*...The approach to the problems of time and tense has been made from the same angle. Instead of taking the tenses one by one and describing their uses, I have taken time as the starting point Here is an aspect of time, or here is a situation or state. Which tense or tenses can be used here? Or what tense equivalents are available and perhaps preferable ?" (Hornby ; 1954 : vi & vii).

5. The most difficult question to answer is : How much of grammar ? Surely the answer will depend on the level at which we are teaching and the kind of grammar that we are teaching. It will depend on the 'consumers'. It we have a five or six year course of English, we should organize our teaching of grammar in such a way that our students become familiar with the basic rules of sentence formation—simple, complex, and compound sentences including interrogative, negative, imperative, and passive types and the use of articles, prepositions, and tenses. At every level we will have to take the following decisions :

(1) Which of the uses of articles, prepositions, and tenses should be taught at this level ?

(2) Which of the rules or subsystems (e. g. stative verbs are—'progressive') should be introduced at this level ?

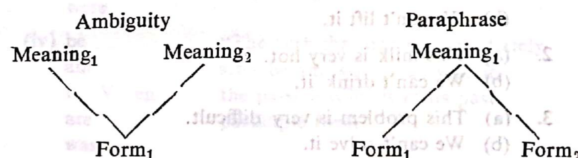
(3) How many of the complement types should be introduced at this level and in what order ?

(4) Which of the interrogative patterns should be introduced at this level and in what order ?

(5) How deep in complexity should we go at this level—in terms of modification and embedding ?

(6) At what level should we introduce stylistic transformations ?

(7) At what level should we help them use their ability to perceive ambiguity in a grammatical string and also to perceive when two or more strings are synonymous ? When should they be made familiar with the following types of form-meaning relationships :



The point that must be stressed here is that the answers to these questions will not depend on linguistic relations alone but will have to be found in the functions of language. We must subcategorize the situations, topics, and participants which will necessitate the use of English and then select topically and situationally appropriate forms.

6. How should we present these 'facts'? We should be very careful about this aspect of grammar—the presentation of grammatical facts, for it tends either to become very dull or leads on to 'grammar fatigue'. We have already said that we are not interested in the hollow shell of formalism. There is no point in resorting to new forms of the same old mumbo-jumbo. We are interested in helping our students to use English effectively in a variety of situations. At the post-graduate level we can start off with rules, tree-diagrams, and 'networks', for students at that level can wrestle with abstract problems. At the school and college levels it may be useful to present grammatical facts in the following order :

(i) presenting sentences in situations and/or identifying sentences in textual contexts.

(ii) helping students make significant generalizations,

(iii) teachers and students together working out a formula to function as a mnemonic device,

(iv) producing sentences in situations based on rules already learnt...

What emerges out of this organization is a cyclic order :

Sentences in situations———→rules
↑ ↑
rules←——————————Sentences in situation

For example, let's look at the following sets of sentences :

1. (a) This table is very heavy.
 (b) We can't lift it.

2. (a) This milk is very hot.
 (b) We can't drink it.

3. (a) This problem is very difficult.
 (b) We can't solve it.

In each set, (a) and (b) sentences can be combined into one sentence, using *too* in place of *very* in (a) and making (b) a constituent of (a) by introducing certain changes in it. The sentences thus formed will be :

This table is too heavy (for us) to lift.
This milk is too hot (for us) to drink.
This problem is too difficult (for us) to solve.

Now we can help our students notice the central point of this pattern, which is :

too + adjective + to V

That is, *too* comes before an adjective. The adjective is followed by the verb of the second sentence in its infinitival form. Between the adjective and the infinitive we can have *for NP* (e.g. This problem is too difficult for *John* to do). If this NP is general (like for *us*, for *every one*) it may be deleted. Now the students may once again be given sets of sentences and asked to combine the sentences in each set into one sentence by using *too*. We can think of a variety of such non-mechanical exercises. In addition, simple tips like the following may be of great help to teachers and learners :

(i)	Do Does + V Did	"The verb that comes immediately after do/does/did is in its neutral/unmarked form."
(ii)	has have + V − en had	"The verb that comes immediately after has/have/had is in its past participle form."
(iii)	be am is + V-ing are was were	"The verb that comes immediately after be/am/is/are/was/were in the active voice is in its-*ing* form."
(iv)	be am is + V − en are was were	"The verb that comes immediately after be/am/is/are/was/were in the passive voice is in its past participle form."

At a higher level these tips can be presented in the form of the following rules :

(i) The *modal* modification of the verbal group in English is realized by the selection of a modal auxiliary followed by a verb in its base form, for example,

will do
will be doing
will be done
will have done
will have been doing

The following are ungrammatical :

*will did
*might went
*could finds
*shall being

(ii) The *perfective* modification is realized by the selection of the auxiliary *'have'* (or *has* or *had*) followed by a verb in its past participial form (− *en* form), for example,

may *have done*
may *have been* doing
has done
had done
has/had been done

The following are ungrammatical :

*may have do
*may has done
*has lives
*had went
*have did

(iii) The *progressive* modification is realized by the selection of the auxiliary 'be' (am/is/are/was/were) followed by a verb in its '—ing' form, for example

may *be eating*
may have *been eating*
is eating
was eating
has *been eating*
had *been eating*

The following are ungrammatical :

*is lives
*was lived
*are went
*were eat

(iv) The *passive* modification is realized by the selection of the auxiliary 'be' (am/is/are/was/were) followed by a verb in its past participial form, for example.

may *be eaten*
may have *been eaten*
has/had *been eaten*
is/was eaten

The following are ungrammatical :

*may be ate
*may have been ate
*has been went

*had been took
*was/is spoke

The verb immediately following do/does/did is always in its base form, for example,

Do you *like* it ?
Does he *like* it ?
Did he *like* it ?

The following are ungrammatical :

*Did he went there ?
*Does he likes it ?
*Do you liking it ?
*He does not reads this book.

These simple rules will help them guard against such sentences as the following :

*Does he likes it ?
*Did he went there ?
*Has he went ?
*He is lives in the Hostel.
*This book is wrote by Dickens.

There are areas of language where general rules may not be of much help to learners. One can, for example, give general rules for article choice, but these rules do not give the learner any insights into the presuppositions the speaker may be making about the topics of the sentence. 'The task of the serious teacher, then, is to teach the non-native speaker what presuppositions go with what use of the articles" (Lakoff ; 1969 : 67).

One of the questions that has been puzzling teachers for quite some time is : Should they explain the rules of English in terms of the rules of the mother tongue ? This question cannot be answered in terms of a simple 'yes' or 'no'. Upto the undergraduate level the mother tongue may be used to explain and/or illustrate certain grammatical points. Hints like the following may be of help to learners at the college level.

Hindi	English
Se	since
	for
	from

Corresponding to *se* in Hindi there are three items in English—*since, for* and *from. Since* is used when we refer to a point of time, *for* when we refer to a period of time, and *from* is used to refer to *'from* one point of time to *another'*. We will have to help the learners perceive that 'since' is used in English for naming time and 'for' is used for counting *time*. At the postgraduate level the rules of the mother tongue may be used to illustrate and explain rules in English or to show the differences between the two systems. For example : j-clauses in Hindi correspond to wh-(relative) clauses in English. The differences between the tense-cum-aspectual system of Hindi and English may be shown in the form of a table like the one given below :

Meaning	Manifestation	
	English	Hindi
Action going on at the present moment	Present Progressive	Present Progressive
Action began at a point of time in the past and is going on even at the present moment	Present Perfect Progressive	

This may help the learners understand the source of errors in such sentences as the following :

He is living in Hyderabad since 1970.

"A short elucidation of a grammatical point in the native language will help these students much more than a prolonged attempt to explain and re-explain in the foreign language and will leave more time for practice of the feature under discussion—practice that is essential if such students are to be able to use the structural patterns about which they are learning" (Rivers ;1968 : 85).

All language teaching involves the teaching of grammar, for grammar is the soul of a language. The moment we teach an item (a word, a phrase, a clause, or a sentence), we bring in grammar either directly or indirectly. Usually, we move from the least delicate grammar which gives us all the general rules to the most delicate grammar which tells us about the peculiarities of words or sets of words. One of the general rules of English grammar is that the verbs can take the progressive aspect, but when we move on to a more delicate grammar we realize that there is a subset of verbs called stative verbs which do not take the progressive : they are '—progressive'.

We must remember that the teaching of grammar is not an end in itself (it cannot be an end in itself in the context of language teaching); it is a means to an end—the end is : to promote quick and efficient language learning by helping students to achieve the practical mastery of a language, which will enable them to switch linguistically and appropriately according to situational changes (Verma ; 1976 : 153).

TYPES OF GRAMMAR AND LANGUAGE TEACHING

—J. C. Sharma

Many persons have contempt for teaching grammar in the language curriculum and rather consider it of no relevance in the language teaching. There are some others who would oppose any kind of learning in general and the learning of language in particular in formal situations. The believers of the latter thought would put forth when one needs to learn a thing he learns it. But let us not discuss here about these controversies and go with the assumption that the grammar plays an important role in the teaching and learning of a language i.e. second or foreign language. Once we commit that grammar has vital role in the language teaching then the linguistic models get predominent role.

Modern Linguistic theories such as Transformational Grammar, Generative Semantic etc. are the reactions to the Bloomfildian linguistic structuralism. These theories tried to find faults with the structural model which believed in the language as physical entity analyzable as it exists based on the linguistic data available. The units of description in this model are phoneme, morpheme, word, phrase, clause, and sentence. This model is primarily based on the behaviouristic-psychological theory believing in stimulus-response theory of language acquisition. For them the language is the formation of habit and this habit is formed by imitation, trialand error method and reinforcement of the correct response. This model has been used in language teaching for quite some time and the language usually is taught through pattern practice, substitution drill purely based on forms and the meaning was ignored considering it as extralinguistic phenomenon. This approach has a strong belief that language learning takes place through analogy.

Structural model has been used in contrastive linguistics mainly adopted to find out the structural diffrences between the source language i.e. L_1 (the language of the learner) and the target language i.e. L_2 (the second language to be learnt). The differences are taken as the points of difficulties for the learners. And whenever the learner committed any error, mostly it was considered due to interference from L_1. These are certain outcomes of this linguistic model related to language teaching.

I refer some studies to refute this : –

One study by Dulay and Burt (1972) has refuted this –"the major portion of error types can be explained by creative construction rather than habit formation." They have pointed out the errors are developmental not only due to their first language habit. I here quote another study "while casual observation affirms that errors due to mother-tongue interference do occur in second language learning in adults, our data imply that a major source of errors is intra—rather interlingual and are due to the use of universal language processing." (Nathalie Bailey etc. 1974).

But some more studies in depth can refute the assumptions.

It was considered by some scholars that structural model does not give a complete description of the language since language does not relate the outside world i.e. meanings with forms. Thus structural approach considered incapable of accounting for the most basic features of human language. The school which attacked structuralism was championed by Chomsky for whom language is not acquired by mere imitation rather the child creates his own grammar by generalizations through which he produces sentences. He emphasises on the inner capacity of human—the particular grows out from universal. Their belief is that language is acquired by cognitive processes. Thus cognition precedes the language forms. The child does not repeat the same sentence what he has listened rather he creates the new sentences which he has never heard and produced before. This is due to the rules are grasped by the child and proves that the rules are finite and sentences produced are infinite. Mc. Neill (1966) goes so far as to claim that imitation is not 'the means of introducing new forms into a child's grammar,' imitations to him bring merely play involving known forms supports Chomsky's point of view. Chomsky's theory of grammar known as

transformational grammar keeps the syntax as the primary based on syntactic components and semantic as well as phonological components serve as interpretive components. Chomsky is influenced by the cognitive theory of phychology. This theory attaches more importance to learner's understanding of the structure of the language and insight into the structure of the language is considered to be an important aspect of the acquisition process. In practice this means that second language teaching should give proper emphasis on the explanation of grammar to have conscious control over the language structures.

A few scholars like Mc Cawley, Lakoff, Fillmore etc. found faults with Chomsky's theory and proposed the deep structure becoming deeper representing the semantic relationships on which T-rules are applied to derive the surface structure. The first two represent the theory of generative semantics and Fillmore's theory (1968) is known as case theory after him. The concept in which they all believe that at the bottom all languages are essentially alike. 'To say that formal properties of the base will provide the frame-work for the characterization of universal categories is to assume that much of the structures of the base is common to all languages' (Chomsky ; *1965 : 117*). Thus they believe in the linguistic universals and creative power of language.

Acording to Fillmore case theory has certain assumptions and some of which may be mentioned here such as (1) Clear understanding between deep and surface structures ; (2) Sentence in its basic structure consists of a verb and one or more noun phrases and each associated with them in case relations. Thus for Fillmore the verb is the central part of the sentence showing various semantic relations with the nouns occurring in a preposition and these relations are called case roles or relations. Fillmore proposes to replace phrase structure rule of Chomsky (1965) with a system of case rules that analyze the category sentence as modality plus proposition and expands the proposition as pointed above in verb plus one or more symbols chosen from a predetermined case roles from which WPs can be developed. To the contrary generative grammarian viewed case makers as surface structure reflexes introduced by rules of various kinds of deep and surface syntactic relations. Case notions are formed as the basis of the relationship between objects or processes

signified by the linguistic expression in the outside nonlinguistic world. In Fillmore's own words, case theory—"is intended as a contribution to the study of formal and substantive syntactic universals." (1968 : 2) He pleads that the grammatical notion case deserves a place in the base component of the grammar of every language. The distinction is made between the case roles i.e. underlying the syntactic semantic relationship and case forms on the surface level may be realized variously in different languages such as by inflection, prepositions or postposition or by constraints on word order etc. There is no one to our correspondence between case categories in deep structure and surface categories like subject or object and also the case forms. The same case may be marked by more then one marker depending on surface forms. For example :

1. मैं काम करता हूँ 'I do the work'.
   A O

2. मुझसे काम किया जाता है 'The work is done by me'.
   A O

In sentences (1) and (2) agent is मैं 'I' both in active and passive sentences and object case remains काम 'work' wherein (1) मैं is the surface subject and in (2) काम is the surface subject which was the object in (1) and deep agent in (2) takes the instrument case marker से.

As explained above that there is no one to one relationship between case relations and case forms in a proposition. The noun found in one noun sentence can express any meaning relationship depending on the verbs even if it occurs in the nominative. So the verbs listed together for the same relationship with nouns in more specific relation than just to state in the structural term that there is one class of sentence type having one noun with the verb. A few examples of a single nominative noun sentence denoting various case relations such is Agentive Experiencer, Objective, Instrument Locative etc. illustrated and all these nouns are surface subjects in the sentences.

[A]	3.	लड़का गया	'Boy went.'
[E]	4.	लड़की घबराई	'Girl got perturbed.'
[I]	5.	हवाई जहाज उड़ा	'Aeroplane flew.'
	6.	मशीन चल रही है	'The machine is on.'
[O]	7.	फल गिरा	'The fruit fell.'
	8.	मेज टूटा	'The table broke.'
[L]	9.	हैदराबाद एक अच्छा शहर है	'Hydrabad is a good city.'

Language is quite a complex phenomenon. It is not that all the verbs can be filled in to the case frames easily. Some verbs depending on the occurrence of the types of nouns with them belong to more than one case frame. It states the validity of deep cases. For example see the following sentences.

[O]	10.	नौका डूब रही है	'The boat is sinking.'
[A]	11.	लड़की डूब रही है	'The girl is drowning.'
[O]	12.	पतंग उड़ रही है	'The kite is flying.'
[A]	13.	पक्षी उड़ रहा है	'The bird is flying.'
[O]	14.	गाड़ी जा रही है	'The train is going.'
[A]	15.	लड़का जा रहा है	'The boy is going.'

In sentences 10, 12, 14, the nouns are inanimate and no volitional though surface subject but mark the deep objective case relationship and with the same verbs in 11, 13 and 15 the nouns denote agentive case relationship.

The various case relations occurring in simple sentences express a notion of 'sentence type' that may be expected to have universal validity independent of such differences as subject selection which is language specific. And this way the classification of verbs is imposed on the language with which the other elements are inserted since the verb is pivotal in this frame. On the basis of case frames Hindi verbs have been classified into eight types by Lakshmibai, which may not be an exhaustive list of the simple sentence types. With the help of this model all the verbs of Hindi can be classified. She gives two types of (A+S+O) type on the basis that

one the source element can be coreferential with the agentive or intermediate agent and in this case source element is obligatory and in the other type source element is not identical with agent or intermediate agent. A few of her examples may be listed here.

[A+O]	16.	लड़की ने चद्दर ओढ़ ली	'The girl wrapped the blanket around herself.'
[A+S+O]	17.	मैं उनसे संस्कृत पढ़ता हूँ	'I learn Sanskrit from him.'
[A+D+O]	18.	मैंने लड़के को किताब सौंप दी	'I handed over the book to the boy.'
[A+S+O]	19.	मैंने माँ से एक रुपया माँगा	'I asked mother for a rupee.'
[A+D]	20.	मैंने लड़के को डाँटा	'I scolded the boy.'
[A]	21.	लड़का आ रहा है	'The boy is coming.'
[E+O]	22.	मैं हिंदी जानता हूँ	'I know Hindi.'
[O]	23.	कपड़े धुल रहे हैं	'The clothes are washing'
Or			
[E]	24.	मैं भीग रहा हूँ	'I am getting wet.'

I don't understand why she put objective or experience under class and type of verbs. It seems to be separate category as the case of the physical and psychological verbs always denoted by the animate nouns.

Lakshmibai makes some generalizations if these are not refuted are very useful for explanatory purposes. She states that sentences with agentive case can only be followed by a purposive clause. She gives the examples—

25. लड़का जल्दी सोता है ताकि जल्दी उठ सके 'The boy sleeps early so that he can get up early in the morning." and stops sentences like—

26. गाड़ी चली ताकि 'The train left so that......and

27. चोर घबराता है ताकि 'Thief gets nervous. But to me 26 can follow the purposive clause as in—

28. गाड़ी चली ताकि समय पर पहुंचे 'The train left so that it reaches in time and her another generalization that sentences with agentive can be passvized holds very strong in 24.

Besides the classification of verbs in the case frames, this theory can also relate the phonologically distinct verbs such as खरीदना/बेचना, देना/लेना, पढ़ना/सीखना, भेजना/मिलना etc.

29. मैंने उससे किताब खरीदी 'I bought the book form him.'
A S D

30. उसने मुझको किताब बेची 'He sold the book to me.'
A D O

31. मैं हिंदी पढ़ता हूँ 'I learn Hindi.'
A O

32. मैं हिंदी सीखता हूँ 'I learn Hindi.'
A O

33. मैंने उसे पुस्तक भेजी 'I sent him the book'
A D O

34. उसे पुस्तक मिली 'He got the book.'
D O

35. मैं उसको दस रुपये देता हूँ 'I give him ten rupees.'
A D O

36. वह मुझसे दस रुपये लेता है 'He takes ten rupees from me.'
A S O

In the above sentences (29) and (30) मैं 'I' is recepient of the result of the action and (31) and (32) share the case frames show identical of meaning. Thus all can be explained like this.

Inalienable Possession : The semantically based theory has a good distinction between inalienable and alienable possession/which is marked in various languages of the world. For Fillmore this

phenomenon seems to be universal and he quotes Back (1965). In short it appears that the considerable surface variety found in sentences involving attribution of some property to an inalienable noun is to be accounted for by positing for universal grammar." Fillmore gives nouns denoting kinship relations, body parts, sides are mainly inalienable and others are alienable possession. This hold very true for Hindi. As in Hindi on the surface पास postposition after the genitival form of the noun is optionally used with alienable objects and which is absent in case of inalienable objects. But on the basis of analogy the learners can commit such mistakes of using पास invariably, but here such explanation can be very helpful for the teacher as well as to learner. A few examples are :

37. मेरे पास दो पुस्तकें हैं 'I have two books,'
38. उसके पास एक अच्छा घर है 'He has a good house.'
39. मेरे पास दो हाथ हैं 'I have two hands.'
40. मेरे पास दो हाथ हैं
41. उसके दो लड़के हैं 'He has two sons.'
42. मेरी बाईं ओर— 'towards my left.'

Besides पास in Hindi also shows location relation. Thus there is some significant syntactic relationship between dative and genitive ; and dative and locative when nouns are associated as pointed out by Fillmore (1968). Examples are :

43. आप मेरे पास आइयेगा 'Please come to me.'
44. बाल्टी मेज के पास पड़ी थी 'The bucket was lying near the table.'

Explanatory Value of the Theory :

This theory is based on good explanatory device which lacks in structural approach. Fillmore gives a good explanation of conjunction of noun phrases that noun phrases having the same case relation can conjoin together in the coordinate sentences and in that case there can be compound instances of a single case. He also states that each case relationship occurs once in a simple sentence thus a

good distinction of simple and coordinate sentences is stated. Thus following are the simple sentences.

[A+I+O] 45. राम ट्रेक्टर से खेत बाहता है

'Ram ploughs the field with the tractor.'

46. राम ने मशीन से चारा काटा

Ram cut the grass with the machine

The above explanatory device blocks such ungrammatic sentences because the agent and instrument can not conjoin together.

47. राम और मशीन ने चारा काटा

T. G. also blocks such sentences by lexical rules like animate will conjoin with animate only. The phenomenon of a single case relation occurring only once in a simple sentence and the noun phrases representing the same case can be conjoined, can be stretched on the co-occurrence restriction in the sentences giving good generalization which holds between the cases is very helpful for the language teacher. Let us take the following examples :

[A+O] 48. उसने लकड़ी सुखाई 'He dried the wood.'

[A+O] 49. उसने लकड़ी तोड़ी 'He cut the wood '

[O] 50. लकड़ी सूखी 'The wood dried.'

[O] 51. लकड़ी टूटी 'The wood broke.'

The above sentences (48) and (49) can conjoin as well as (50) and (51) and is (48) and (49) agents and objects are coreferentials so one of them would be dropped. Similary in (49) and (51) O are coreferentials. We get :

52. उसने लकड़ी सुखा कर तोड़ी 'He cut the wood after drying.'

53. लकड़ी सूख कर टूटी 'The wood broke after it dried up.'

Thus the conjoining of catenative type is done when events are related to the same agent in a sequential order.

The theory helps in the notion of subject and Fillmore has advocated the case hierarchy of English in this order--Agent,

Experiencer, Instrument, Object, Source, Goal, Location, Time i.e (A E I O S G L T) which suggests that the left most becomes the surface subject. He has given this in order to relate deep case relations with the surface subject and object by this rule. This can be applied for the solution of subject in Hindi. This was just a brief outline of the case theory. The theory itself may not be a full description of language but it suggests an approach to tackle the language.

Conclusion

This theory rather for that matter any theory has kept language description as its main goal and has not been directly devised for language teaching. But it is presumed that a theory with the better description of language should be better for language teaching. It is the language pedagogues and practitioners who can make use of these theories for the language teaching. The case theory has hardly been used so for in the language teaching. Some of the faults of structural approach can be corrected with the help of the case theory. Structural approach emphasises more on practice and repetition, many learners usually the adults this repetition tedious and unrewarding because of its rule governed nature. This approach allows up to regroup the structures in a different way from that in which they are presently introduced. This not only brings a novelty to the learner's activity but enables him to reorganize his knowledge of the language in a meaningful way by reference to semantic principles. It takes care of the meaning and Russell points out the importance of the meaning "the whole function of language is to have meaning and it only fulfils this function in proportion as it approaches to the ideal language which we postulate."

In this model the movement of learning would be from grammatical rules to actual production and thus certainly can save time and the chances of producing ungrammatical sentences with this approach are also ruled out. Of course, the rules will be

memorised but it is not anything new, the lauguage involves tremendous amount of memorization.

The model gives better insight to the teacher for the language through which he can explain things to the students and stop the production of wrong sentences.

Classification of verbs and nouns on the basis of case frame can be done through this model and all these words so categorized will show association. If we take the help of this phenomenon in the production of material would be psychologically more viable as through association the learning is faster and more permanent and forgetful.

विचार-विमर्श

कृष्ण कुमार शर्मा—

इस पत्र के आरंभ में यह कहा गया था कि कारक व्याकरण को किस प्रकार उपयोगी बनाया जा सकता है, इस पर कुछ कहेंगे। मैंने बड़े ध्यान से सुना और हर सेशन के बाद मैं यह कोशिश करता रहा कि अब मुझे कोई दिशा मिलेगी लेकिन आपने जो बताया कि पहले कारक व्याकरण पढ़ें और कारक व्याकरण पढ़कर यह निर्णय करें कि उसमें गलत वाक्य बनाया जा सकता है कि नहीं ? यह तो बिल्कुल उलटा है। अगर आप हमें यह थोड़ा-सा निर्देश दे सकते कि वास्तविक शिक्षण में जब हम परिस्थितियों से टकराते हैं तब इसका उपयोग हम कैसे करें। या जब हम द्वितीय भाषा शिक्षा में पढ़ा रहे हैं तब Agentative Semantative पढ़ायें, तो इसकी उपयोगिता बतलायें तो क्या सामने वाले उठकर भाग नहीं जायेंगे ?

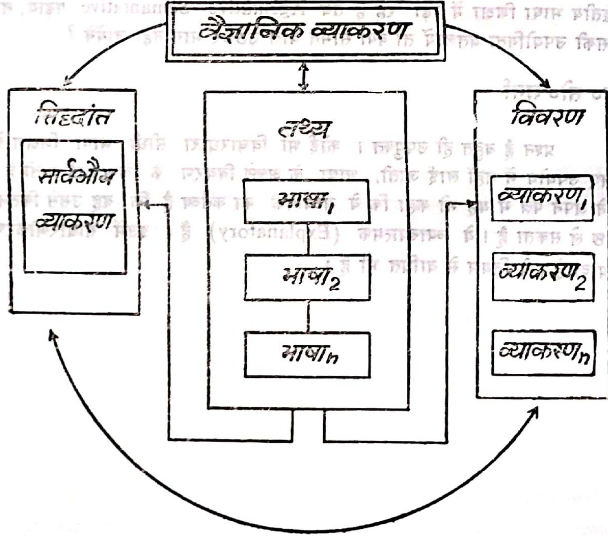
जे० सी० शर्मा—

प्रश्न है बहुत ही उपयुक्त। कोई भी विचारधारा सीधी भाषा शिक्षण के लिए उपयोग में नहीं लाई जाती, भाषा के अच्छे विवरण के लिए लाई जाती है। मैंने अपने पत्र में यह भी कहा कि ये अध्यापक का कर्तव्य है कि वह उससे कितना कुछ ले सकता है। ये व्याख्यात्मक (Explanatory) हैं। इसमें साधारणीकरण ज्यादा है। ये नियम से बाधित भी हैं।

शैक्षणिक व्याकरण

—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

व्याकरण की संकल्पना को तीन निश्चित संदर्भों में देखना संभव है—सिद्धांत, विवरण और शिक्षण। यह कहा जा सकता है कि भाषा वैज्ञानिक सिद्धांतों की सिद्धि के रूप में 'सार्वभौम व्याकरण' (Universal grammar) भाषा विवरण की सिद्धि के रूप में 'भाषा विशेष का व्याकरण' (Language specific grammar) और विद्यार्थी की अधिगम प्रक्रिया और अध्यापक की शिक्षण विधि की सिद्धि के रूप में 'शैक्षणिक व्याकरण' (Pedagogical grammar) की अपनी अलग-अलग भूमिका है। यह भी कहा जा सकता है कि सार्वभौम और भाषा विशेष के व्याकरण, भाषा



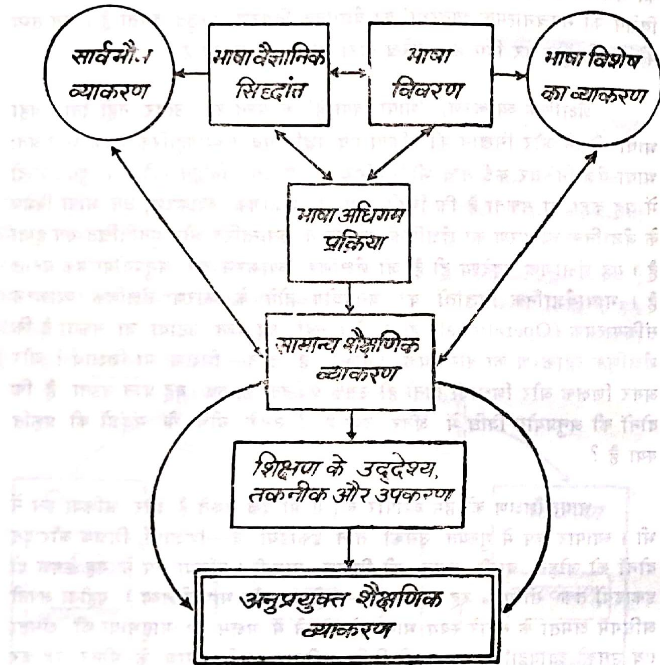
संबंधी वैज्ञानिक व्याकरण हैं क्योंकि ये दोनों ही इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि भाषा की प्रकृति और उसकी संरचनात्मक व्यवस्था क्या है? इनमें अंतर है तो केवल स्तरभेद का अर्थात् सार्वभौम व्याकरण वह वैज्ञानिक व्याकरण है जो 'संभाव्य भाषा की संभाव्य संरचना' का पता लगाता है जबकि भाषा विशेष का व्याकरण 'भाषा विशेष की संरचनात्मक व्यवस्था' का वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत करता है। इस तथ्य को पिछले पृष्ठ पर दिए हुए आरेख द्वारा समझा जा सकता है।

शैक्षणिक व्याकरण, 'भाषा क्या है' के प्रश्न का उत्तर नहीं देता। वह भाषा सीखने और सिखाने की प्रक्रिया एवं पद्धति संबंधी व्यावहारिक व्याकरण है अतः भाषा वैज्ञानिकेतर कई तत्व भी निर्णायक रूप से उसमें निहित होते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी भाषा का शैक्षणिक व्याकरण, उस भाषा विशेष के वैज्ञानिक व्याकरण का शैक्षणिक उद्देश्य से रूपान्तरित और पुनर्लिखित रूप होता है। यह शैक्षणिक उद्देश्य ही है जो शैक्षणिक व्याकरण को अनुप्रयोगात्मक बनाता है। भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों का अनुप्रयोग होने के कारण शैक्षणिक व्याकरण संक्रियात्मक (Operational) होता है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शैक्षणिक व्याकरण का वास्तविक प्रयोक्ता है कौन—शिक्षक या शिक्षार्थी? और अगर शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही उसके प्रयोक्ता हैं, तब यह प्रश्न उठता है कि दोनों की अनुप्रयोग विधि में अंतर क्या है? उनके बीच के संबंधों की प्रकृति क्या है?

भाषा शिक्षण को हम व्यापार रूप में भी देख सकते हैं और प्रक्रिया रूप में भी। व्यापार रूप में मुख्यतः उसकी तीन इकाइयां हैं—शिक्षार्थी, शिक्षक और इन दोनों को जोड़ने वाली भाषा की शिक्षण सामग्री। प्रक्रिया रूप में यह केवल दो इकाइयों तक सीमित रह सकता है—ग्रहीता और भाषाई तथ्य। ग्रहीता अपनी अधिगम क्षमता के सहारे स्वयं भाषा को सीखने में सक्षम है। मातृभाषा की क्षमता एवं उसकी व्यावहारिक दक्षता की सिद्धि ग्रहीता भाषाई समाज के भीतर रह कर स्वयं पा लेता है। उसे न तो औपचारिक स्तर पर किसी शिक्षक की आवश्यकता होती है और न ही शिक्षण सामग्री की। उसके लिए समाज ही शिक्षक होता है और भाषा के संदर्भयुक्त वाक्य-समुच्चय ही शिक्षण सामग्री। अतः भाषा शिक्षण को दो दृष्टियों से देखना संभव है—भाषा अधिगम प्रक्रिया और भाषा शिक्षण व्यापार। भाषा अधिगम प्रक्रिया से संबद्ध व्याकरण को 'सामान्य शैक्षणिक व्याकरण' कहा जा सकता है और भाषा शिक्षण से संबद्ध व्याकरण को अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण।

जैसा पहले संकेत दिया गया है, व्याकरण के तीन आयाम मिलते हैं—सार्वभौम व्याकरण, भाषा विशेष का व्याकरण और शैक्षणिक व्याकरण। इन तीनों

के मूल में क्रमशः तीन उद्देश्यजनक आधार मिलते हैं—भाषावैज्ञानिक सिद्धांत, भाषा विवरण और भाषा अधिगम प्रक्रिया। इनके बीच के संबंधों को निम्नलिखित आरेख द्वारा समझा जा सकता है—



यह कहा जा सकता है कि सामान्य शैक्षणिक व्याकरण, भाषा विशेष की संभाव्य संरचना का भाषा अधिगम प्रक्रिया के आधार पर पुनर्लेखन है और अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण, भाषा-शिक्षण के उद्देश्य से नियंत्रित चयन (Selection), अनुस्तरण (gradation) और प्रस्तुतीकरण (presentation) के सिद्धांत के आधार पर सामान्य शैक्षणिक व्याकरण का अनुप्रयोग है।

अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण का व्यावहारिक रूप मुख्यतः निम्नलिखित तीन तथ्यों पर आधारित होता है—

(1) उद्देश्य एवं प्रयोजन—

भाषा शिक्षण के उद्देश्य और भाषा अध्येताओं का प्रयोजन संबंधी आवश्यकताओं का संबंध शैक्षणिक व्याकरण की न केवल प्रकृति को निर्धारित करता है वरन् भाषा शिक्षण पद्धति को भी बहुत दूर तक नियंत्रित करता है। उदाहरण के लिए, अध्येता भाषा को मातृभाषा के रूप में सीख रहा है अथवा अन्य भाषा के रूप में या वह अन्य भाषा को केवल बोलचाल के रूप में सीख रहा है अथवा उसमें वह पढ़ने-लिखने की भी दक्षता रखना चाहता है—ये तथ्य शैक्षणिक व्याकरण की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। यही कारण है कि मातृभाषा शिक्षण की दृष्टि से लिखे गए व्याकरण, अन्य भाषा शिक्षण के लिए व्यावहारिक नहीं होते। अन्य भाषा के रूप में सीखी जाने वाली भाषा, अपने उद्देश्य और प्रयोजन में भिन्न होने के कारण न केवल शिक्षण विधि में अंतर के कारण बनते हैं वरन् भाषा को प्रयोजन सिद्धि बनाने के कारण, भाषिक संरचना के भिन्न अभिलक्षण एवं अभिलक्षण गुच्छ पर बल देने के कारण विभिन्न शैक्षणिक व्याकरण की मांग करते हैं। इस तथ्य को निम्नलिखित तालिका के आधार पर समझा जा सकता है—

अन्य भाषा
(Other tongue)

प्रयोजन :	संपूरक (Supplementary)	सहायक (Auxiliary)	परिपूरक (Complementary)	समतुल्य (Equative)
द्विभाषिकता :	वैयक्तिक	सांस्कृतिक	सामाजिक	संपूर्ण
द्विभाषिक :	अस्थिर	निष्क्रिय	स्थिर	पूर्ण
शिक्षण विधि :	विदेशी भाषा शिक्षण	क्लासिकल भाषा शिक्षण	द्वितीय भाषा शिक्षण	द्विभाषिक भाषा शिक्षण
व्याकरण :	(हिंदी) भाषा$_1$	(हिंदी) भाषा$_2$	(हिंदी) भाषा$_3$	(हिंदी) भाषा$_3$

(2) नियोजन

सैद्धांतिक स्तर पर भाषा की प्रकृति समरूपी (Homogeneous) होती है पर अपने व्यक्त व्यावहारिक रूप में वह प्रयुक्ति (Register) माध्यम और शैली

आदि संदर्भगत प्रयोगों के कारण वह विषमरूपी (Heterogeneous) हो जाती है। संदर्भगत परिस्थितियों की विभिन्नता भाषाभेद का कारण बनती है और यही कारण है कि भाषाभेद को हम कभी प्रयुक्ति भेद (अर्थात् कार्यालयीन भाषा, तकनीकी भाषा, साहित्यिक भाषा आदि), कभी माध्यम अभेद (अर्थात् मौखिक या लिखित भाषा) और कभी शैली भेद (अर्थात् औपचारिक भाषा, बोलचाल की भाषा आदि) के रूप देखते हैं। भाषा शिक्षण के संदर्भ में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि न तो अध्यापक, लक्ष्य भाषा के सभी भाषिक भेद या उसके व्याकरण के सभी भाषिक नियमों को एक साथ प्रस्तुत कर सकता है और न ही शिक्षार्थी उन सभी नियमों को एक साथ ग्रहण ही कर सकता है। शिक्षण की व्यावहारिकता को ध्यान में रखकर नियमों एवं पाठों का चयन और अनुस्तरण करना पड़ता है।

चयन का सिद्धांत, तुलनात्मक विश्लेषण पर आधारित होता है जो निम्नलिखित तीन स्तरों पर चलता है—

(क) एक ही भाषा की उपव्यवस्थाओं के बीच की तुलना,

(ख) स्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की व्यवस्था का व्यतिरेकी अध्ययन

(ग) भाषा त्रुटि (error) विश्लेषण के संदर्भ में अध्ययन के किसी एक चरण पर भाषा सीखने वाले व्यक्ति की भाषा और लक्ष्य भाषा के साथ तुलना।

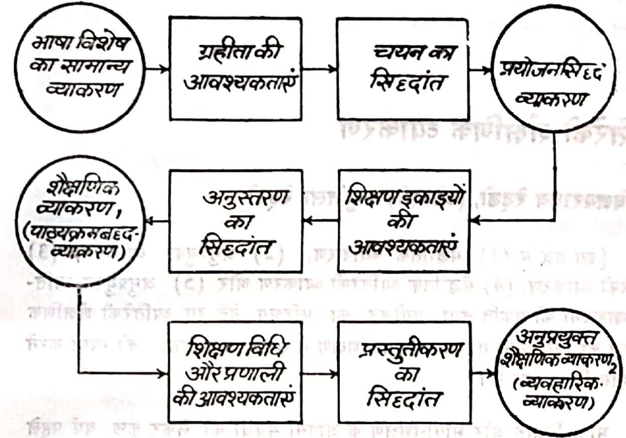
अनुस्तरण का सिद्धांत वस्तुतः जिस दृष्टि पर आधारित है उसके मूल में रहता है, शिक्षण को ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाना तथा सहज से कठिन की ओर बढ़ना। पर यहां यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि जिसे भाषा वैज्ञानिक सिद्धांत 'सरल' नियम या स्थिति कहता है वह भाषा अधिगम/शिक्षण के संदर्भ में 'सहज' हो हो—यह अनिवार्य नहीं होता।

(3) विधि और तकनीक

शिक्षक किस विधि या तकनीक का उपयोग अपने अध्यापन के समय करता है। यह अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण की सामग्री के प्रस्तुतीकरण से संबंध रखता है। उदाहरण के लिए, व्याकरण के किसी नियम या पाठ्य बिंदु के रूप में उसके प्रयोग की प्रकृति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि शिक्षक, भाषा शिक्षण की प्रत्यक्ष विधि को अपना रहा है या व्याकरण अनुवाद विधि को।

भाषा शिक्षण का सामान्य शैक्षणिक व्याकरण, चयन, अनुस्तरण और प्रस्तुती-

करण के सिद्धांत एवं प्रक्रिया से होकर अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण का जो रूप ग्रहण करता है उसे निम्नलिखित आरेख द्वारा समझाया जा सकता है—



इस पूरी विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा शिक्षण एक बहुमुखी कार्य है और अनुप्रयुक्त शैक्षणिक व्याकरण, शैक्षणिक धरातल पर इसकी सिद्धि के विभिन्न किए गए सार्थक प्रयत्नों का परिणाम।

व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण

—विजयराघव रेड्डी, (श्रीमती) शकुंतला रेड्डी

[इस पत्र में (1) सैद्धांतिक व्याकरण, (2) अनुप्रयुक्त व्याकरण, (3) व्यतिरेकी व्याकरण, (4) सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण और (5) अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरणों की प्रकृति तथा प्रयोजन का परिचय देते हुए व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण की विशिष्टता एवं अन्य भाषा-शिक्षण में उसकी उपादेयता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।]

भाषा विज्ञान और भाषा-शिक्षण के आपसी संबंधों को लेकर कुछ वर्ष पहले तक हमारे देश में वाद-विवाद चलता रहा। अब हमारे देश में, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शिक्षण कार्य से संबद्ध व्यक्तियों में भी एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया है जो दोनों के अलग-अलग कार्यक्षेत्रों को स्वीकार करते हुए यह मानता है कि भाषा शिक्षण को सुगम बनाने के लिए उसमें भाषाविज्ञान के सिद्धांतों का अनुप्रयोग अत्यंत आवश्यक है।

जब हम किसी विज्ञान के सिद्धांतों को किसी दूसरे विषय विशेष में अनुप्रयोग की बात करते हैं तो हमारे सामने उसके दो रूप प्रकट होते हैं—(1) इसका शुद्ध वैज्ञानिक या सैद्धांतिक रूप और (2) उसका अनुप्रयुक्त रूप। दूसरा पहले पर आधारित है, दोनों पूर्वज्ञान बिंदु से अपने कार्य शुरू करते हैं। जहां पहले का शोध-कार्य प्रकृति पर हमारी समक्ष को विकसित करता है, तो दूसरे का शोध कार्य प्रकृति पर हमारे अधिकार को विकसित करता है अर्थात् व्यावहारिक कार्यों में हमारी प्रज्ञा को विकसित करता है। इसलिए किसी भी विज्ञान की सार्थकता एवं उसके विकास की कसौटी उसकी अनुप्रयोगिता होती है। जिस प्रकार से हम अन्य विज्ञानों को सैद्धांतिक विज्ञान और अनुप्रयुक्त विज्ञान के रूप में विभाजित करते हैं, उसी प्रकार मानव की भाषा से संबद्ध विज्ञान होने के नाते भाषा विज्ञान को भी (1) सैद्धांतिक भाषा विज्ञान और (2) अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान के रूप में विभाजित कर अध्ययन कर सकते हैं। सैद्धांतिक भाषा-विज्ञान के शोध से मानव की भाषा के बारे में

जो विपुल ज्ञान भंडार मिला है; विवेचनात्मक परीक्षण के उपरांत उसका अनुप्रयोग उन क्षेत्रों में किया जा सकता है, जहां मानव भाषा एक केंद्रीय घटक होती है, तथा उन क्षेत्रों की कार्यक्षमता का उन्नयन किया जा सकता है। यह कार्य अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान, प्रकारांतर से अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान का है। इस दृष्टिकोण से हम सैद्धांतिक भाषा-विज्ञान और अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान के तथा (सैद्धांतिक) भाषाविज्ञानी और अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञानी के कार्यक्षेत्रों को मोटे रूप से विभाजित कर सकते हैं।

भाषा शिक्षण एक ऐसा क्षेत्र है जहां भाषा एक केंद्रीय घटक होती है। इस कारण से भाषा विज्ञान के सिद्धांतों का अनुप्रयोग भाषा शिक्षण में संभव है। अर्थात् सैद्धांतिक भाषा विज्ञान और अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञान के साथ भाषा शिक्षण का संबंध जोड़ा जा सकता है। इसके बावजूद इन तीनों के कार्यक्षेत्र एवं दायित्व अलग-अलग हैं। जिस तरह से यह जरूरी नहीं है कि सैद्धांतिक भाषा विज्ञानी एवं अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञानी एक ही व्यक्ति हो, इस प्रकार यह भी जरूरी नहीं है कि अनुप्रयुक्त भाषा विज्ञानी एवं भाषा शिक्षक एक ही हो।

'यदि हम भाषा विज्ञान को भाषा का सिद्धांत मानते हैं और यदि व्याकरण के अंतर्गत वाक्य विज्ञान, अर्थविज्ञान और स्वनविज्ञान भी गिनाये जाते हैं, तो भाषा-विज्ञान को हम व्याकरण का सिद्धांत कह सकते हैं।'

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में भाषा शिक्षण प्रक्रिया के संबंधों को निम्नलिखित आरेख के संदर्भ में परखा जा सकता है :—

सैद्धांतिक भाषाविज्ञान——→अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान——→भाषा शिक्षण

↑

सैद्धांतिक भाषाविज्ञानी——→अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञानी——→भाषा शिक्षण

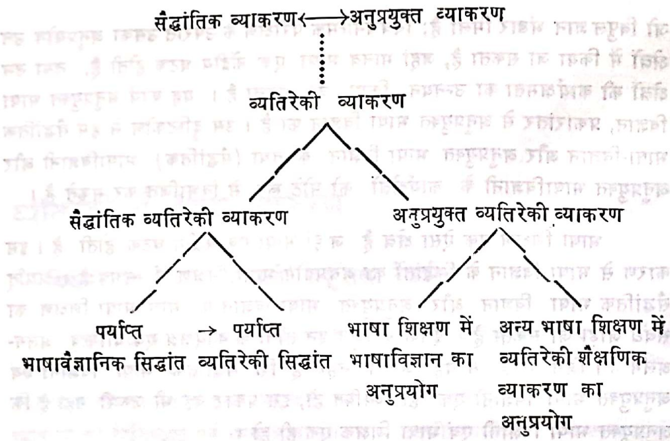
↑

सैद्धांतिक (भा॰वै॰) व्याकरण——→अनुप्रयुक्त व्याकरण——→शैक्षणिक व्याकरण

दो भाषाओं के संदर्भ में, अर्थात् मातृभाषा को पृष्ठभूमि में जब अन्य भाषा का शिक्षण संपन्न किया जाता है तब व्यतिरेकी भाषाविज्ञान के सिद्धांतों के अनुप्रयोग की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में शैक्षणिक व्याकरण की स्थिति को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण→अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण→व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण

इस पूरे संदर्भ को निम्नलिखित आरेख के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—



सैद्धांतिक व्याकरण को ही दूसरे शब्दों में भाषावैज्ञानिक व्याकरण कहा जाता है। सैद्धांतिक व्याकरण के अंतर्गत शुद्ध रूप से भाषा की सैद्धांतिक संकल्पनाओं की स्थापना की जाती है। संप्रेषण के काम में आने वाली किसी भी भाषा को व्यवस्था मानकर उसका अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। भाषा का भाषावैज्ञानिक व्याकरण के निर्माण में भाषा का डेटा (Data) एकत्रित किया जाता है और डेटा का विश्लेषण किया जाता है। विश्लेषण के आधार पर परिकल्पनाएं की जाती हैं। फिर इनका परीक्षण कर, पुनः इनके आधार पर भाषा की संरचनाओं के नियमों का निष्कर्ष निकाला जाता है। भाषा के व्याकरण निर्माण की दिशा में संप्रति कई मॉडल प्रचार में है। इसलिए सैद्धांतिक व्याकरण को 'मॉडल केंद्रित, व्याकरण भी कहा जाता है। जब अलग-अलग मॉडलों से भाषा के व्याकरण का निर्माण किया जाता है तब उस भाषा के नियमों के बारे में की जाने वाली स्थापनाओं में एकरूपता गायब हो जाती है। इसलिए व्याकरण मॉडल सापेक्ष होता जा रहा है, और उसे, संबद्ध मॉडल के संदर्भ में समझने की आवश्यकता आ पड़ी है। भाषाविज्ञान में दीक्षित व्यक्ति ही उसे भली-भांति समझ सकता है। इस तरह से भाषावैज्ञानिक व्याकरण भाषाविज्ञानी तक सीमित रह गये हैं।

अनुप्रयुक्त व्याकरण सैद्धांतिक व्याकरण के निष्कर्षों या तथ्यों को किसी अन्य विषय में अनुप्रयोग करने की प्रक्रिया से संबंध रखता है। अपनी उपयोगिता को दृष्टि में रखकर वह उन तथ्यों का विवेचनात्मक परीक्षण कर लेता है तथा पुनः उनको अपनी आवश्यकता के अनुसार अनुप्रयोगाहूर्य रूप से व्यवस्थित कर लेता है। अनुप्रयुक्त

व्याकरण प्रक्रिया से संबंधित है, किसी सिद्धांत से संबंधित नहीं है। भाषा शिक्षण के संदर्भ में यदि हम देखते हैं तो भाषा नियोजन के साथ अनुप्रयुक्त व्याकरण का सीधा संबंध हर भाषा में क्या सिखाया जाय, और उसे किस तरह से व्यवस्थित किया जाए, भाषा पाठ्यक्रम नियोजन, नियोजित पाठ्यक्रम के आधार पर, उसमें शिक्षण सामग्री को किस तरह अनुस्तरित और प्रस्तुत किया जाए आदि सवालों के जवाबों के संदर्भ में अनुप्रयुक्त व्याकरण अपनी रूप कल्पना कर लेता है। इसलिए अनुप्रयुक्त व्याकरण समस्या केन्द्रित व्याकरण भी कहा गया है।

व्यतिरेकी व्याकरण की संकल्पना का संबंध व्यतिरेकी भाषा-विज्ञान के जन्म के साथ जुड़ा हुआ है। व्यतिरेकी भाषाविज्ञान का जन्म व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में हुआ है। अन्य भाषा शिक्षण प्रक्रिया को सुगम बनाने तथा उसकी मदद करने के लिए भाषा विज्ञान के अंतर्गत यह नव विकसित शाखा है। इसका आधार व्याघात सिद्धांत है। "अन्य भाषा शिक्षण में सरलता तथा कठिनाई की व्याख्या, सीखने वाले की श्रोत भाषा और लक्ष्य भाषा की व्यतिरेकी तुलना में है।' इस विचारधारा ने व्यतिरेकी व्याकरण को जन्म दिया। व्यतिरेकी व्याकरण के निष्कर्षों के आधार पर शिक्षण बिंदुओं का निर्धारण, उनका अनुस्तरण, अन्य भाषा शिक्षण पाठ्यक्रमों का निर्माण और शिक्षण सामग्री निर्माताओं के लिए आधार सामग्री और मार्गदर्शन का प्रस्तुतीकरण किया जा सकता है। इस तरह से व्यतिरेकी व्याकरण अनुप्रयुक्त व्याकरण के अंतर्गत स्थान प्राप्त कर लेता है। चूँकि अनुप्रयुक्त व्याकरण सैद्धांतिक व्याकरण पर आधारित है। अतः इसका संबंध उससे भी जोड़ा जा सकता है।

गत पच्चीस वर्षों में व्यतिरेकी भाषा-विज्ञान और व्यतिरेकी व्याकरण पर विपुल साहित्य सामने आया है। अब सामान्यतया यह स्वीकार किया गया है कि व्यतिरेकी व्याकरण सैद्धांतिक व्याकरण का तर्कसंगत शाखा है भले ही इसका अनुप्रयोग और उपयोग शैक्षणिक दृष्टि से किया जा रहा हो। व्यतिरेकी व्याकरण के विकास से सैद्धांतिक व्याकरण की रचना में भी नई दिशाएं प्रकट हुई। इसके आधार पर यह भी स्वीकार किए जाने लगा कि दो प्रकार के व्यतिरेकी व्याकरणों का निर्माण किया जा सकता है। (1) **सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण** और (2) **अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण**। अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण वास्तव में उस प्रकार का व्याकरण है जो कि विशेष रूप से शिक्षण को दृष्टि में रखकर सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरणिक तथ्यों से बनाया गया हो। व्यतिरेकी व्याकरण के दो मुख्य कार्य हैं : (1) भाषा वैज्ञानिक और (2) अनुप्रयोगिक। भाषा वैज्ञानिक उपयोग इस बात में निहित है कि यह किस प्रकार से दो भाषाओं की व्यवस्थाओं का, जिसका व्यतिरेकी अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, विश्लेषण प्रस्तुत कर सकता है।

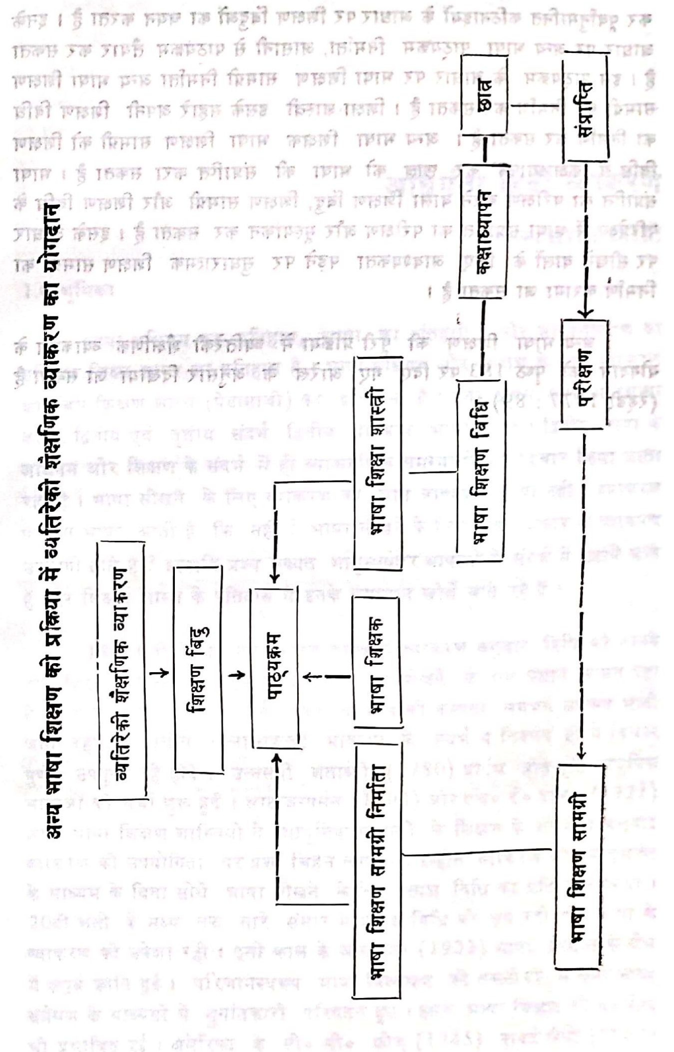
सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण ने **पर्याप्त भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों** के विकास के संदर्भ में भाषा विज्ञान की मदद की है। भाषा वर्णन के संदर्भ में विविध मॉडलों का आविष्कार, भाषा प्रकारों के संदर्भ में रजिस्टर एवं शैलियों पर सिद्धांतों का प्रतिपादन भाषा में प्रयुक्त शब्द भंडार के वास्तविक वर्णन प्रस्तुत करने की दिशा में वास्तवीकरण (actualization) सिद्धांत का निर्माण, वाक् क्रिया (speech acts) सिद्धांत तथा उसके अंतर्गत तथ्य विज्ञान (Pragmatics) विकास आदि ऐसे हैं। जिन्हें हम भाषा विज्ञान के पर्याप्त भाषावैज्ञानिक सिद्धांत कह सकते हैं।

पर्याप्त व्यतिरेकी सिद्धांत के विकास के संदर्भ में सैद्धांतिक भाषा विज्ञान को सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण की जो देन है उनमें प्रमुख हैं – तुलनीयता के प्रतिमानों की स्थापना भाषाई तत्वों के अतिरिक्त, भाषाएं जिन संस्कृतियों की वाहिकाएं हैं; उन संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में भाषाओं का वर्णन प्रस्तुत करना, और सार्वभौम व्याकरण निर्माण की परिकल्पना आदि।

भाषा शिक्षण में भाषा विज्ञान के अनुप्रयोग के संबंध में अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण ने जो योगदान दिया उनमें अधिक उल्लेखनीय हैं—शैक्षणिक व्याकरण की परिकल्पना, सैद्धांतिक व्याकरण के विविध मॉडलों के साथ शैक्षणिक व्याकरण का सह-संबंध स्थापित करना, शिक्षण और अधिगम के संदर्भ में, प्रयोग की व्याकरणिकता, उपयुक्तता, स्वीकार्यता, देशीय भाषा-भाषियों की सह्य-सीमा (Talorance zone) प्रयोजनमूलक एवं संदर्भगत पाठ्यक्रमों का निर्माण आदि भाषा अधिगम के संदर्भ में त्रुटि विश्लेषण और अंतर भाषा की संकल्पना आदि।

अन्य भाषा शिक्षण में व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण की संकल्पना तथा उसके अनुप्रयोग को हम अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण की अनुपम देन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। सैद्धांतिक व्यतिरेकी व्याकरण के द्वारा प्रदत्त सामग्री को अन्य भाषा के अधिगम के संदर्भ में अर्थात् भाषा के डेटा को इस तरह से प्रस्तुत करना जिससे कि सीखने वाला जहां तक संभव हो सके स्रोत भाषा के व्याघात से अपने आप को बचाते हुए लक्ष्य भाषा के नियमों को आत्मसात कर सके, व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण का प्रमुख दायित्व होता है यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण की उपभोक्ता छात्र नहीं होता। यह अलग बात है कि कोई प्रौढ़ छात्र इससे लाभ उठाएं। वास्तव में इसका उपयोग करने वाले हैं अन्य भाषा पाठ्यक्रम निर्माता, अन्य भाषा शिक्षण सामग्री निर्माता अन्य भाषा के शिक्षा शास्त्री, अन्य भाषा के शिक्षक, और अन्य भाषा के परीक्षक।

अनुप्रयुक्त व्यतिरेकी व्याकरण निर्माता व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण निर्माण



कर पूर्वानुमानित कठिनाइयों के आधार पर शिक्षण बिंदुओं का चयन करता है। इनके आधार पर अन्य भाषा पाठ्यक्रम निर्माता, आसानी से पाठ्यक्रम तैयार कर सकता है। इस पाठ्यक्रम के आधार पर भाषा शिक्षण सामग्री निर्माता अन्य भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण कर सकता है। शिक्षा-शास्त्री इसके सहारे अपनी शिक्षण विधि का निर्माण कर सकता है। अन्य भाषा शिक्षक भाषा शिक्षण सामग्री को शिक्षण विधि से कक्षाध्यापन कर छात्र को भाषा की संप्राप्ति करा सकता है। भाषा संप्राप्ति का परीक्षण करने वाला शिक्षण बिंदु, शिक्षण सामग्री और शिक्षण विधि के परिप्रेक्ष्य में भाषा संप्राप्ति का परीक्षण और मूल्यांकन कर सकता है। इसके आधार पर सीखने वालों के लिए आवश्यकता पड़ने पर सुधारात्मक शिक्षण सामग्री का निर्माण कराया जा सकता है।

अन्य भाषा शिक्षण की पूरी प्रक्रिया में व्यतिरेकी शैक्षणिक व्याकरण के योगदान को पृष्ठ 183 पर दिए गए आरेख के अनुसार दिखाया जा सकता है (रेड्डी 1977 : 89)।

अधिगंता हिंदी व्याकरण

—सीताराम शास्त्री

1.0 भूमिका

भाषा अधिगम का इतिहास, भाषा का इतिहास है और भाषा-शिक्षण का इतिहास शिक्षा शास्त्र का इतिहास है। भाषा अधिगम और शिक्षण के साथ व्याकरण का संबंध शिक्षण शास्त्र (पेडागाजी) का इतिहास है। इनमें प्रथम संदर्भ मातृभाषा का है, द्वितीय एवं तृतीय संदर्भ द्वितीय या अन्य भाषा का है। द्वितीय भाषा के अधिगम और शिक्षण के संदर्भ में ही व्याकरणिक समस्याओं पर विचार किया जाता रहा है। भाषा सीखने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है या नहीं? व्याकरण पढ़ने से भाषा आती है कि नहीं? भाषा सीखने के लिए किस प्रकार के व्याकरण उपयोगी होते हैं? इत्यादि प्रश्न मुख्यत मातृभाषेतर भाषाओं के संदर्भ में उठाये जाते हैं और शिक्षण शास्त्र के इतिहास में इनके समाधान खोजे जाते रहे हैं।

18वीं शती के अंत तक शिक्षण शास्त्र में व्याकरण अनुवाद विधि को मानने वाले शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार व्याकरण भाषा सीखने का एक प्रधान साधन रहा है। अर्थात् व्याकरण ज्ञान के बगैर भाषा अधिगम की कल्पना लगभग असंभव मानी जाती रही है। प्राचीन (क्लासिकल) भाषाओं के संदर्भ में निश्चय ही ये विचार पूर्णतः उपयुक्त रहे होंगे। उन्नसवीं शताब्दी (1780) प्रारंभ होते-होते आधुनिक भाषाओं की चर्चा शुरू हुई। आटोजस्पसंन (1903) और एच० ई० पामर (1921) आदि भाषा शिक्षण शास्त्रियों ने आधुनिक भाषाओं के शिक्षण के संदर्भ में अनुवाद व्याकरण की उपयोगिता पर प्रश्न चिह्न लगाया। इन्होंने व्याकरण और मातृभाषा के माध्यम के बिना सीधे भाषा सीखने के लिए प्रत्यक्ष विधि का प्रतिपादन किया। 20वीं शती के मध्य तक सारे संसार में प्रत्यक्ष विधि की धूम रही और भाषा के व्याकरण की उपेक्षा रही। इसी काल के आस-पास (1933) भाषा विज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व क्रांति हुई। परिणामस्वरूप भाषा विश्लेषण की तकनीकों में तथा भाषा संप्रेषण के माध्यमों में युगांतकारी परिवर्तन हुए। इससे भाषा शिक्षण की तकनीक भी प्रभावित हुई। अमेरिका के सी० सी० फ्रीज (1945) राबर्ट लैडो (1964)

आदि ने प्रत्यक्ष विधि को अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक बताते हुए संरचना विधि का प्रतिपादन किया। इस विधि में मध्यमार्ग अपनाने का प्रयास हुआ। इसके प्रवक्ताओं ने भाषा शिक्षण के अपने उपगम में व्याकरण और मातृभाषा के प्रयोग से बिलकुल इंकार नहीं किया। संरचना विधि से स्पष्ट है कि भाषा सीखने के लिए उसके संरचनात्मक ज्ञान को आधार बनाना होगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि व्याकरण पढ़ने से भाषा आती है। संरचनावादियों के अनुसार भाषा आदतों का एक समुच्चय है। इन आदतों की सम्प्राप्ति के लिए व्यवस्थित भाषायी अभ्यास की आवश्यकता है। इस व्यवस्थित उपगम के लिए भाषा की संरचनाओं को मात्र आधार बनाया जाता है। इसलिए संरचनावादी कहते हैं कि भाषा सिखाइए, भाषा के बारे में नहीं।

द्वितीय भाषा शिक्षण में संरचनावादियों का प्रभाव कुछ कम होता जा रहा है। इसका कारण भी व्याकरण ही है। भाषा शिक्षण में व्याकरण की उपयोगिता को लेकर अब भी काफी कशमकश चल रही है। संरचनावादी डब्लू० एम० राइवर्स (1968), जी० न्यूमार्क (1964) आदि का अब भी दृढ़ विचार है कि व्याकरण की व्यवस्थित योजना से भी भाषा नहीं आती। समाज के अर्थपूर्ण संदर्भों में भाषा एक समय में एक पूर्ण क्रिया के रूप में सीखी जानी चाहिए (न्यूयार्क) इस विचार के विपरीत सपोर्ता (1966) आदि विद्वानों ने भाषा शिक्षण के लिए व्याकरण की उपयोगिता की ओर संकेत करते हुए कहा है—भाषा नियम नियंत्रित व्यवहार है और भाषा अधिगम का अर्थ है इन नियमों को आत्मसात करना। भाषा व्यवस्था का सर्वोत्तम वैज्ञानिक वर्णन सर्वोत्तम शैक्षणिक अभ्यास का आधार बनता है।

उक्त दोनों अतिवादियों से बचा जा सकता है। अनुभव यह बताता है कि द्वितीय भाषा को सीखने वाले या तो बालक होते हैं या वयस्क। ऐसे छात्रों को व्याकरण के नियम शिक्षण या अधिगम सामग्री को समझने में एक सचेतन अंत-र्दृष्टि देते हैं। प्रौढ़ों के भाषा अधिगम में व्याकरण ज्ञान के बिना मात्र संदर्भ शिक्षण या आवृत्ति से उतना लाभ नहीं होगा। भाषा की संरचना के अभ्यास से पूर्व उसके बारे में स्पष्टीकरण से वे अधिक प्रेरित हो सकते हैं, क्योंकि उनका अधिगम तार्किक होता है।

2.0 विद्यमान हिंदी—व्याकरणों की तुलना

उपर्युक्त विवरण से यह यह स्पष्ट है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से भाषा शिक्षण और अधिगम के संदर्भ में व्याकरण की उपयोगिता पर पर्याप्त चिंतन किया गया है। इस चिंतन को साररूप में यों कहा जा सकता है कि प्रथम भाषा अधिगम

के संदर्भ में भाषायी व्यवस्था और प्रकार्य को जानने के लिए व्याकरण का अध्ययन होना चाहिए, द्वितीय भाषा अधिगम के संदर्भ में चूंकि भाषा नियम नियंत्रित व्यवहार है, इसलिए किसी भाषा के सीखने का अर्थ है उसके नियमों को अप्रत्यक्ष रूप से या आगमन पद्धति से आत्मसात करना है। इस पृष्ठभूमि में पिछली दो दशाब्दियों में लिखे गये कतिपय व्याकरणों का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे, जो विविध स्तरों और उद्देश्यों के लिखे गये हैं। ये व्याकरण अपने-अपने क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रिय हैं। इनके लेखक या तो भाषा विज्ञानी हैं या भाषा विज्ञान से अच्छी तरह परिचित हैं। निम्नलिखित पांच व्याकरण हमने विविध स्तरों और उद्देश्यों के व्याकरणों में से नमूने के और प्रतिनिधि व्याकरण के रूप में चुने हैं :—

(1) **ए बेसिक ग्रामर ऑफ मॉडर्न हिंदी** (1958) ले० डॉ० आर्येन्द्र शर्मा (यह मौखिक और लिखित आधुनिक हिंदी का अंग्रेजी माध्यम में लिखा गया व्याकरण है)

(2) **हिंदी व्याकरण** (1966) ले० एन० सरस्वतीअम्मा (अहिंदी प्रांतों के छात्रों के लिए लिखा गया द्वितीय भाषा हिंदी का व्याकरण है)

(3) **आधुनिक व्याकरण और रचना** (1971) ले० कैलाशचन्द्र अग्रवाल (प्रथम भाषा का यह एक भाषा वैज्ञानिक व्याकरण है)

(4) **व्यावहारिक हिंदी व्याकरण और रचना** (1975) ले० डॉ० भोलानाथ तिवारी (उच्चतम् माध्यमिक कक्षाओं के लिए लिखा गया व्याकरण)

(5) **प्रायोगिक हिंदी व्याकरण** (1976) ले० डॉ० कृष्णगोपाल रस्तोगी (स्नातक स्तर की कक्षाओं के लिए लिखा गया व्याकरण) इसी क्रम से इन व्याकरणों की तुलनात्मक अध्ययन की तालिका आगे देखिए—

तुलनात्मक व्याकरण की तालिका

क्र० सं०	1	2	3	4	5
1.	वर्ष 1958 (1972)	1966	1971 (1974)	1975 (1977)	1976
2.	वर्णमाला	भाषा की परिभाषा प्रकार, विकास	ध्वनि विचार आक्षरिक प्रणाली	भाषा और व्याकरण	भाषा और व्याकरण उत्तरा-धर (क्रम/स्तर)
3.	उच्चारण	हिंदी भाषा और लिपि की विशेषताएं	शब्द विचार शब्द-रचना	लिपि	वर्ग उच्चारण (अवयव/तालिका)
4.	लेखन पद्धति	वर्ण विभाग (नि:) उच्चा-रण अंश, चित्र-चार्ट	पद विचार	उच्चारण उच्चारण अव-यव, अक्षर, बल, सुर, संगम	शब्द (आ) विकारी अविकारी
5.	अनुस्वार अनुनासिकता	वर्ण संधि	सर्वनाम (नि)	संधि (नि)	संज्ञा (आ) प्राणि-वाचक अप्राणि-वाचक
6.	आघात	शब्द विभाग (नि) संज्ञा सर्वनाम आदि	विशेषण (नि)	संज्ञा (नि)	सर्वनाम (आ)
7.	संधि (नि)	पद परिचय	अव्यय (नि)	लिंग (नि)	विशेषण (आ)
8	संज्ञा (नि) विविध प्रयोग	शब्द भंडार विलोम, पर्याय अनेकार्थक	क्रिया (नि) धातु, वृत्ति, पक्ष	वचन (नि)	क्रिया (आ) धातु रंजक, क्रियाएं
9.	सर्वनाम (नि) मूल और तिर्यक रूप	शब्द रचना	संधि (नि)	कारक (नि)	अव्यय (आ) पदबंध, निषे-धात्मक
10.	विशेषण (नि)	समास	वाक्य विन्यास उत्तराधर क्रम	सर्वनाम (नि)	संधि (आ)
11.	संख्याएं (नि)	वाक्य विभाग (नि) वाक्य उपवाक्य	मुहावरे/कहा-वतें	विशेषण (नि)	समास
12.	क्रिया (नि) पक्ष और वृत्ति	वाक्यरूप रूपां-तरण/संश्लेषण	शब्दों का अर्थ भेद	क्रिया (नि)	उपसर्ग/प्रत्यय
13.	क्रिया-विशे-षण (नि)	विराम चिह्न	रिक्तस्थानों की पूर्ति	अव्यय (नि)	पदपरिचय
14.	परसर्ग (नि)	—	वाक्य शुद्धि	पदपरिचय	वाक्य (घटक, विस्तार प्रकार)
15.	समुच्चय-बोधक (नि)	—	वाक्य विश्लेषण	वाक्य रचना, पदक्रम, अन्वय, रूपांतरण	वाक्य विग्रह
16.	विस्मयादि बोधक (नि)	—	वर्तनी/विराम	शब्दों का वर्गीकरण अनेकार्थी, एकार्थी, पर्याय विलोम	रचना (आर्थी, पर्याय, विलोम)
17.	वाक्य विन्यास अन्विति, पदक्रम	—	पत्र लेखन संक्षेपण	शब्द रचना पुनरुक्ति, समास	विराम चिह्न
18.	उपसर्ग प्रत्यय	—	संवर्धन अपठित	विराम/मुहावरे लोकोक्तियाँ	मुहावरे
19.	विविध	—	अनुवाद निबंध	पत्र लेखन निबंध लेखन	

टिप्पणी :—नि = निगमन पद्धति
आ = आगमन पद्धति

उक्त तालिका के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं :—

(1) संख्या पांच आगम पद्धति से लिखा गया है। शेष व्याकरण निगमन पद्धति से लिखे गये हैं।

(2) सभी ने अंश से पूर्णता की ओर के सिद्धांत का अनुसरण करते हुए तार्किक क्रम (लाजिकल सिक्वेंसिंग) में अर्थात् शब्द से वाक्य के क्रम में लिखा है।

(3) सभी ने वर्ण, उच्चारण तथा लिपि को प्राथमिक स्थान दिया है।

(4) लगभग सभी व्याकरण परंपरागत और वर्णनात्मक है। शब्द विभाग और शब्द रचना पर सर्वाधिक बल दिया गया है, वाक्य विन्यास पर कम।

(5) संख्या तीन आधुनिक संरचनात्मक भाषा विज्ञान के आधार पर लिखा गया है। शेष व्याकरण विवरण में परंपरागत होते हुए भी वाक्य विन्यास में पदक्रम, अन्विति पक्ष, वृत्ति रूपांतरण आदि आधुनिक विश्लेषण को स्थान दिया गया है। उच्चारण में अक्षर, बलाघात, संगम, सुर आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

(6) सभी स्तर के व्याकरणों में विषय-वस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण में कोई खास अंतर नहीं है।

(7) प्रथम भाषा और द्वितीय भाषा हिंदी के व्याकरणों की विषयवस्तु और उसके प्रस्तुतीकरण में भी कोई अंतर नहीं है।

(8) निःसंदेह ये सभी व्याकरण अपने-अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि व्याकरण माने जा सकते हैं।

(9) लगभग सभी व्याकरणों का शिक्षण शास्त्र (पेडागाजी) से सीधा कोई संबंध नहीं है। लेकिन शैक्षणिक व्याकरण बनाने के लिए ये उपयोगी स्रोत हैं।

इन बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त परंपरागत (फार्मल) व्याकरणों के निम्न-लिखित आंतरिक लक्षण भी इन व्याकरणों में देखे जा सकते हैं—

(1) कूट (कोड) का विश्लेषण और उसके शिक्षण पर बल,

(2) भाषा आंतरिक संरचनाओं का वर्णन,

(3) नियम और व्यवस्था पर विशेष बल,

(4) भाषायी घटकों या तत्वों के गुणों का विनिर्देश करना,

(5) इन तत्वों के सभी प्रकार के संयोजनों को व्युत्पन्न करने में सक्षम,

(6) सभी प्रकार के वाक्यों का संभाव्य विस्तृत सामान्यीकरण का विवरण देना।

(7) किसी प्रयुक्ति की शुद्धता का निर्णय करना,

(8) व्याकरणिक दक्षता प्राप्त करना लक्ष्य होता है,

(9) सुबोध, सरल तथा यथासंभव सर्वांगीण होता है।

इस संगोष्ठी के आधार-पत्र में उक्त प्रकार के व्याकरणों के संबंध में लिखा गया है—"परंपरागत व्याकरण विषयीपरक या वर्णन प्रधान होते हैं। इनमें विश्लेषण का आधार अर्थ तत्व प्रधान हैं। इन में प्रकार्यात्मक (फंक्शनल) पक्ष गौण होता है। ……… भाषा के सूक्ष्म विवरणों पर बल देता है, व्यापक सांचों को अलक्षित छोड़ देता है।" इस उद्धरण के संबंध में हम दो शब्द कहना चाहते हैं। आधार पत्र के लेखक ने मातृभाषा के व्याकरण और अन्य भाषा के व्याकरण में अंतर नहीं किया है। उनके दिमाग में अन्य भाषा का व्याकरण रहा है, पर चर्चा की है मातृभाषा के व्याकरणों की, जिनके कुछ उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं। ये व्याकरण अपने मातृभाषा के संदर्भ में कितने उपयोगी हैं, कितने सर्वांगीण हैं, इसका मूल्यांकन न करके लेखक ने इनके स्थान पर नये प्रकार्यात्मक और शैक्षणिक व्याकरणों की ओर संकेत करते हुए 'सम्यक् आकलन' की कठिनाई की बात कही है, ताकि 'सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों में संतुलन रह सके और छात्र में भाषा विषयक दक्षता विकसित हो सके।' निश्चय ही लेखक यह 'दक्षता' मातृभाषा के संदर्भ में नहीं कह रहे हैं। द्वितीय भाषा के संदर्भ में कह रहे हैं। हमारे विचार में आधार पत्र का सार यही है, जिसका संकेत *द्वितीय भाषा* हिंदी के लिए एक नूतन व्याकरण की आवश्यकता का बोध कराना है।

3.0 द्वितीय भाषा के व्याकरण

उक्त विवरण का आशय यह है कि हिंदी में लिखे गये व्याकरण उद्देश्यों की सीमा में निर्विवाद हैं। ये परंपरागत व्याकरण अन्य भाषा के व्याकरणों की रचना में स्रोत का काम कर सकते हैं। इनके आधार पर किस प्रकार के व्याकरण तैयार किये जा सकते हैं जो कि परंपरागत व्याकरणों की लीक से हट कर हो और जिसका लक्ष्य भाषा दक्षता हो। इस संदर्भ में किसी नये व्याकरण की चर्चा करने से पूर्व भाषा के प्रति आधुनिक भाषा वैज्ञानिक धारणाओं की चर्चा करना हम यहां उपयोगी समझते हैं जो कि भाषा अधिगम और शिक्षण की प्रक्रिया और प्रविधि को समझने में पृष्ठ-भूमि का कार्य कर सकता है।

व्यवहारवादी मनोविज्ञानी और भाषा शास्त्री अन्य भाषा को मूलतः आदत निर्माण की यांत्रिक प्रक्रिया मानते हैं। इसलिए उनके अनुसार आदतों का दृढ़ीकरण पुनर्बलन (रिइन्फोर्समेंट) के आधार पर होना चाहिए। बोली हुई भाषा प्रमुख होती

है, लिखित भाषा गौण; दो भाषाएं आपस में भिन्न होती हैं। किसी भाषा का वास्तविक स्वरूप वही होता है जो मातृभाषा भाषी बोलते हैं। व्यवहारवादी भाषा विज्ञान में भाषा की संरचना इकाइयों की उपस्थिति स्वीकृत की गई है और संरचना के घटकों की व्यवस्था और घटकों में परिवर्तन कर नयी संरचना प्रस्तुत करने की क्षमता की धारणाए प्रस्तुत की गई हैं। इन नयी संरचनाओं के उत्पादन के लिए भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा उसकी समानता को अधिक उपयोगी माना गया है।

इन धारणों के विपरीत अवयवीवादी (गेस्टाल्टवादी) या मनोवादी (मेन्टलिस्ट) विविध भाषाओं में एक आंतरिक एकता देखते हैं। इसलिए उन्होंने यूनिवर्सल ग्रामर का विचार दिया है। इनके अनुसार प्रत्येक बालक में भाषा सीखने की जन्मजात (इन्नेट) प्रवृत्ति होती है। उसके मस्तिष्क में भाषा संबंधी रचनात्मक प्रक्रिया की आंतरिक व्यवस्था पहले से ही विद्यमान रहती है। बालक इस संज्ञानात्मक (कागनिटिव) शक्ति का उपयोग करते हुए भाषा के मूलांश (करनल) के उत्पादन और रूपांतरण (ट्रान्सफारमेशन) प्रक्रिया से भाषा का प्रयोग करना है। भाषा के इन प्रयोग या अधिगम के लिए भाषा के गुण और नियमितताओं पर जागरूक अवधान के लिए निर्देश दिये जाने चाहिए। भाषा का आंतरिक विश्लेषण वयस्क अधिगम-प्रक्रिया के अनुकूल होता है। यहाँ भाषा एक अत्यधिक अमूर्त व्यवस्था मानी गई है और वक्ता की भाषिक क्षमता (काम्पेटेन्स) को उसके संज्ञानात्मक योग्यता के साथ जोड़ा गया है।

भाषा के प्रति उक्त दोनों धारणाओं में एक में भाषा के बाह्य रूप और व्यवहार पर बल दिया है, दूसरे में उसके आंतरिक संगठन एवं व्यवहार पर जोर दिया गया है। इन दोनों धारणाओं का प्रभाव भाषा शिक्षण की प्रविधियों पर तो पड़ा ही है, भाषा की विश्लेषण या व्याकरणिक मान्यताओं पर भी इसका काफी असर पड़ा है। इसी पृष्ठभूमि में पिछले कई वर्षों से नये व्याकरणों की खोज हो रही है। द्वितीय भाषा शिक्षण के संदर्भ में शैक्षणिक व्याकरण और प्रकार्यात्मक व्याकरण की विशेष चर्चा हो रही है। इनके कतिपय विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं —

3. 1. शैक्षणिक व्याकरण

(1) भाषा की व्यवस्था का वर्णन नहीं करता, भाषा सीखने की व्यवस्था करता है।

(2) कूट (कोड) का अर्थ नहीं समझाता, उसका प्रयोग बताता है।

(3) परंपरागत व्याकरणों से आवश्यकतानुसार सूचनाएं ग्रहण करता है।

(4) अनुप्रयुक्त व्याकरण होने से यह परंपरागत या वर्णनात्मक व्याकरणों का पुनर्लेखन है।

(5) विशेषकर यह पद्धति केंद्रित है।

(6) इसमें शिक्षण सामग्री के पूर्णता से अंश की ओर के क्रम में रखा जाता है।

(7) शिक्षण सामग्री में चयन, अनुस्तरण और प्रस्तुतीकरण की विवेकपूर्ण व्यवस्था होती है।

(8) सामग्री की व्यवस्था में शिक्षण शास्त्र और मनोविज्ञान के सिद्धांतों का आधार रहता है।

(9) अधिगंता को विचारों के आदान-प्रदान में सक्षम बनाता है।

(10) अधिगंता को इतनी व्याकरणिक दक्षता प्रदान करता है कि वह असंख्य संरचनाओं को व्युत्पन्न कर सके।

(11) विशेषकर अन्य भाषा के लिए लिखा जाता है।

3.2. प्रकार्यात्मक व्याकरण

(1) आदान-प्रदान या व्यवहार की दक्षता से संबंधित है।

(2) सामाजिक संदर्भों में भाषा का प्रयोग सिखाता है।

(3) भाषा के विविध कार्यों और रूपों को व्यवहार के विविध शिष्टाचारों में प्रयोग करने पर बल देता है।

(4) प्रसंगों के अनुरूप भाषायी आदान-प्रदान पर बल देता है।

(5) सामाजिक अंतःक्रिया में प्रयुक्त भाषा संरचनाओं की प्रायोगिक रीति सिखाता है।

(6) सामाजिक विविध प्रसंगों में भाषायी प्रकार्यों और उनके प्रयोग को सीखने पर बल देता है।

4. 0. अधिगंता व्याकरण

4. 1. सिद्धांत

शैक्षणिक एवं प्रकार्यात्मक व्याकरणों के उपरोक्त लक्षणों को देखने से निश्चय ही इस समय प्रचलित हिंदी के परंपरागत व्याकरण भाषा दक्षता के लिए अधिक उपयोगी नहीं हो सकते। परिभाषाओं को जानने मात्र से भाषा नहीं आती। भाषा दक्षता को केंद्र बनाकर अधिगंता (लर्नर) के लिए नये व्याकरण बनाने की आवश्यकता है। इसके लिए निम्नलिखित आधारभूत बातों को ध्यान में रखना मैं आवश्यक समझता हूं :—

(1) इस व्याकरण में उच्चारण—लिपि और आर्थी प्रक्रिया का कोई स्थान नहीं होना चाहिए। इसके लिए उच्चारण निर्देशिका और शब्द-कोशों का उपयोग अलग से करना चाहिए।

(2) इसका उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए कि यह एक भाषी व्याकरण है; द्विभाषी व्याकरण है या व्यतिरेकी व्याकरण है। इनके अनुरूप ही इसका प्रस्तुतीकरण होना चाहिए।

(3) यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि किस स्तर के शिक्षार्थियों के लिए (प्रारंभिक, माध्यमिक और उच्चस्तर) लिखा गया है।

(4) इसमें शैक्षणिक व्याकरण और प्रकार्यात्मक व्याकरणों का समन्वय होना चाहिए।

(5) शिशु, बालक, प्रौढ़ या वयस्कों के अधिगम प्रक्रिया के अनुरूप प्रस्तुतीकरण होना चाहिए।

(6) अधिगंता भी कई प्रकार के हो सकते हैं : वे जो थोड़ी-बहुत भाषा जानते हैं, भाषा व्यवस्था से परिचित होकर अपनी भाषा की दक्षता बढ़ाना चाहते हैं, (2) वे जो भाषा सीखना चाहते हैं, इसके लिए व्यवस्था को आधार बनाना चाहते हैं, (3) वे जो भाषा भी सीखना चाहते हैं साथ-साथ भाषा व्यवस्था से भी परिचित होना चाहते हैं।

(7) भाषा शिक्षण और अधिगम के प्रति व्यवहारवादी और संज्ञानवादी दृष्टिकोणों का समन्वय करना होगा?

अधिगंता व्याकरण के संदर्भ में भाषा अधिगम की प्रक्रिया को विशेषरूप से जानना आवश्यक है। शिशु अपनी भाषा मुख्य रूप से अनुकूलन (कंडिशनिंग) सिद्धांत से सीखता है। वस्तु जगत से वह सीधे उत्तेजना प्राप्त करता है। वह पहले वाक्य सीखता है बाद में शब्द। वह संश्लेषण से विश्लेषण की ओर बढ़ता है। शिशु का भाषा अधिगम स्वयं नूतन अनुभवों का निर्माण है। प्रौढ़ व्यक्ति का अन्य भाषा सीखना उसके पुराने अनुभवों का नवीनीकरण करना है। प्रौढ़ व्यक्ति मुख्य रूप से अंतर्दृष्टि (इनसाइट) के सिद्धांत से भाषा सीखता है। वस्तु जगत के साथ उसका सीधा संबंध आंशिक ही होता है। मातृभाषा की आदत या अनुभव का उपयोग वह नये भाषायी अनुभव प्राप्त करने में करता है। अधिगम प्रक्रिया के इस अंतर के कारण मातृभाषा के व्याकरण और अन्य भाषा के व्याकरणों में अंतर आ जाता है।

4. 2. रूपरेखा :

पूर्वोक्त विस्तृत व्याकरणिक परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त सिद्धांत अधिगंता व्याकरण के निर्माण में मार्गदर्शक तत्वों का कार्य कर सकते हैं। इन्हीं तत्वों के आधार पर मैं यहां एक 'अधिगंता व्याकरण' की विस्तृत रूपरेखा दे रहा हूं जो कि मेरी एक परि-योजना का एक विशेष अंग है।

(1) **प्रयोजन :**—अधिगंता व्याकरण निर्माण के उक्त सिद्धांतों में से संख्या 1, 4 और 7 के आधार पर माध्यमिक स्तर का ऐसा द्विभाषी (अंग्रेजी माध्यम में) व्याकरण तैयार करना है जिसकी सहायता से प्रौढ़/वयस्क व्यक्ति अंग्रेजी माध्यम से हिंदी भाषा की व्याकरणिक व्यवस्था को जान सके तथा साथ-साथ भाषा व्यवहार का कौशल भी सीख सके।

(2) **लक्ष्य :**—हमारा लक्ष्य अधिगंता को कुल 30 संरचनाओं (देखिए परिशिष्ट में सूची) 'सेन्टेन्स पैटर्न' के नियम-उपनियम सिखाना है। आशा की जाती है कि अधिगंता पहले इन संरचनाओं की रचना को हृदयंगम करके स्थानापत्ति (देखिए परिशिष्ट में 'सब्स्टिट्यूशन') के नियमों का अनुसरण करते हुए शब्दावली (देखिए परिशिष्ट में 'वौकाबुलरी') के सहयोग से असंख्य पदबंधों, उप-वाक्यों, वाक्यों और प्रयुक्तियों को व्युत्पन्न करने में सक्षम बनेंगे। इस प्रकार प्रयोग के माध्यम से वे भाषा व्यवस्था से परिचित हो जाएंगे।

(3) **चयन :**—संदर्भ ग्रंथ में उल्लिखित परंपरागत व्याकरणों में से अपने इस अधिगंता व्याकरण के लिए प्ररूप (पैटर्न) और शब्दावली तथा

रूपावली के नियमों का चयन किया है। संरचना सूत्रों के निर्माण तथा स्थानापत्ति की व्यवस्था को विशेषकर बंधिम विज्ञान (टैग्मेमिक्स) के विश्लेषण की धारणाओं से ग्रहीत किया गया है। अधिगम प्रक्रिया को व्यवहारवादी और अवयवीवादी (मेन्टलिस्ट) चिंतनों के मिश्रित रूप में ले लिया गया है। उन्हीं संरचनाओं और शब्दावली को ग्रहण किया है जो मूलभूत हैं, जिनके व्युत्पादन की प्रक्रिया से असंख्य संरचनाएं बनायी जा सकती हैं।

शब्दावली आधारभूत है। इसको पदों और पदबंधों में रखा गया है। प्रकार्य की विशिष्टता के कारण शब्दावली को प्राणिवाची और अप्राणिवाची के अंतर्गत रख सकते हैं।

(4) अनुस्तरण :—हमने जो 30 प्ररूप (पैटर्न) चुने हैं वे हमारे निर्धारित माध्यमिक स्तर के व्याकरण के लिए पर्याप्त हैं। लेकिन ये संरचनाएं जिस क्रम में रखी गई हैं, आवश्यक नहीं कि उनका क्रम प्रस्तुतीकरण में भी वही हो। एक विशिष्ट संदर्भ के लिए जो भी प्ररूप उचित समझा जाएगा, उसको ले लिया जाएगा। पूर्वापर संरचनाओं के संदर्भ में उसकी रचना और विकास समझाया जाएगा।

शब्दावली में (वोकाबुलरी) दो स्तर हैं—पद और पदबंध। इनको परंपरागत व्याकरणिक कोटियों में न रख कर प्रकार्यात्मक और वितरणपरक वर्गों में रखा गया है। कहीं-कहीं रूपावली की समानता के आधार पर भी शब्दों का वर्गीकरण किया गया है।

प्ररूपों और शब्दावली के अनुस्तरण में ज्ञात से अज्ञात का विशेष ध्यान रखा जाएगा। स्थूल से सूक्ष्म या मूर्त से अमूर्त का अनुस्तरण नियम प्रौढ़ों के लिए और द्विभाषी व्याकरण के लिए आवश्यक नहीं है।

(5) प्रस्तुतीकरण :—हमारे व्याकरण में सबसे अधिक महत्व का प्रसंग इसका प्रस्तुतीकरण है। (देखिए परिशिष्ट में 'लर्निंग स्ट्राटेजी') इसकी सबसे बड़ी विशेषता है—अधिगंता एक प्रसंग (सिचुएशन) से होता हुआ उसके वाक्य घटकों पर आएगा। उस वाक्य के रचना-सूत्र को हृदयंगम करते हुए उसी सूत्र में आने वाले अन्य विविध शैलीगत वाक्यों को भी समझने का प्रयत्न करेगा। शब्दावली की सहायता से वाक्य के विभिन्न खांचों (स्लाट) में स्थानापत्ति करते हुए

अपनी भाषा की दक्षता का विकास करेगा। सीखे गये सरल वाक्यों के व्युत्पन्न रूपों और रूपांतरण के नियमों को भी समझेगा। प्रत्येक प्रसंग के अंत में सभी वाक्यों को एक अर्थपूर्ण प्रसंगों में विविध अभ्यासों के माध्यम से अपनी भाषा दक्षता तथा संरचनात्मक ज्ञान का दृढ़ीकरण करेगा। अधिगम की इस प्रक्रिया में अधिगंताओं से इन बातों की अपेक्षा की गयी है—

(1) प्रस्तुत वाक्य के विभिन्न खांचों के प्रकार्यों को भली भांति समझें। समानता या विषमता के आधार पर अन्य वाक्यों को भी अपनी अंतर्दृष्टि से समझने की कोशिश करें।

(2) शब्दावली के चयन में लिंग, वचन, विकारीरूप आदि का निर्णय शब्दावली में दिये गये सूत्रों (पैराडैम) के आधार पर स्वयं अपने विवेक से बना लें और संरचना-सूत्र में निदेशानुसार उनका प्रयोग करें।

(3) व्याकरण की बारीकियों को समस्या न बनाएं। प्रदत्त सूत्र अंतर्संदर्भ (क्रासरिफेरेन्स) के आधार पर संरचनाओं की समानता और विषमता को समझ कर भाषा दक्षता बढ़ाने पर ध्यान केंद्रित करें।

(4) वाक्य को इकाई मानें। वाक्य विस्तार के लिए शब्दावली को साधन बनाएं।

(5) शब्दार्थ और वाक्यार्थ अर्थपूर्ण प्रसंग में ही समझने की कोशिश करें। अंग्रेजी पर्यायों से भी अर्थ समझा जा सकता है।

(6) भाषा दक्षता और व्याकरण ज्ञान दोनों पर समान ध्यान दें।

APPENDIX
SENTENCE—PATTERNS—IN HINDI

(S+O+C+V are the slots of subject, object, complement and verb respectively)

(Learner's Hindi Grammar)

—Dr. Sitaram Shastry

1. BASIC PATTERNS

		No Of Str.
1.	SV	1
2.	S+V	2
3.	S+O+V	3
4.	$S+O^2+O^1+V$	4
5.	S+C+V	5
6.	S+O+C+V	6

2. EXPANDED PATTERNS

1.	±M+S+V	7
2.	S±M+V	8
3.	$S\pm M+O^1+V$	9
4.	$S\pm M+O^2+O^1+V$	10
5.	S±M+C+V	11
6.	S±P+O+V	12
7.	$S\pm\left\{\begin{matrix}N\\Pr\end{matrix}\right\}+PP+V$	13

3. DERIVED PATTERNS

1. SUBJECTIVAL :

(a) $S+O_{k\bar{o}}+V$ (Ist causative) 14

(b) $S+O^2{}_{s\bar{e}}+O^1{}_{k\bar{o}}+V$ (2nd Causative) 15

2. OBJECTIVAL :

(a) $S_{s\bar{e}}+O+V$ (+Jānā) (P. Voice) 16

(b) $S_{n\bar{e}}+O+V_T$,, 17

(c) $S_{k\bar{e}}+O+V$ (+Nā) ,, 18

3. NEUTRAL :

(a) $S_{s\bar{e}}+V_1$+Neg+ Jānā (Imp. Voice) 19

(b) $S_{r\bar{e}}+O_{k\bar{o}}+V$ 20

4. TRANSFORMED PATTERNS

1. SIMPLE TO SIMPLE :

(a) 1. S+O+V—→S+O+Neg+V
(Negative) 21

2. (S+O+V—→S+O+V ,,

(b) 1. S+O+V—→+K+S+O+V
(Interrogative) 22

2. (S+O+V—→S+O+V ?),,

(c) 1. S+O+V—→ S+O+V (+ā, o, iē)
(Imperative) 23

2. S+O+V —→ (S+O+V),,

(d) 1. S+O+V—→ +Ex+S+O+V
(Exclamatory) 24

2. (S+O+V—→S+O+V !)

2. SIMPLE TO COMPOUND :

(a) S+(V) } ——→ S+(V) + { aur / — } + S+V
S+(V) Addtive 25

(b) S+V } ——→ S+V+ { yā } + S (V)
S+V Alternative 26

(c) S+V } ——→ S+V+ { lekin } + S+V
S+V Adversative 27

3. SIMPLE TO COMPLEX :

(a) S+O+V } ——→ S+O+V+ { Ki / = } + S+O+V
S+O+V Noun cl. 28

(b) S+O+V } → (Wah) + S+O+V+ (Jō) + S+O+V
S+O+V Adj. Cl. 29

(c) S+O+V } → (Jab) + S+O+V+ (Tab) + S+O+V
S+O+V = Adv. Cl. 30

Notes :— "M" = Modifiers
"P" = Particls
"PP" = Post-Positional Words (Kē/Ki + adv.)
"K" = "Wh" words in Hindi

SUBSTITUTIONS

(The filler of the slots as words or phrases)

1. S ——→ 1. Noun 2. Pronoun 3. Adjective 4. Infinitive 5. Participle

2. O ——→ 1. Noun 2. Pronoun 3. Adjective 4. Infinitive 5. Participle

3. C ——→ 1. Noun 2. Adjective 3. Participle 4. Possessives

4. V ——→ 1. Copula (Hōnā) 2. Simple verb + Cop. 3. Compound verb + Cop.

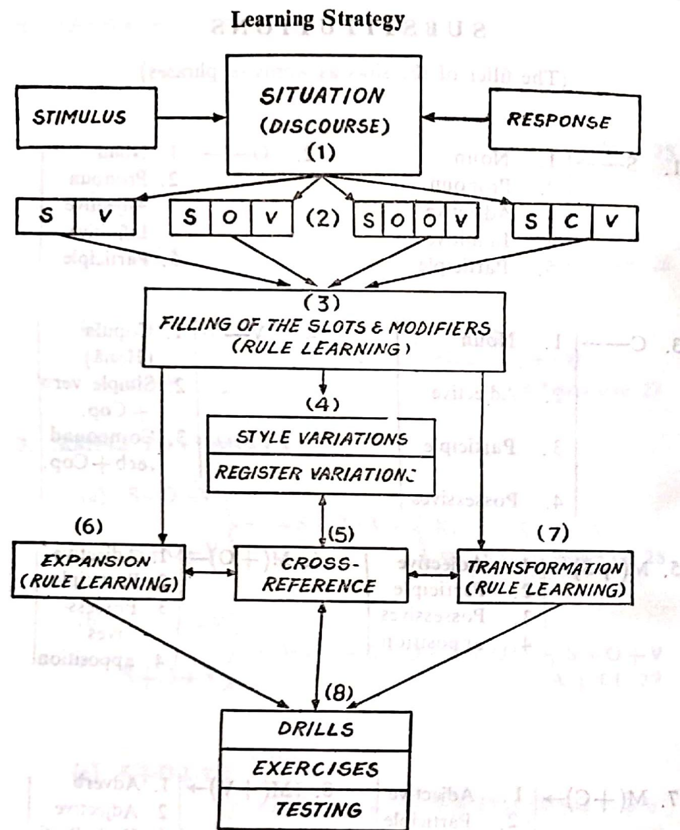
5. M(+S) → 1. Adjective 2. Participle 3. Possessives 4. apposition

6. M(+O) → 1. Adjective 2. Participle 3. Possessives 4. apposition

7. M(+C) → 1. Adjective 2. Participle 3. Possessives

8. (M(+V) → 1. Adverb 2. Adjective 3. Verb (Participle, Absolutive 4. Noun (+case sign)

Learning Strategy



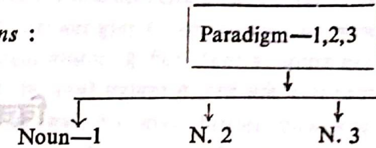
THE PROCESS : 1. Whole to part ⟶ part to whole ⟵

2. Rule learning to skill learning ⟶ skill learning to rule learning ⟵
3. Simple to complex learning ⟶ complex to simple learning ⟵
4. learning would be in a cyclic order : situation ⟶ sentence Rules ⟶ Sentence ⟶ Situation
5. Presentation would follow : inductive ⟶ deductive, deductive ⟶ inductive method

VOCABULARY

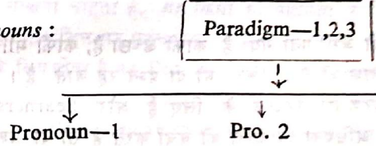
(The list of Fillers of various slots in sentence)

1. *Nouns* :



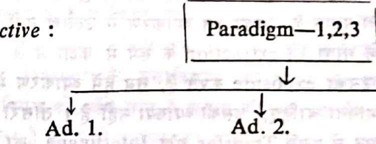
Noun—1 N. 2 N. 3 N. 4

2. *Pronouns* :



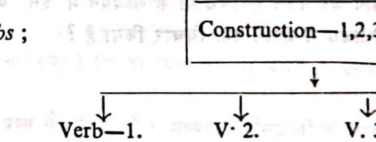
Pronoun—1 Pro. 2 Pro. 3

3. *Adjective* :



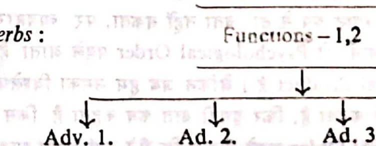
Ad. 1. Ad. 2. Ad. 3.

4. *Verbs* ;



Verb—1. V. 2. V. 3. V. 4

5. *Adverbs* :



Adv. 1. Ad. 2. Ad. 3. Ad. 4.

Note : Words related to S. No. 1, 3 and 4 also will be classified on the basis of Animate (Human-Non-human) and Inanimate (concrete-abstract.)

विचार-विमर्श

गोपाल शर्मा—

यह निबंध जो अभी पढ़ा गया है काफी अच्छा है, काफी मौलिकता से चीजों को समझाने की कोशिश की है। फिर भी दो प्रश्न रह जाते हैं। एक तो यह कि Pedagogical व्याकरण तो शिक्षक के लिए है और Learners व्याकरण जो विद्यार्थी के लिए है। अधिगंता व्याकरण की चर्चा करते हैं तो दो प्रश्न सामने आते हैं। पहला तो यह कि Psychological Order को Logical Order में बदलने में किन चरणों से गुजरना पड़ता है उनका इस व्याकरण में उल्लेख नहीं है।

दूसरा जब हमें भाषा को extraction के रूप में कक्षा में ले जाना पड़ता है विभिन्न स्थितियों में उसका exposure करते हैं, तब हमें व्याकरण में किसको सरल और किसको कठिन मानना चाहिए, इसकी व्याख्या नहीं है। तीसरी बात यदि हम अधिगंता व्याकरण मान लें इसमें Transfer और Interlingua का क्या स्थान है, किस रूप में हम उपयोग कर सकते हैं विद्यार्थी के अध्ययन में, इस बात की व्याख्या नहीं की गई है। इस संबंध में आपने क्या विचार किया है?

सीताराम—

पहला प्रश्न तो यह है कि Psychological Order और Logical Order में क्या संबंध है। मैं स्पष्ट रूप से तो बता नहीं सकता, पर व्यवहार में भाषा को व्यवहार का आधार मानें तो Psychological Order पहले आता है क्योंकि भाषा मूलत: Psychological Product है। लेकिन जब हम उसका विश्लेषण करते हैं तो पहले वह कौनसी बात कहता है, फिर दूसरी बात कब कहता है, किस क्रम में कहता है तब हम इसे Logical Order कहते हैं। चूंकि मैंने यहां भाषा व्यवहार को प्रथम स्थान दिया है, अगर हम व्यवहार को मिश्रित रूप मानें तो ज्यादा अच्छा रहेगा; क्योंकि आप कहीं-कहीं बहुत Logical बात करते हैं और कहीं-कहीं अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बात करते हैं। इसलिए मैं बहुत सैद्धांतिक चर्चा में

नहीं जा रहा हूं कि दोनों में क्या संबंध होना चाहिए और उसका स्पष्टीकरण क्या होना चाहिए। मैंने इस पर विचार नहीं किया है।

Learners व्याकरण के बारे में डा० साहब ने कुछ कहा। आज जब मैं हार्नबी की Advanced Learners Grammar देख रहा था कि जहां Learners का प्रयोग होता है वहां क्या होता है उस व्याकरण की संरचना यह है कि पहले Phonetic System समझाया है फिर क्रिया को आधार बना कर 25 Patterns इस तरह रखे हैं कि उनकी सहायता से उनमें आने वाली क्रियाओं के प्रयोग से बहुत से वाक्य बनाए जा सकते हैं। वाक्य सिखाना उसका लक्ष्य नहीं है फिर भी जो format है वह बना हुआ है। उस कोश में चित्र भी हैं और वाक्य के द्वारा situation को समझाया भी गया है। मेरे कहने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति जो learner के रूप में स्वत: सीखना चाहता है, वह किसी की सहायता के बिना अपने रास्ते पर चल सके और अपनी मंजिल पर पहुंच सके। डा० साहब ने जैसे कहा कि अधिगम व्याकरण छात्र के लिए होता है पर Pedagogical व्याकरण केवल अध्यापक के लिए। मेरे विचार में Pedagogical grammar अधिगम व्याकरण से बहुत दूर नहीं होता। और जरूरी नहीं कि Pedagogical व्याकरण अध्यापक के लिए ही लिखा जाए। Pedagogical का मतलब उसमें कुछ Pedagogical सिद्धांतों का निरूपण होना चाहिए जो अध्यापक के लिए विशेष हो। हो सकता है कि उसे यह मालूम हो कि कौनसा वाक्य कब बोला जाए, किस स्थिति में व्यावहारिक बिंदु प्रस्तुत किया जाए, पर अगर आप learner के मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर इस तरह के Pedagogical नियम को, जैसे ज्ञात से अज्ञात की ओर तो मैंने लिखा है कि व्यक्ति जब भाषा सीखता है तो अपने अनुभव का लाभ उठाता है। वह अनुभव क्या है? वह अनुभव रसात्मक हो सकता है और अगर उसकी उपेक्षा करें तो हम उसे भाषा नहीं सिखा सकते हैं। यह एक प्रौढ़ मनोविज्ञान की बात है। इस दृष्टि से मैंने अपने format में प्रयत्न किया है कि जो स्वत: सीखना चाहते हैं उनके लिए सहायक हो।

तीसरा प्रश्न सैद्धांतिक है। अध्यापक सिद्धांतों के चक्कर में नहीं जाता। वह जो भी पढ़ेगा उसको व्याकरण के रूप में अपने पुस्तक के लिए कैसे प्रस्तुत करे, यह देखेगा।

जे० सी० शर्मा—

जैसा कि आपने कहा कि वयस्क अपनी भाषा जानता है उसको अपनी भाषा का व्याकरण आता है। उसकी जो प्रथम भाषा का व्याकरण है, वह कैसे जानता है?

सीताराम शास्त्री—

मेरे अपने लेख से यह स्पष्ट है कि मैं हिंदी व्याकरण की व्याख्या नहीं करने जा रहा हूं कि कर्ता क्या है आदि। मैं यह मानता हूं कि अधिगंता के पास एक भाषायी अनुभव होता है। उसका लाभ उठाकर मैं इसे प्रस्तुत कर रहा हूं। मेरा उद्देश्य भाषा का विश्लेषण करना भी नहीं है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि मैंने तिर्यक रूपों की क्या-क्या व्याख्या की है, हिंदी में लिंग निर्धारित कैसे करेंगे या उसको यह नहीं समझाऊंगा कि Parts of Speech कितने होते हैं, कारक होते हैं, कि नहीं होते। मैं यह जानता हूं कि वह कारक से या Parts of Speech से परिचित है। मैं उसके इस अनुभव का लाभ उठाते हुए अपनी बात प्रस्तुत करूंगा। मुझे हिंदी भाषा के कौशल के साथ-साथ व्याकरण का ज्ञान कराना है, ताकि वह व्युत्पादक पद्धति से एक वाक्य के अनेक वाक्य अपनी अंतर्दृष्टि से बनाने में सक्षम हो। अतः उसके अनुभव और ज्ञान का लाभ उठाना चाहता हूं। हिंदी का व्याकरण समझाने का कोई उद्देश्य नहीं है।

ON THE RELEVANCE AND TECHNIQUE OF TEACHING GRAMMAR

—G. M. Mehta

Language teaching is a highly specialised job and it calls for development of appropriate strategies and techniques to ensure maximum proficiency in the use of a language for purposes of effective communication and self expression. Urbanisation, modernisation and the inception of green and white revolutions in the countryside, proliferation of democratic institutions and subsequent politicisation have increased linguistic interaction between various ethnic, religious and cultural groups since independence. As such, it has become imperative need of the hour to evolve adequate language skills for handling highly complex situations that are being constantly created by a fragmented society with growing ambitions, aspirations and new assertions. The explosion of new technologies and their wide spread application in industry, agriculture and commerce have made the task of a language teacher more difficult and challenging than before. It is being realised that a developing country like ours can ill-afford to have a linguistically ill-equipped or deficient population for long.

Schools and Universities have turned a blind eye to the growing linguistic needs of the people over the years. If anything, the language courses that are being taught have failed to deliver the goods owing to the fact that these have a high degree of literary bias ; development of language skills and necessary teaching techniques has received little or no attention. What is still worse, no worthwhile attempts have been made to benefit from scientific analysis, scholarly findings and experience of eminent linguists in the field of language teaching. Effective use of a language to specific purposes in human life has always been a low priority in all educational

planning as if it were a thing of no consequence. The situation is thus alarming and cries for urgent remedial measures.

Language is a rule governed activity. It is a highly complex net-work of systems that continuously interact with each other. Systems that operate at the level of 'form' are far more complex than the ones that operate at the level of 'sound' and 'meaning'. The relationship that obtains between a sentence and its constituents forms fundamental and crucial part of any meaningful language activity. A native speaker's ability to distinguish a grammatical sentence from an ungrammatical one, the way grammatical choices operate, the mini-grammar that an individual builds and uses in producing and understanding sentences are major concerns of a language teacher. It is a pity that a majority of language teachers brush aside any linguistic insight into grammar as irrelevant, unnecessary and extraneous to their profession; they have ruefully ignored the pride of place the study of grammar enjoys in any worthwhile language teaching programme. Ironically enough, they equate acquiring a literary sensibility and interpretative skills that are outmoded with a mastery over the language and its grammar. They stake their claim to efficient language teaching just on psedo literary props. Consequently, they are ill equipped and poorly motivated mortals to do any meaningful teaching of grammar in particular and language in general. As teachers of language, we owe it as a special duty to the nation to suggest how best we can promote acquisition of productive language skills through appropriate grammatical descriptions of a living language and test them against the reality of experience and intuition. It is in this context that the organisation of this seminar on the teaching of grammar by Kendriya Hindi Sansthan has become immensely valuable and significant. We have to explain the nature and mechanics of a language to our students and create an awareness of the humanistic values that inhere in the study of literature. Adequate grammatical descriptions hold key to all this. Hence the necessity of a coherent, viable and relevant theory of grammar as an effective class-room model.

It is true that any conscious effort at the explication of grammatical rules is counter productive at the initial stages of language learning. Resistance to enunciation of the rules of grammar will be

insurmountable. The experience of the real language in speech and intensive and extensive practice will benefit a young learner most. The teacher could plan his lessons in such a manner that what is implicit is drawn out and made explicit. What ought to be emphasized is the need for the young learner to experience the language in use and to explore whether he could try it out for himself. Teaching about a language may be an exercise in elegant futility at this stage. Halliday strikes the right chord when he says—"Teaching a language involves conjoining two essential features ; first the learner must experience the language being used in meaningful ways and secondly the learner must himself have the opportunity of performing, of trying out his skills, of making mistakes and being corrected. These are the essence of language learning and teaching about a language does not directly contribute to either of them." This view is, however, not valid for advanced learners. An imaginative and sensible teacher can profitably combine grammatical descriptions with practical operations as this alone would further increase a learners' ability and command over the language being taught and used.

The Chomskian view about the principles and processes of sentence formation—the finite set of rules and infinite number of sentences—assumes added significance in this regard. We want all our students to master the basic sentence patterns. We can reinforce these patterns by using them as the basis for carefully written text books. On the basis of evaluation that we conduct periodically, we can construct steps for taking the students from one level of linguistic sophistication to a higher and more effective level. Thus it is as clear as daylight that a meaningful analysis of basic sentence patterns in terms of form (NP—VP) function (Subject-Predicator Subject complement, object-adverbs etc.) and distribution ('places' in the string) will help a learner understand all possible simple and complex transformations and expansions of a sentence. It is an interestingly profitable exercise to correlate complex structures to basic sentence patterns and comprehend as fully as possible the inherent syntactic relationships. We may dispute the efficacy of Chomskian model in more than one way—and rightly so—but the generalisations that are thus made, though in a limited manner, will go a long way in fixing the relevant grammatical details with ease and facility. This will help the language teacher to present grammar as an interesting

and desirable end in itself. It should not be supposed, however, that learning generalisations about the detail of a language is not the same thing as learning a language. We are not competent in a language until we can use it effectively in response to situations. The generalisation serves merely as a guide during the learning period, checking and correcting us. It paves the way for discussion of a language problem. We will do well to bear in mind that whatever generalisations are made, these must consistently account for normal and non-normal sentence patterns within the range of our students' experience. Confusing grammatical descriptions ought to be avoided.

It is interesting to note that the language teacher in India has kept himself away from a number of bewildering theories and models of grammar that have seen the light of the day, on account of persistent efforts made by linguists in the western hemisphere. Insistence on a particular model of grammar for class room purposes may not be right thing to do. The language teacher, however, needs to be fully equipped with whatever useful information is made available about the grammatical facts of the language in say, systemic transformational generative, stratificational, tagmemic models of grammar. Acquaitance with and grounding in these models will help a language teacher to build his own class room model which will bring about maximum results. It is very necessary that a language teacher keeps his model flexible enough so as to incorporate changes and modifications whenever necessary into his teaching material in the light of new facts supplied by the linguists. This will enrich and update his working models. Efficacy of any such model will depend largely on his own practical experience, informal and formal discussions with other colleagues, and the strategies adopted for presentation in the class room.

A great deal has already been said about the methodology of teaching grammar and fierce controversies triggered off as to the relative merit and effectiveness of any particular method. I do not wish to advocate any such method which will hold good for all times to come. The best technique is one which works. What we need is a proper orientation and motivation of the language teacher for teaching grammar. Teaching of grammar need not be regarded as merely an intellectual exercise ; it ought to be construed as an

effective instrument of language learning. Competence to talk about a language is not only a desirable goal of language teaching but it constitutes an essential part of one's linguistic personality also. Understanding and awareness of the mechanics of grammar is a highly satisfying and self rewarding achievement since a description of how things are said and not how they should be said is both stimulating and interesting for young as well as advanced learners of a language.

In passing, it may be said that certain fundamentals about the techniques of teaching grammar such as the use of audio-visual aids, providing an interesting context to the grammatical items, ensuring maximum participation of students in the language activity still hold the ground. If sophisticated aids are not handy, the systematic and neat blackboard work comes readily to the rescue of a language teacher for purposes of effective presentation. Lecturing the students on the rules of grammar has proved disastrous all over and a search for the right technique is, therefore, on. Language teachers have come to discover the enormous value of question answer technique which helps the students to arrive at the generalisation himself. Whatever is learnt this way is learnt for life. Use of substitution tables is also recommended by some experts, but substitution tables in my opinion have limited effectivity for the simple reason that the structures that are generated may sometimes be highly artificial and unrelated to the current variety of the language. Excessive reliance on them makes teaching and learning of a language a sheer drudgery. That the interest of the students should be sustained through and through in a grammar class by a judicious combination of practice with experience is not a moot point. Use of carefully selected material will ensure this.

Contrastive analysis of the grammatical structures of L_1 and L_2 is useful in more than one way. The language teacher could profitably exploit similarity in grammatical structures for quick learning of L_2 ; he could highlight dissimilarity in the same for minimizing L_1 interference so that the errors that creep in a student's composition not infrequently could be altogether eliminated. What a language teacher needs for doing this is sufficient grounding in the techniques of error analysis, a linguistic insight into complexities of structures involved, and the ability to identify areas of difficulty in relation to grammatical features.

To conclude, I wish to make a few suggestions for consideration of this distinguished gathering :

(i) Short term orientation courses in grammar bc organised for language teachers all over the country. This could be done by language institutes in collaboration with University teaching departnents of languages.

(ii) Class room models of grammar be evolved by language experts in consultation with the class room teacher.

(iii) Periodical evaluation and modification of these models is necessary for keeping pace with the fast growing needs of a language community. Level of learning to be attained in a particular language in terms of an individual's requirements should determine the variety of grammatical material, its gradation and sophistication, if necessary.

(iv) Sufficient funds be made available for production of teaching material on grammar to all regional language institutes. Top priority be given to language teaching programmes along scientific lines in educational planning.

(v) Syllabi be recast to make courses at all levels grammır oriented to reasonable limits.

विचार-विमर्श

गोपाल शर्मा—

पढ़ाते समय L_1 और L_2 के व्याकरण का क्या स्वरूप होना चाहिए ?

ज्ञानमल मेहता—

जहां तक L_1 का प्रश्न है, उसको Grammar और L_2 की Grammar में काफो फक होगा। क्योंकि L_1 का बच्चा जब स्कूल में आता है उसको काफी बोलना, काफी संरचनाएँ या काफी लिखना आता है। उसके साथ जो तकनीक या Strategy अपनायी जाएगी वह उस लड़के से अलग होगी जो बिना किसी भाषा के आता है। He doesn't have any problem of interference, but when he learns a second language than we have to take into account the structural difficulties created by a second language. That way he has to take two structures into one (1) Interference (2) What he needs at that stage. He does not need a second language. He may not become an advanced learner of a second language. He may just require to write and express his ideas in German, French or so. I fully agree with you that the technique applied in teaching of L_1 grammar should be different from technique of grammar of L_2.

गोपाल शर्मा—

क्या आपने इसमें मातृभाषा शिक्षण का Model ही रखा है ? द्वितीय भाषा शिक्षण का Model क्या है ?

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव—

मातृभाषा शिक्षण के लिए जो है वही इतना सामान्य है कि द्वितीय भाषा शिक्षण के लिए भी मान लिया गया है। मेहता जी ये बतायें कि जितने Terms इन्होंने प्रयोग किए हैं, जिस ढंग का Scope उन्होंने हमारे सामने रखा है, वह सभी द्वितीय भाषा के संदर्भ में रखा गया है। आपका प्रश्न इसलिए मौलिक है कि अगर

मातृभाषा शिक्षण हो तो क्या-क्या तबदीलियाँ होंगी या कि इसे अलग से बनाना होगा ?

गोपाल शर्मा—

जो व्याकरण के Models उपलब्ध हैं, उसमें से जो लड़का मातृभाषा सीख-कर आता है उसके लिए कौन-सा Model ज्यादा काम में आता है ?

ज्ञानमल मेहता—

Available व्याकरण को मातृभाषा के व्याकरण के लिए भी recommend किया जाए। Chomskian Model को भी recommend किया जाए। उनका यह Mechanism कि वाक्य कैसे बनते हैं, कैसे transformation बनते हैं, उस स्तर तक इसकी उपयोगिता है। जैसे-जैसे लड़का आगे बढ़ता जाए, मातृभाषा में भी। मैंने यह नहीं कहा कि Particular Model को ही adopt किया जाए। मेरे ख्याल से अध्यापक जो है वह best judge है, अपनी situation का। उसको अपने लड़कों का स्तर मालूम होना चाहिए। उसको सारे क्लास का स्तर मालूम हो जाना चाहिए और उसे यह भी मालूम हो कि छात्र को किस तरह की कितनी भाषा की जरूरत है। मेरा तो दृष्टिकोण यह है कि हर भाषा अध्यापक को इन सब Models में grounding होना जरूरी है, जिससे वह अपना एक नया Model तैयार करे, अपने situation के हिसाब से अपने छात्रों के लिए प्रयोग में ला सके।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव—

आपके अनुसार तो आप एक भाषा अध्यापक को भाषा वैज्ञानिकों से भी अधिक मानते हैं। एक भाषा वैज्ञानिक जो TG जानता है तो Systematic नहीं जानता और Systematic जानता है तो Stratificational Model से परिचित नहीं होता। आपका कहना यह है अध्यापक को सारे Models आने चाहिए।

ज्ञानमल मेहता—

मैं मानता हूं कि वह सारे Elementry Models को जाने। भले ही उनकी गहराई में न जाए। तभी वह अपना एक Model तैयार कर सकता है।

गोपाल शर्मा—

मातृभाषा का ज्ञान होने के बाद उसे भाषा इतनी आ जाती है कि उसके लिए Hallidayan Model अच्छा है।

सुधाकर पाण्डे —

Contrastive और Error Analysis दोनों ही उपयोगी हो सकते हैं। C A (Contrastive Analysis) जहां तक मुझे पता है, इसके दो Versions हैं। एक तो Strong version of Contrastive Analysis और दूसरा Weak version of Contrastive Analysis। S V C A में यह Predict करता है कि दो भाषाएँ हैं। Structure में अंतर के आधार पर वह उनकी गलतियां Predict करता है। W V C A जो Predict नहीं करता वह छात्रों की गलतियां जानता है और उन गलतियों को जानते हुए Structure को Compare करता है और दिखाता है कि क्या कठिनाई है ? W V C A और Error Analysis काफी नजदीक आ गए हैं। अमेरिका में अभी भी C A के काफी समर्थक हैं।

गोपाल शर्मा—

मैं यह जानना चाहता हूं कि मेहता जी C A के किस Version को Strong या Weak version की ओर इशारा कर रहे हैं।

ज्ञानमल मेहता—

C A से मेरा अभिप्राय यह था कि in Second language learning the teacher should be able to predict what areas of difficulty do exist in the second language. इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए ज्यों ही लड़का प्रवेश करे, छात्रों का छोटा-मोटा टेस्ट लेकर यह देखें कि Common Errors कहां मिलते हैं। जहां सबसे ज्यादा Common Errors मिलें, उसका पता लगाने में C A मदद कर सकता है। Unlearning के Process को accelerate करने के लिए मैं समझता हूं शिक्षक के लिए C A बहुत ही सहायक है।

उदयनारायण सिंह—

I like to speak from page 210 on line 5, 13, 16 same paragraph "Insistance of on a particular model of grammar for class room purposes may not be right thing to do". If that is so then just opposite thinking came on page 210 that the class room may not be done and on page 212 it should be done. I don't know who will justify it.

ज्ञानमल मेहता—

मेरा अभिप्राय यह था इसी Particular Model को repeat करने के लिए था और यह भी कि Class Room Model को और भी ठीक किया जाये। मेरा

अभिप्राय यह था कि अगर कभी Class room model evolve किया जाए तो किसी Particular grammar के Model पर evolve किया जाए। Therefore they are not opposite to each other.

रमेशचन्द्र आर्य—

मेरे मन में कुछ प्रश्न उठे हैं। सारी बात तो यह है कि मेहता जी जब कहते हैं तो ठीक कहते हैं कि किसी एक Model पर चलकर अध्यापक किसी भाषा को पढ़ा नहीं सकता। मेहता जी दोनों तरह की बातें कहते हैं। कृपया आप देखिए पृष्ठ संख्या 208 पर पहला पैरा अंतिम दो लाइनें—

"Adequate grammatical descriptions hold key to all this. Hence the necessity of a coherent viable and releavant theory of grammar as an effective class room model. इसका अर्थ यह हुआ कि Class room teaching के सिलसिले में एक Coherent viable theory होनी चाहिए। दूसरी ओर वे कहते हैं कि ऐसी किसी Theory की आवश्यकता नहीं है। एक बार जब वे हमारे संस्थान में आए थे तो यही प्रश्न पूछा गया था कि क्या आपकी Grammar किसी Theoretical model में बंधी हुई है। उन्होंने कहा 'नहीं'। कोई भी Pedagogical grammar किसी भी Model में बंधी नहीं रह सकती। और कोई भी Pedagogical Grammar ही क्यों Reference grammar भी किसी Model में बंधी नहीं रह सकती। कोई Reference Grammar जो आम आदमियों के काम की चीज़ है, किसी भी theoretical model में नहीं बंध सकती। किसी भी Theoretical Model में वह grammar बंध सकते हैं जो आम लोगों के फायदे के लिए नहीं है। जो केवल कुछ सैद्धांतिक लोगों के लिए होती हैं। किसी भी Theoretical Model में बंधकर किसी भी भाषा की आज तक Grammar नहीं बनी। जैसे Reference Grammar। जो किसी भी Model में बंधकर नहीं रहे। किसी एक Class Room Teacher को तरह-तरह के व्याकरण का ज्ञान होना चाहिए। ये तरह-तरह के व्याकरण एक वैयाकरण के लिए तो आवश्यक हो सकते हैं। मगर एक शिक्षक को न तो किसी Case Grammar को पढ़ने की आवश्यकता है न किसी stratificational Grammar की। अगर वह किसी भी व्याकरण को पढ़ेगा तो वह Class room teacher नहीं रह जाएगा। उसके सामने सवाल यह होगा कि John opened the door का deep structure क्या है ? मेहताजी ने यह कहा कि यह बहुत आसान सवाल है। Simple Sentence और Complex Sentence का ज्ञान है। भाषाविज्ञान में आजकल जैसा विचार चल रहा है उसमें यह बहुत कठिन है। John opened the door के 8 Intermediatory Structures माने गए हैं। अब तो चाम्स्की ने भी Kernel Sentence के Context को ठुकरा दिया। अब तो सिर्फ Phrase Marker हैं जिसमें Complex Sentence हैं। आखिरी सवाल है पृष्ठ 212 पर "Syllabi be recast to make courses at all levels grammar oriented to reasonable units." इसे समझना कठिन है कि Grammar Oriented Syllabi कौन से होते हैं ? आज Structural Syllabi कुछ Notional Syllabi होते हैं तो क्या Grammar Oriented Syllabi, Notional Syllabi है ? ये कैसे लिखे जाते हैं ?

सूरजभान सिंह—

पृष्ठ 208 पर मेरा ख्याल है कि Meaning के स्तर पर, अर्थ के स्तर पर Complexity ज्यादा है बनिस्बत form के। जहां Complexity का relation Semantics के साथ हो जाता है वहां Complexity बढ़ जाती है। इसका स्पष्टीकरण डा० मेहता करेंगे। जैसा अभी डा० मेहता ने स्पष्ट किया कि दूसरी भाषा के यह व्याकरण बच्चों के लिए हैं या Adult के लिए। जब हम बालकों को पढ़ाते हैं तो उस समय व्याकरण का पाठ अलग होगा जब हम Adults को पढ़ाते हैं तो उनमें व्याकरणिक जिज्ञासा होती है और उनको feed करने के लिए बिलकुल अलग तरह से पढ़ाना होगा।

ज्ञानमल मेहता—

जहां तक आपके पहले प्रश्न का सवाल है, जहां तक प्रथम भाषा सीखने वाले का सवाल है उसे अर्थ की जटिलताएं इतनी तंग नहीं करतीं जितनी की व्याकरण की जटिलताएं। उसे व्याकरण की जटिलताएं समझ में आ जाएं तो वह अर्थ की जटिलताएं समझने में भी काफी सहायक होंगी। तो मेरा मतलब भाषा शिक्षण के संदर्भ व्याकरण के जो System हैं, वे ज्यादा जटिल हैं, याने अर्थ की अपेक्षा System अधिक जटिल हैं। I don't deny. I say that the systems operating at form are more complex when compared to the systems of meaning.

दूसरे प्रश्न के उत्तर में मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूं कि Initial stage के अध्येता और Sophisticated stage के अध्येता के लिए व्याकरण अलग होंगे। Sophisticated Stage के जो अध्येता हैं, उनके लिए Sophisticated Grammar और complexity का प्रस्तुतीकरण हो सकता है और Initial stage के अध्येता के लिए सरल प्रस्तुतीकरण हो सकता है।

व्यावहारिक व्याकरण-शिक्षण की विधियां

—नटुभाई के० जोशी

Grammar is the practical analysis of a language, its anatomy and it is taught to guide correct usage and eliminate error.

—*Dr. Sweet* (पटेल : 37)

व्याकरण भाषा का सच्चा अनुचर है। अतः भाषा शिक्षा के एक अनिवार्य अंग के रूप में व्याकरण की शिक्षा का स्थान अति महत्वपूर्ण है। शुद्ध भाषा की अभिव्यक्ति और लेखन के ज्ञान का आधार व्याकरण शिक्षा है। अन्य भाषाओं की शिक्षा में भी व्याकरण शिक्षा के बिना भाषा की शिक्षा का कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। अतः भाषा के प्रयोग का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी व्याकरण का ज्ञान अति आवश्यक है।

भाषा शिक्षण के दो पहलू हैं—1. साहित्य की शिक्षा, 2. व्याकरण तथा भाषा के कौशलों की शिक्षा।

साहित्य का शिक्षण स्वयं रसप्रद होने की वजह से उसका अध्ययन और अध्यापन करने-कराने वाले उसमें अधिक अभिरुचि दिखाएं, वह स्वाभाविक है। किंतु भाषा सीखने के लिए व्याकरण तथा भाषा के कौशलों को सीखना ही जरूरी नहीं बल्कि अनिवार्य है।

व्याकरण तथा भाषा के कौशल भाषा-शिक्षण के भवन की नींव है। किसी भी भाषा के साथ उसका व्याकरण संलग्न है। अन्य भाषा के व्याकरण के ज्ञान के बिना शुद्ध भाषा बोलना या लिखना नामुमकिन है। अन्य भाषा का व्याकरण सीखने के लिए अपनी भाषा के व्याकरण का ज्ञान होना भी जरूरी है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम छात्रों को व्याकरण के नियम रटा दें। इस प्रवृत्ति से तो वे ऊब जाएंगे। यह पद्धति अरुचिकर और अमनोवैज्ञानिक है। हमारा ध्यान प्रायोगिक या व्यावहारिक रूप के व्याकरण के अध्यापन की ओर होना चाहिए। श्रवण, भाषण, वाचन और लेखन कौशल की दिशा में छात्रों का विकास होता रहे, यह भाषा शिक्षा का हेतु है। उपर्युक्त हरेक कौशल का भाषा शिक्षण में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

एफ० एल० विलोज का कहना है—"Teachers who find ways to train their pupils to listen attentively and concentrate on what they hear are well rewarded, for a good listener is always an agreeable person and is likely to be more open to new ideas than a bad listner."

—(*Biloz* : *3*)

इस प्रकार वे श्रवण कौशल को भाषा शिक्षा का प्रथम सोपान मानते हैं।

भाषण कौशल पर तो वे इतना जोर देते हैं कि इस कौशल के बिना विद्यार्थी के लिए अपना जीवन टिकाना मुश्किल है।

"Every movement, every process, every wish, every need must be introduced by word, accompanied by words, commented on in words followed by word and dismissed by word." —(*Biloz* : *3*)

टोमकीन्सन भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—

"In his student days he must live to talk since in his working days, he must talk to live." (साक्र्‌वाला : 62)

वाचन कौशल को मि. ल्युइस मानव अर्जित ज्ञान की संपूर्ण विरासत में प्रवेश पा सकने का एक साधन समझते हैं। और मि. वेकोन लेखन कौशल के पक्ष को पुष्ट करते हुए बताते हैं—

"Speaking maketh a ready man. But writing maketh an exact man." (पटेल : 45)

आज विद्यालयों में व्याकरण के नाम से छात्र और शिक्षक दोनों भड़क उठते हैं। अहिंदी भाषा विद्यालयों में व्याकरण को दुश्मन मानकर चलने वालों की संख्या भी कम नहीं है। अतः भाषा शिक्षा में आज व्याकरण शिक्षा की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। साहित्य की भांति यह विषय रुचिकर नहीं बन सका है, इसका मूल कारण यह है कि व्याकरण विषय का अध्यापन-कार्य हमेशा शिक्षकों ने सैद्धांतिक रूप में ही किया है। सही मार्ग तो यह है कि व्यवहार में प्रायोगिक रूप से व्याकरण का अध्यापन कराया जाय। जब तक हम व्याकरण को व्यावहारिक रूप देकर नहीं पढ़ाएंगे तब तक इसमें विद्यार्थियों के लिए रस पैदा नहीं हो सकेगा।

व्यावहारिक व्याकरण

संरचनाओं का वर्णन ही व्यावहारिक व्याकरण है। सचमुच, देखा जाय तो विद्यालयों की दृष्टि से प्रचलित भाषा की संरचनाओं के प्रमुख नियमों का विवरण व्याकरण है। इस दृष्टि से तो व्याकरण अब शब्द-क्रम की अर्थवत्ता और भाव स्पष्टता के आधार पर क्रमोद्योतित रूप को स्पष्ट करता है।

म्युरेल स्कोन बर्नकालनि अपनी पुस्तक आनुभविक ज्ञानार्जन में प्रायोगिक व्याकरण की महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं—

"Teaching through experiences in language teaching is stimulating and challenging to both teacher and children. Interest heightens and discipline problems are usually far less frequent as a result. You must however, set up a structured situation in which experiences are possible." (*Murel : 35*)

अतः व्यावहारिक व्याकरण में शुष्क नियमों को कंठस्थ कराने की आवश्यकता नहीं रहती। ज्यादा जोर भाषा-प्रयोग और अभ्यास पर दिया जाता है और प्रयोगों के आधार पर ही आवश्यक नियम बताये जाते हैं। व्यावहारिक व्याकरण में मुख्य आधार दृढ़ीकरण पर है। इस पद्धति का अभ्यास रसप्रद तथा आकर्षक बन जाने पर बालक स्वयं तत्संबंधित विषय भी सीख लेते हैं और उसके लिए वह विषय स्थायी बन जाता है।

व्यावहारिक व्याकरण का स्वरूप

हिंदी भाषा शिक्षण में व्याकरण शिक्षा का व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है यह एक विचारणीय विषय है। हिंदी शब्दों के संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, क्रिया आदि भेद और पद व्याख्या पर जोर देने वाली पद्धति अब मान्य नहीं है। व्यावहारिक व्याकरण का एक सम्यक् रूप नीचे दिये गये विषयों के आधार पर बनाया जा सकता है :

1. ध्वनि विचार
2. वर्तनी
3. शब्द शिक्षण
4. वचन परिवर्तन
5. लिंग परिवर्तन
6. कारक और विभक्तियों का परिचय और प्रयोग संबंधी अभ्यास
7. हिंदी शब्दों की रचना
8. विशेषणों का प्रयोग
9. सर्वनामों का प्रयोग
10. क्रिया विशेषणों का प्रयोग
11. काल परिवर्तन
12. काल के वाच्य और प्रयोग परिवर्तन
13. संयुक्त क्रिया
14. पर्यायवाची शब्द
15. एकार्थक तथा अनेकार्थक शब्द
16. युग्म शब्द, समुच्चरित शब्द
17. वाक्य विचार-शब्द क्रम, अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से शब्दक्रम में परिवर्तन तथा भिन्न प्रकार की वाक्य रचनाएं
18. विराम चिह्न
19. मुहावरों और कहावतों का प्रयोग

व्यावहारिक व्याकरण की दृष्टि से ऊपर बताये हुए विषय या मुद्दे तो मात्र संकेत हैं। इनसे भी विशेष रूपों में व्यावहारिक व्याकरण को विभाजित कर सकते हैं। उपसर्ग प्रत्यय, संधि, समास आदि के व्यावहारिक प्रश्न पर आधारित अनेक पाठ पढ़ाए जा सकते हैं।

व्यावहारिक व्याकरण शिक्षा-पद्धति का स्वरूप

एफ० एल० विलोज ने अपनी पुस्तक The techniques of language teaching में व्याकरण की पद्धति के बारे में कहा है—

"The method of teaching grammar should be inductive untill-the generalization has been established and should be deductive after words in the application stage. Whatever method or device we follow, grammar must remain a means to an end." (साक्र बाला : 157)

व्यवहारिक व्याकरण की शिक्षा-पद्धति; प्रयोग-पद्धति तथा सहयोग-पद्धति के समान है। वस्तुतः व्यवहारिक व्याकरण शिक्षा का पर्याप्त अवसर गद्य शिक्षा और रचनाशिक्षण के समय रहता है। अतः ऐसे अवसर पर सहयोग प्रणाली सहायक सिद्ध होती है।

पृथक् से व्यावहारिक व्याकरण के मुद्दों को पढ़ाने के लिए प्रयोग प्रणाली की भी ज़रूरत पड़ती है। अतः दोनों का यथोचित समन्वय आवश्यक है।

उच्चारण संबंधी भूलों का संशोधन मौखिक रूप से बातचीत में अथवा गद्य-शिक्षा के समय किया जा सकता है। अक्षर-विन्यास अथवा लिपि सुधार श्रुत लेखन द्वारा अथवा अनुलेखन कार्य द्वारा कर सकते हैं। गद्य-शिक्षा के समय शब्द-रचना, उपसर्ग प्रत्यय, संधि, समास आदि का अच्छी तरह अभ्यास कराया जा सकता है। विशेषण, सर्वनाम, क्रिया विशेषण आदि का अभ्यास भी गद्य-शिक्षा के समय या लेखन-कार्य या मौखिक-कार्य द्वारा कराया जा सकता है।

लेखन-कार्य कराते समय अशुद्ध तथा शुद्ध शब्दों का अभ्यास करवा सकते हैं। नय शब्दों, मुहावरों और कहावतों का प्रयोग लेखन-कार्य के समय कराया जा सकता है।

छात्रों की वाक्य रचना तथा हिज्जों संबंधी भूलों का अभ्यास पृथक से कराना चाहिए। उस वक्त सरल वाक्यों को जोड़कर संयुक्त वाक्य बनाना, उपवाक्य द्वारा मिश्र वाक्य बनाना, वाक्यों में शब्दों का क्रम निर्धारित कराना आदि अभ्यास दिए जा सकते हैं।

व्यावहारिक व्याकरण की दृष्टि से विद्यार्थियों को अपठित गद्यांश और अनुच्छेदों का सार-लेखन लिखने के लिए देना चाहिए। इस प्रवृत्ति से भाषा पर काबू आ जायेगा। छात्र अपनी वाक्य रचना की तुलना लेखकों की वाक्य रचना के साथ अगर करेगा, तो भी अपनी भूलों का उसे खयाल आ जायेगा और वह भी सुगठित वाक्य लिखने का प्रयास कर सकेगा। इस प्रकार से मौखिक कार्य, लेखन-कार्य तथा गद्य शिक्षण के समय व्यावहारिक व्याकरण शिक्षा दे सकते हैं। जरूरत पड़ने पर स्वतंत्र रूप से भी व्याकरण के विविध मुद्दों की शिक्षा देने का आयोजन करना चाहिए। इससे व्याकरण के नियमों और प्रयोगों का ज्ञान भी ताजा रहेगा। इस विधि में प्रायोगिक शिक्षा का भार शिक्षक पर आ जाता है। शिक्षक चाहे तो इस प्रकार की पद्धति को अपना सकता है।

प्रभावी व्याकरण—शिक्षण पद्धति और साधन

कोई भी विषय हो अगर उसे खेल के रूप में पढ़ाया जाय तो छात्रों की तत् विषय में ज़रूर अभिरुचि बढ़ सकती है। इस बात को पुष्ट करते हुए मि० म्युरल स्कोन बर्न कालनि कहते हैं—

"Any thing made in to a game is attractive. It can add excitement to a class and serves as a motivators as well. Basic to all successful teaching is the desire to make learning a pleasurable experiences. This may prove to be a bit difficult for teachers of many subjects." *(Murel : 157)*

वे इसके लिए प्रवृत्तियों का आयोजन तथा जरूरी साधन अनिवार्य मानते हैं। इस दिशा में मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं—

"To making the learning fun, we should first of all outline activities such as playing 'Simon says' and other word games, and holding vocabulary bees, making tape recording, decorating class room with signs, posters and trinkets." *(Murel : 176)*

उपर्युक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए व्याकरण शिक्षण रसप्रद बनाने के लिए अपने अनुभव से तथा प्रयोगों के द्वारा कुछ नयी पद्धतियां सामने आई हैं, इनका विस्तारपूर्वक विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

(1) परस्पर प्रश्नोत्तर पद्धति

(अ) पर्ची या चिट्ठी द्वारा शिक्षण

साधन :—वर्ग संख्या के आधार पर 1" × 3" की पर्चियां या चिट्ठियां

पद्धति—शिक्षक जब वर्ग में अध्यापन कार्य के लिए जाएगा तब विषय प्रवेश और हेतु कथन के बाद विषयांग दर्शायेगा। मान लीजिए वह मुहावरों और उनके अर्थ तथा मुहावरों का वाक्य-प्रयोग इस पद्धति से सिखाना चाहता है अतः वर्ग को दो समूहों में बाँट देगा। बाद में एक समूह के विद्यार्थियों में मुहावरे लिखी गयी पर्चियां बाँटेगा तथा दूसरे समूह के विद्यार्थियों में मुहावरों के अर्थ लिखी गयी पर्चियां बांटेगा। इसके बाद वह पहले समूह के एक विद्यार्थी से अपने पास आयी हुई पर्ची में लिखे हुए मुहावरे को पढ़ने के लिए कहेगा। विद्यार्थी खड़ा होकर पर्ची में लिखा हुआ मुहावरा पढ़ेगा। शिक्षक उस मुहावरे को श्यामपट्ट पर लिखेगा। बाद में दूसरे समूह के विद्यार्थियों से श्यामपट्ट पर लिखे गये मुहावरे का अर्थ बताने के लिए कहेगा। अगर उस मुहावरे का अर्थ प्राप्त हो जाता है तो शिक्षक उसे श्यामपट्ट पर लिख कर उसका वाक्य में प्रयोग करेगा तथा विद्यार्थियों से भी वाक्य प्रयोग करवाएगा। अगर दूसरे समूह से मुहावरे का अर्थ प्राप्त नहीं होता है तो शिक्षक वाक्य प्रयोग के द्वारा विद्यार्थी से अर्थ प्राप्त करेगा। विद्यार्थी अपनी कापी बुक में मुहावरा और उसका अर्थ तथा वाक्य प्रयोग लिख लेगा। इस प्रकार अन्य मुहावरों की चर्चा करेगा।

इकाई—इस पद्धति से मुहावरा, कहावत, समास, शब्द समूह, एक शब्द, विरोधार्थी शब्द, अनेकार्थी शब्द, समानार्थी शब्द आदि इकाइयां बनायी जा सकती हैं।

आ—आमने-सामने प्रश्नोत्तर

साधन—निश्चित की गई इकाई पर आधारित प्रश्न।

पद्धति—एक विद्यार्थी अपनी कापी बुक में लिखे हुए इकाई आधारित प्रश्नों से एक प्रश्न वर्ग के किसी भी विद्यार्थी से पूछेगा और सही उत्तर पाने की कोशिश करेगा। गलत उत्तर देने वाले विद्यार्थी को अपना स्थान गंवाना पड़ता है। और प्रश्न पूछने वाला विद्यार्थी सही उत्तर देकर उस विद्यार्थी के स्थान प्राप्त करता है। इस पद्धति में विद्यार्थी अपना स्थान गंवाना न पड़े, इसके लिए बहुत सजग रहते हैं।

इकाई—व्याकरण विषयक कोई भी इकाई सिखा सकते हैं।

(2) ताश के खेल द्वारा शिक्षण

साधन—ताश के पत्ते, पत्ते चिपकाने के लिए फ्लैनल बोर्ड।

पद्धति—शिक्षक ताश के पत्ते पर इकाई आधारित शब्द चिपकाकर एक जोड़ तैयार कर लेगा। जब अध्यापन कार्य शुरू करेगा तब वर्ग के विद्यार्थियों के सामने पत्ते रखकर हरेक से एक-एक पत्ता खिंचवायेगा। खींचे गये पत्तों के आधार पर वाक्य रचना करवायेगा। अध्यापक ताश के पत्ते को फ्लैनल बोर्ड पर खाली जगह वाले वाक्यों की प्लेटें रखकर खाली जगह में छात्रों को दिये हुए ताश से योग्य शब्द पाकर खाली जगह भरेगा।

जैसे—

1. ——को सब याद करते हैं। (राम, घोड़ा सोहन आदि शब्द)
2. ——पूछा। (को, से, के लिए, में आदि कारक प्रत्यय दर्शाने वाले शब्द)
3. मुझे——पुकारा? (किसान, किसने, किसको, कौन आदि शब्द)
4. गाय——दो सींग होते हैं। (के, को, ने आदि शब्द)

इकाई—भाषा के विशिष्ट प्रयोग, हिंदी वाक्य रचना।

(3) चुनाव पद्धति के द्वारा शिक्षण

साधन—परिचय पत्र, वर्ग की संख्या के मुताबिक शब्दों के रूप में मत पत्रक, जरूरी संख्या में मत संदूक आदि।

पद्धति—शिक्षक वर्ग के पांच या छः विद्यार्थियों को स्पर्धक या उम्मीदवार के रूप में चुनकर पहले से तैयार किया हुआ परिचय-पत्र प्रत्येक स्पर्धक को स्वाध्याय में देगा। दूसरे दिन शिक्षक अध्यापन कार्य शुरू करते समय स्पर्धकों को वर्ग के सामने खड़ा कर देगा। प्रत्येक स्पर्धक अपना-अपना परिचय परिचय-पत्रक के आधार पर देगा। जैसे—संज्ञा के स्थान पर खड़ा हुआ उम्मीदवार अपने परिचय में संज्ञा की परिभाषा, संज्ञा का वाक्य प्रयोग, संज्ञा के प्रकार तथा संज्ञा के कुछ उदाहरण पेश करके जब चुनाव का समय आ जाय, तब पाये हुए शब्दों से संज्ञा ढूंढ़ कर संज्ञा के मत संदूक में डालने की विनती करेगा। इस प्रकार अन्य स्पर्धक अपना-अपना परिचय देंगे। परिचय विधि समाप्त हो जाने के बाद शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी को पद आधारित शब्द लिखे हुए मत पत्र बांटेगा। विद्यार्थी पाये हुए शब्द पढ़ेंगे, बाद में सोच-समझकर पद दर्शक मत संदूकों में अपने मत पत्र डालेंगे। शिक्षक उसके बाद एक एक मत संदूक से मत पत्र निकालकर गिनती करेगा। संज्ञा के मत संदूक में विशेषण दर्शक शब्द निकलेगा तो उसे एक ओर रखेगा। उसी प्रकार अन्य पदों के मत संदूक से पाये गये गलत शब्दों को भी एक ओर रखता जाएगा। अंत में किस मत संदूक से ज्यादा सही शब्द निकले हैं और किससे कम निकले यह वर्ग के सामने श्यामपट्ट पर शिक्षक दर्शाएगा। इससे यह साबित हो जायेगा कि वर्ग में किन पदों की जानकारी अधिक है और किन पदों की कम। मत संदूक से पाए गए गलत शब्दों की शिक्षक चर्चा करके उनका पद निश्चित करेगा।

इकाई—पद परिचय, संज्ञा के प्रकार, सर्वनाम के प्रकार, विशेषण के प्रकार, अव्यय के प्रकार, समास के प्रकार, कृदन्त के प्रकार आदि इकाइयां शिक्षक इस पद्धति से पढ़ा सकता है।

(4) अभिक्रमित अध्ययन पद्धति

साधन—इकाई आधारित प्रोग्राम, सर्वनामों की कारक रचना दर्शाने वाला प्लेट बोर्ड, मूल्यांकन पत्रक।

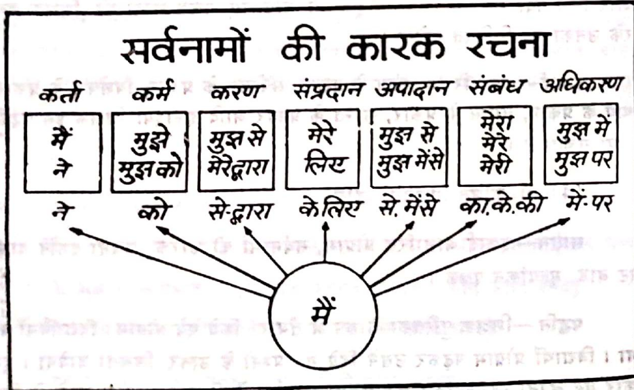
पद्धति—शिक्षक पुस्तिका के रूप में तैयार किये गये प्रोग्राम विद्यार्थियों को देगा। विद्यार्थी प्रोग्राम पढ़कर उसमें दिये गए प्रश्नों के उत्तर लिखता जायेगा। इस प्रकार यह अपना स्वमूल्यांकन कर सकेगा। सर्वनामों की कारक रचना पढ़ाने के लिए इस पद्धति का प्रयोग कुछ अलग ढंग से किया जाता है। इसमें सबसे पहले विद्यार्थियों

के सामने विषय प्रवेश में संज्ञा को कारक रचना के कुछ उदाहरण रखकर उनको नीचे दर्शाये गये नमूने के रूप में एक मूल्यांकन पत्र दिया जाता है।

कारक प्रत्यय →	—ने	—को	से, द्वारा	के लिए	से, में, से	का, के, की	में-पर	
सर्वनाम ↓	कर्ता	कर्म	करण	संप्रदान	अपादान	संबंध	अधि-करण	गुण
मैं								7
तू								

विद्यार्थी दिये हुए सर्वनाम के सामने के सात खानों में ऊपर के भाग में सर्वनाम की कारक रचना लिखेगा।

बाद में शिक्षक नीचे दर्शाये गये प्लेट बोर्ड की मदद से विद्यार्थियों के द्वारा लिखी गयी सर्वनामों की कारक रचना में अगर भूल होगी तो मूल्यांकन पत्र में नीचे



के भाग में विद्यार्थी सुधारेगा। अगर कारक रचना सही होगी तो √ चिह्न लगाएगा। बाद में सही सर्वनाम की कारक रचना के एक अंक के हिसाब से 7 में से उसने जितने अंक पाये होंगे उतने अंक लिखेगा।

(5) कविता शिक्षण पद्धति

साधन—अनुस्वार तथा कारक प्रत्यय पर आधारित कविताओं की प्रतियां, हार्मोनियम, फ्लैनल बोर्ड, कारक प्रत्ययों के रूप पर आधारित चित्र आदि।

पद्धति—शिक्षक वर्ग के सामने हार्मोनियम की मदद से अपनी इकाई में निहित कविता खुद गाएगा और छात्रों से भी गवाएगा। काव्यगान के समय कारक प्रत्ययों के रूप पर आधारित चित्र फ्लैनल बोर्ड पर रखता जाएगा। बाद में कविता में दर्शाये गये कारक प्रत्यय पर आधारित प्रश्न पूछता जायेगा तथा जरूरी श्यामपट्ट कार्य भी करता जाएगा।

इकाई—कारक प्रत्यय, अनुस्वार

(6) नृत्य नाटिका के द्वारा अभिनय पद्धति

साधन—विराम चिह्नों का वाद विवाद (नृत्य नाटिका) पात्र आधारित वेशभूषा, रंगभूमि, ध्वनि और प्रकाश के साधन, संगीत के साधन।

पद्धति—शिक्षक प्रारंभ में प्रस्तुत नृत्य नाटिका की पूर्व भूमिका में नाटिका पर आधारित पात्र चयन करके उन्हें अभिनय की तालीम देगा। गायक वृंद तथा वादक वृंद पार्श्वभूमि में बैठ कर संगीत के सहारे नृत्य नाटिका पेश करेंगे। पात्र सिर्फ अभिनय ही करेंगे। वेशभूषा में हरेक पात्र अपने मुंह पर विराम चिह्न के रूप वाले मुखोटे पहनेंगे। नृत्य नाटिका समाप्त होते ही शिक्षक विषय चर्चा करेगा।

इकाई—विराम चिह्न, अलंकार

(7) ध्वनि तथा प्रकाश नियोजित शिक्षण पद्धति

साधन—कृदन्त, अलंकार या विराम चिह्न आधारित स्लाइड, स्लाइड प्रोजेक्टर, टेप रिकार्डर, डार्क रूम

पद्धति—शिक्षक स्लाइड प्रोजेक्टर के द्वारा परदे पर लाल, काले और हरे रंग वाली स्लाइड पेश करेगा साथ-साथ टेप रिकार्ड के द्वारा ध्वनि और ध्वनि आधारित उदाहरण पेश करेगा।

जैसे—कृदन्त के प्रकार सिखाना हो तो विषय प्रवेश में शिक्षक निदर्शन द्वारा कुछ क्रिया दर्शक शब्द छात्रों से निकलवाएगा। बाद में उन क्रियाओं से

बने हुए शब्दों के जरिये कृदन्त की परिभाषा स्पष्ट करेगा। बाद में कृदन्त के प्रकार सिखाने के लिए टेप रिकार्डर चालू करके सबसे पहले कुछ उदाहरण पेश करेगा।

समुद्र में गीत गाते हुए दूर-दूर जाने वाले मछुओं की आवाज़। बाद में उदाहरण बोलने की आवाज़—गाते हुए मछुए समुद्र में दूर-दूर जा रहे हैं।

गाता हुआ, गाते हुए, गाती हुई।

स्लाइड से परदे पर गाता हुआ, गाते हुए, गाती हुई शब्द दिखाए जाएंगे।

उदाहरण पूरे हो जाने के बाद ध्वनि और प्रकाश, दोनों के जरिये परिभाषा पेश की जाएगी। शिक्षक बाद में स्लाइड प्रोजेक्टर तथा टेप रिकार्डर बंद करके रोल-अप-बोर्ड पर दिये हुए उदाहरणों से वर्तमान कालिक कृदन्त ढूंढ़वाएगा तथा उसका वाक्य प्रयोग करवाएगा। बाद में फिर से स्लाइड प्रोजेक्टर और टेप रिकार्डर चालू करके कृदन्त के दूसरे प्रकार की समझ देगा।

इकाई—कृदन्त, अलंकार, विराम चिह्न आदि।

(8) अंत्याक्षरी पद्धति

साधन—मुहावरों, कहावतों यह अन्य प्रकार के शब्दों का संग्रह।

पद्धति—वर्ग को दो समूहों में बांट कर शिक्षक एक समूह के विद्यार्थी को कोई भी एक शब्द बोलने की सूचना देगा। दूसरे समूह वाले बोले हुए शब्द का अंतिम अक्षर पकड़ कर इस अक्षर से शुरू होने वाला दूसरा शब्द देगा। इस प्रकार से शब्दों का यह अंत्याक्षरी खेल खेला जाएगा।

इकाई—शब्द निर्माण, मुहावरा, कहावत, समानार्थी, अनेकार्थी शब्द।

(9) सम्मेलन पद्धति

साधन—जरूरी संख्या में मेज, कुर्सियां, घंटी, संदर्भ साहित्य आदि।

पद्धति—शिक्षक वर्ग के पांच या सात छात्रों का चयन करेगा। उनको स्वाध्याय में घर से तैयार करने के लिए संदर्भ साहित्य देगा। दूसरे दिन एक विद्यार्थी को सभापति बनाकर सभा का कार्य शुरू किया जाएगा। प्रत्येक वक्ता अपने मुद्दे के आधार पर वक्तव्य देकर सभा में बैठे हुए विद्यार्थियों के द्वारा पूछ गये प्रश्नों के उत्तर देगा। शिक्षक आवश्यक मार्गदर्शन देता जाएगा।

इकाई—पद परिचय, समास, कृदन्त, वाक्य के प्रकार, लिंग आदि।

(10) समूह पद्धति

साधन—संदर्भ साहित्य।

पद्धति—शिक्षक वर्ग में विषयांग के मुद्दों पर आधारित समूह बनाकर प्रत्येक समूह से अपने पाये हुए मुद्दे पर चर्चा करवाएगा। समूह का नेता अपनी चर्चा का सार लिखेगा। बाद में शिक्षक समूहों के नेताओं से सार पढ़वाएगा। समूहों के नेता छात्रों से पाये हुए प्रश्नों के उत्तर देंगे। शिक्षक आवश्यक मार्गदर्शन देगा।

इकाई—शब्द निर्माण

(11) विशिष्ट साधनों की मदद से चर्चा पद्धति

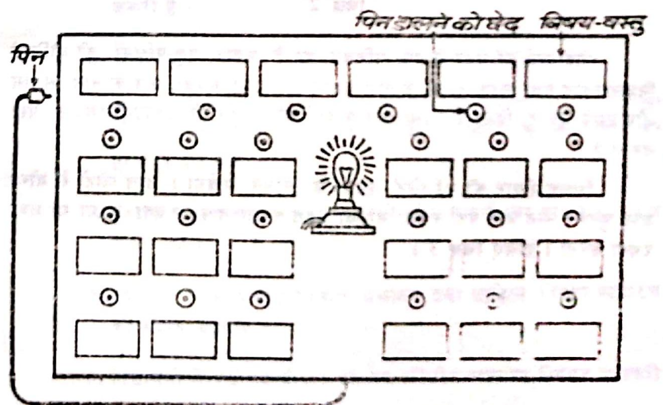
साधन—चित्र, फ्लेश कार्ड, नमूने, ब्रेईनो, स्क्रोल बॉक्स आदि।

पद्धति—शिक्षक चित्र, फ्लेश कार्ड और नमूनों की मदद लेकर मातृ भाषा की मदद से हिंदी पर्यायों का शिक्षण देगा।

जैसे—दवात दिखाकर उसे अपनी मातृभाषा में क्या कहा जाता है यह पूछेगा। शिक्षक गुजराती शब्द का हिंदी पर्याय बताएगा। उन शब्दों की मदद से शिक्षक 'यह' और 'वह' का गठन सिखा सकता है।

ब्रेईनो का साधन एक विषिष्ट साधन है। उसमें प्रश्न और उत्तर एक साथ दिये जाते हैं। जब तक प्रश्न के साथ सही उत्तर वाले प्लग में पिन रखी नहीं जाएगी, तब तक लाईट नहीं जलेगी। सही उत्तर दर्शाने वाले प्लग में पिन डालते ही लाईट हो जाती है। देखिए **चित्र 1**

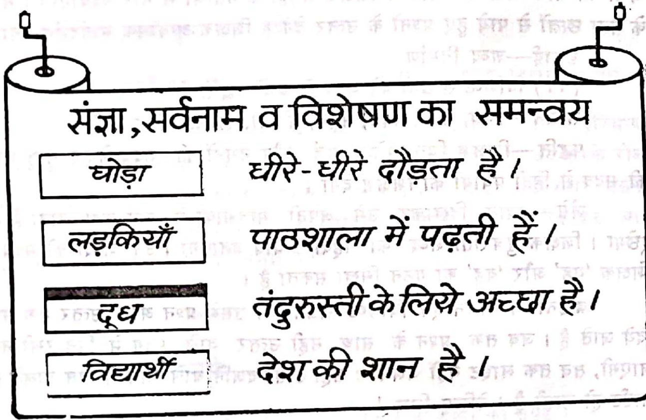
ब्रेईनो साधन



चित्र 1

स्क्रोल बॉक्स की मदद से खाली जगह वाले वाक्यों में शब्द रखे जाएंगे। सही शब्द आने पर विद्यार्थी स्क्रोल बॉक्स की चाबी घुमाना बंद कर देगा। संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण का समन्वय इस साधन से पढ़ाया जा सकता है। देखिए **चित्र 2**।

स्क्रोल बॉक्स

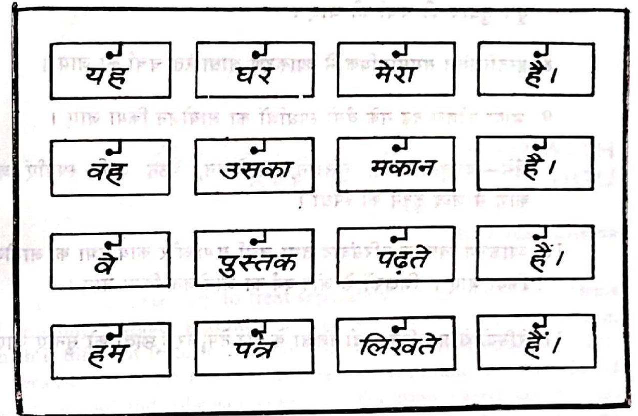


चित्र 2

प्लेट बोर्ड की मदद से पद परिचय, पद के प्रकार, पशु-पक्षियों की बोलियां निवास स्थान तथा उनके बच्चों के नाम दर्शाने वाले शब्द, सज्जा, फल के नाम, समास और उसके प्रकार, क्रिया के प्रयोग और वाक्य आदि बहुत-सी इकाइयां शिक्षक पढ़ा सकता है।

शिक्षक तैयार की गई प्लेटें छात्रों के सामने रखेगा। छात्र प्लेटों से योग्य शब्द चुनकर प्लेट बोर्ड पर रखता जाएगा। इस प्रकार वाक्य रचना करेगा या शब्द रचना करेगा। देखिए **चित्र 3**।

प्लेट बोर्ड



चित्र 3

कुछ सुझाव

1. शिक्षक और छात्र में व्याकरण शिक्षा के लिए आत्मविश्वास जगाना जरूरी है।
2. शिक्षक का व्याकरण विषयक ज्ञान सघन होना चाहिए।
3. व्याकरण विषय का महत्व परीक्षा की दृष्टि से बढ़ाना चाहिए। परीक्षा की मूल्यांकन कसौटी में भाषा कौशल और व्याकरण के तत्वों को लेकर ही प्रश्न पूछे जाएं।
4. शिक्षक शिक्षण कार्य में नयी पद्धतियों और साधनों का बार-बार प्रयोग करता रहे।
5. व्याकरण विषयक परियोजनाएं, संशोधन तथा साहित्य निर्माण व्याकरण का महत्व बढ़ाएंगे।
6. विद्यालयों में रखे गये दीवार पत्र पर प्रतिरोज व्याकरण विषयक जानकरी पेश की जाएं।

7. भाषा की कक्षा के प्रारंभ में पांच या दस मिनट तक व्याकरण विषयक भूल सुधार की चर्चा की जाए।

8. हस्तलिखित समसामयिक में व्याकरण आधारित चर्चा की जाय।

9. भाषा कौशल बढ़ सके वैसी स्पर्धाओं का आयोजन किया जाए।

जैसे—वक्तृत्व स्पर्धा, सुलेखन, श्रुतलेखन, पठन आदि स्पर्धाएं, शब्द कोश से शब्द ढूंढ़ने की स्पर्धा।

10. व्याकरण विषयक परिसंवाद तथा चर्चा सभाएं और कार्य सभा का आयोजन किया जाए। शिक्षकों के ओप वर्ग का आयोजन किया जाए।

11. रेडियो से प्रसारित हिंदी शिक्षा के पाठ टेप करके छात्रों को सुनाए जाएं।

TEACHING OF GRAMMAR WITH REFERENCE TO TELUGU

—B. Radha Krishna

It may be necessary to treat separately the nature and problems of teaching Telugu grammar at various levels of formal education which is different from traditional and other forms of education. This is because there existed a grammatical tradition side by side of modern school and collegiate courses. Traditional methods of grammar teaching are rapidly giving way to modern formal methods even in oriental colleges and their impact on society is practically limited, if not non-existing. The levels of teaching may be identified or classed mainly into three ; the primary, the school and the college levels. If the number of teaching hours is any indication, grammar teaching is an eye-wash at the primary level of education since nothing beyond identification of what are traditionally called 'the parts of speech' as part of 'applied grammar' without any time allotted specifically for the purpose. What is more funny is that no distinction is made between the syllabi for the first language and second language teaching. The syllabi and texts for teaching Telugu as mother tongue for class V, for instance, are used for class III while Telugu is taught as an other tongue. It can safely be assumed that teaching grammar in any frame practically starts from the secondary education—from class IX, to be specific.

Out of the 6 periods each of 45 minutes duration per week allotted for Telugu teaching, teaching prose and poetry, the non-detailed texts and general composition, only one period could be devoted for teaching not only what is called 'applied grammar' but prosody and rhetoric as well, of whatever depth. It means that at the rate of quarter of an hour a week, grammatical instruction is possible in schools. And the grammatical syllabus that has to be covered includes mainly the sandhi system *in Sanskrit*, viz., the *guNa*

Vṛiddhi, SavarNadiirgha, YaNaadeeSa sandhis and *avayiibhaava samasas* besides a few other morphophonemic rules pertaining to the native system. Lion's share is consumed by the explanation of samaasas or compounding of words. What remains afterwards accounts for learning by rote which Telugu word was presumably borrowed from which Sanskrit word. Hardly sentence formation, word order and such other things find a place in the curriculum. Obviously, the syllabus framed more than a century ago, retains all the features of traditional thinking which respects learning one's own mother tongue viewed from the stand point of Sanskrit, since it was believed that atleast all the Indian languages were off-shoots of the Devine Language. Every effort is made to fit in the Telugu system into the Sanskrit frame, irrespective of the grammatical heirarchy. Another feature of this teaching is describing—if that were the right word—the Telugu language variety obtaining in older classics which has many things that do not go with modern Telugu or contemporary literature. Again, it is called 'applied grammar teaching'.

Teaching of Telugu grammar 'directly' found some place at the college or specifically, at the first degree level. From about 1958 when three year degree courses were introduced, B. A. and B. Sc., (not B. Com.) students had to take examination in Telugu grammar in papper I for 25 marks out of 100. The number of hours devoted to teaching grammar per week is anywhere between one to one-half as in the case of one year pre-University course then obtaining. In the pre-University course, the first two chapters of Chinnaya Suri'sd *baalavyaakaraNamu* (*Sanjñaa* and *sandhi*) were taught and at the degree level two more chapters of the same work (*aacchika* and *tatsama*) forme part of instruction 'part of instruction' because all that was traditionally taught from class I to this level was imparted as 'applied grammar'. All this concerns teaching Telugu as mother tongue (or Part I language) in a general course. For some time in the course of academic excercises, students who opted for 'special Telugu' (as part III : one of the three group subjects) at the PUC/Intermediate were to study one more chapter on *samaasa* and at the degree level another chapter *Kriyaa paricchede*. But this earmarking of atleast one hour a week at PUC/Interlevel and two hours a week at the degree level for the ostensible purpose of grammar teaching was too short-lived in the case of general courses, eventhough the system exists in oriental schools and colleges with varying intensities.

Teaching Telugu grammars at the University level or specifically in Honours and M. A. language courses suffered different fates in different Universities at different times. Andhra University offered—the past tense is deliberately used here—at the rate of 6 hours a week for three years (in the case of Honours course) the teaching of Telugu grammars. The two main works taught were Chinnaya Suri's *baalavyaakaraNamu* and Sitaramacharya's *PrauDhavyaakaraNamu* without fail, besides relevant portions from *Appakaviiyamu* and other works. This knowledge was fortified and also somewhat disturbed by the cross-currents of elementary Sanskrit and Prakrit grammars taught at one end and comparative Dravidian grammar at the other (taught for atleast as many hours a week *in toto* for two out of the three years). The situation has now changed radically and each of the three big Universities in the State offering the M. A. courses has been excercising its right of autonomy in a manner which is not static for atleast a decade with various degrees of variation that makes it impossible to draw a clear picture in general terms. What is striking in all this is the lack of modernity in teaching methods as also in the description of the language variety. One thing that helps generalization is that grammatical teaching has been fossilized and conformistic and the grammar taught is that of old Telugu, or to make it more soothing, of classical Telugu. Only recently, in two Universities (i.e., Sri Venkateswara and Nagarjuna Universities) efforts are made to teach a grammatical description of modern Telugu, though not entirely through a linguistic approach.

In other words, teaching grammar at whatever level is following a method wherein the older school of thought is the underlying factor. This statement perhaps applies to any language taught in this country, irrespective of the educational system being formal or non-formal. The situation therefore warrants an assessment of the text books used in grammar teaching. Excepting in the case of Tamil, grammatical works in any Indian language are modelled after Sanskritic tradition. In many cases, grammars of Indian languages were written in Sanskrit, prose or verse. The influence of Sanskritic tradition is in most cases direct and in a few cases indirect. The borrowing manifests itself at the theoretical level, in methodology, in the metalanguage employed and so on. The impact of Pāṇinian grammar is lesser than that of Bhattoji and Nagesabhatta of Paribhaashendu

Sekharam. This is in spite of *Vaakyapadiiyam, Manjuusha* and similar works. The word, its derivation from Sanskrit and/or Prakrits and its "purity" is the main theme of most grammars while syntax is the most neglected part of grammar writing and teaching. The traditional scholar often quotes the saying "*sarvee bhagnaah kaarakee*" to frighten the students as well as himself. A grammar in any regional language presupposes on the part of the teacher and student a more formidable knowledge of Sanskrit than of his mother tongue. Indeed one Telugu grammar explains in Sanskrit that which was not stated in it should be learnt from Pāṇini—"*tad anuktasya kaaryasya vaktaa bhavati paaNinih*". One grammar in Telugu verse *Aandhra kavmudi* by name written by gaNapavarapu veenkatakavi imported the *daśa-lakaaraas, scutva sandhi, jastva sandhi* and like *verbatim*. Passive constructions (*KarmaNi prayooga*), inflective usages such as *'aayokka pustakam,'* relative constructions (*yattadarthaka prayooga*) and certain others which are idiomatic in Sanskrit and not so in Telugu are freely imported and inflicted upon Telugu. Eventhough every Telugu grammarian starts with a salutation of Prakrit grammars also, Hemachandra and CanDa and their works have never been taught with any seriousness even in oriental colleges, resulting in the fact that a Prakrit scholar is a rare commodity south of Vindhyas. What appealed most to our grammarians is the dangerous and uncertain game of etymological exercises and derivation of every native word from every other conceivable Sanskrit or Prakrit original, often reminding a serious scholar of the mocking statement of Virgil that "etymology is a science in which vowels count for nothing and consonants very little". This is in spite of the elucidation of the tradition in the words of Manjuusha that the analysis of words into roots and affixes is purely hypothetical "*prakrti pratyaya vibhaagau kevalam kaalpanikau*". The mystic powers of roots did not ever elude a grammarian in orient or occident, no matter how the theoretician lamented about it. What strikes most is the absolute silence of grammarians concerning borrowing from sources other than Sanskrit and of course Prakrit to a lesser degree. A Telugu grammarian Appakavi of the 17th century stated that borrowing is inevitable and that it could not be ruled out as it would result in *vyavahaarahaani*. But he did nothing beyond making the statement to derive the loans from non-Sanskritic sources for want of intimate knowledge of those languages. Emphasis has always been laid upon teaching the poetic diction. Prose has been looked down and modern poetry much less

respected. The functional need of a non-native learning the other tongue has never attracted the attention of the grammarian except in very recent times and that too only when language teaching is done by linguists. Fifteen years of schooling all through out with some grammatical knowledge inflicted upon him/her periodically, still keeps the student in dark about the sentence structure and patterns obtaining in his own mother tongue. Added to this is the literary orientation which closes its eye on anything that is modern, scientific or functional. Since the same drug/is administered to students learning a language as other tongue, his/her capacity to embark upon a conversation, to read and comprehend a newspaper or journal, to follow a radio or public speech and to attempt to speak like a native speaker is like chasing a mirage. If syntax is the worst sinner in our grammatical instruction, phonetics is *persona non grata*.

This grammatical teaching is only part of one's formal education in which English, Hindi (as a formality) and several other subjects form a considerable portion. If our experiment for over a decade in the preparation of text books in many subjects in Telugu is any indication, the performance of those who are taught the language for fifteen long years is a colossal waste. Most writers did not know that a copula simply does not exist in idiomatic Telugu as in English or Hindi. Sentences like "*aavu (ku) naalugu kaaLLu kaligivundi* harassed us since we have had to rewrite them. Most of them do not reconcile to the fact that unlike in English, Telugu does not need a separate conjunctive word in idiomatic expression since the grammatical requirement is fulfilled by a clitic. Sentences like *vijnaanamu mariyu vinoodamu*" bored us to headache. Examples can be multiplied but one fact remains to be stated bluntly. Twelve years of English teaching made more impact on students than fifteen years of Telugu teaching. One can apportion the blame on English teachers also for the reason that no Language teacher ever bothered about the interferance of the native system and cared to make a contrastive study to enlighten the Language student, though not himself. Children at a very impressionistic age should have been taught the convergences and divergences between the source and target languages. Second language teaching should have been functionally oriented.

It is high time that grammar teachers should first be trained to learn modern methods of language teaching before any change in

teaching methods is proposed. Simultaneously, new grammar texts should be prepared and tried first in teacher-training courses and then in general class rooms. These texts have to necessarily take into consideration the intuitive competence of a native speaker in the case of those learning the language as mother tongue and interferance in code-switching in the case of those who learn the language as other tongue. Contrastive grammars have to be prepared and experimented with before publication. The modern grammar texts envisaged—or to be on safe side, proposed—will deal with sentence as a unit and trace back to phonetic realiazation. The main grammatical features of the language, rather than derivation and etymology, will have prime importance. Borrowings and historical statements have to be taught not in the general course but in specialized courses. The active features of the living tongue should form basis of grammar instruction and study of classical or poetic language should form part of an advanced study and not a general course. In the case of second language teaching, extensive use of language laboratory is essential.

It is suspected that all Indian languages are suffering the same type of grammatical training, producing the same pitiable results. It is for institutions like the Central Institute of Hindi to initiate action as proposed in the previous paragraph for the benefit of all Indian languages from which Hindi has a constitutional obligation to borrow and enrich itself for if the source language are weak, the target language becomes weaker.

हिंदी व्याकरण : कुछ पहलू

श्रीमती बी० लक्ष्मीबाई
किशोरीलाल शर्मा
चतुर्भुज सहाय
एच० परमेश्वरन
पीटर हुक
सुधाकर पांडेय

हिंदी व्याकरण में "कर्ता" और "उद्देश्य"

—श्रीमती बी० लक्ष्मीबाई

हिंदी के प्रचलित व्याकरणों में कामताप्रसाद गुरु का "हिंदी व्याकरण" और किशोरीदास वाजपेयी का "हिंदी शब्दानुसान" मुख्य हैं। इन दोनों ही व्याकरणों में जहां एक ओर "कर्ता" "कर्म" आदि कारक संबंधों को स्थान दिया गया है वहीं "उद्देश्य" जैसी संकल्पना (Concept) की भी स्थापना की गई है। पर इन दोनों ही व्याकरणों में न तो कर्ता और "उद्देश्य" की परिभाषा में एकरूपता है और न ही इन दोनों धारणाओं की स्थापना का कोई व्याकरणिक आधार दिया गया है।

आधुनिक भाषाविज्ञान में चार्ल्स फिलमोर ने परंपरा से चले आते हुए कारक संबंधों की व्याकरण में उपादेयता मानते हुए यह दिखाने की कोशिश की थी कि भाषा सबंधी कई विशेषताओं की सही व्याख्या कारक संबंधों के आधार पर ही की जा सकती है। फिलमोर ने अपने कारक व्याकरण में चॉम्स्की तथा अन्य रचनांतरण व्याकरण (Transformational Grammar) के प्रणेताओं से अलग Deep Structure subject और Deep Structure object को वाक्य के मूल तत्व न मानकर कारक संबंधों को मान्यता दी थी। उन्होंने subject और object आदि व्याकरणिक संकल्पनाओं को भाषा के बाह्य स्वरूप (surface structure) के लिए ही उपयुक्त माना था।

पाश्चात्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र में उभर रहे आधुनिक Relational Grammar की पद्धति में Subject, Direct object, Indirect object आदि को किसी भी भाषा के व्याकरण के लिए मूलभूत (Primitive) माना गया है। फिलमोर ने भी अपने case for case revisited नामक अधुनातन लेख में यह माना है कि जहां एक ओर व्याकरण संबंधी कई बातों की व्याख्या के लिए कारक संबधों को मानना जरूरी है वहीं subject और object जैसी संकल्पनाओं की भी वाक्य के आंतरिक स्वरूप के स्तर पर (Deep Structure Level) आवश्यकता है।

प्रस्तुत लेख में हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि हिंदी भाषा के वाक्य-गठन

की विशेषताओं को समझने में कर्ता (Agent) और उद्देश्य (subject) आदि संकल्पनाओं का क्या महत्व है।

गुरु (1965) ने अपने व्याकरण में कर्ता, कर्म, करण आदि आठ कारक माने हैं और 'ने', 'में', 'को', 'से' आदि इन कारकों की विभक्तियां मानी हैं (हिं० व्या० पृ० 150)। वाजपेयी ने भी कर्ता, कर्म आदि छः कारक माने हैं। कामताप्रसाद की तरह "संबंध" और "संबोधन" को उन्होंने कारक नहीं माना है (हिं० श० पृ० 147)।

इन दोनों ही व्याकरणों में जहां अन्य कारकों की परिभाषा में समानता है वहां "कर्ता" शब्द का प्रयोग अलग-अलग अर्थ में किया गया है। वाजपेयी ने कर्ता की परिभाषा इस प्रकार दी है "क्रिया के करने न करने में जो स्वतंत्र हो उसे कर्ता कहते हैं" (हिं० व्या० 150)। इससे अलग कामताप्रसाद ने कर्ता की परिभाषा यों दी है "क्रिया से जिस वस्तु के विषय में विधान किया जाता है उसे सूचित करने वाले संज्ञा के रूप को कर्ता कारक कहते हैं" (हिं० व्या० 150)। आगे गुरुजी कहते हैं कि कर्ता कारक के अंतर्गत केवल व्यापार के आश्रय ही का समावेश नहीं होता किंतु स्थिति-दर्शक और विकारदर्शक क्रियाओं के कर्त्ताओं का भी (जो यथार्थ में व्यापार के आश्रय नहीं हैं) समावेश हो सकता है। इसके सिवा सकर्मक क्रिया के कर्मवाच्य कर्म का जो मुख्य रूप होता है उस का भी समावेश इस लक्षण में हो जाता है" (हिं० व्या० 150)। पिछले वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरु ने कर्ता शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट कारक-संबंध के लिए ही नहीं किया है बल्कि इसका प्रयोग कारक संबंध से अलग अर्थ में भी किया गया है। यह बात इससे स्पष्ट है कि वे कर्मवाच्य के कर्म को "कर्ता" कहते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों के काले शब्दों को उन्होंने कर्ता कहा है।

(1) **लड़का** सोता है। (2) **नौकर** ने दरवाजा खोला।

(3) **चिट्ठी** भेजी जाएगी।

आगे चलकर वाच्य वाले प्रकरण में कर्मवाच्य की परिभाषा देते हुए गुरु कहते हैं "क्रिया के उस रूप को कर्मवाच्य कहते हैं जिससे जाना जाता है कि वाक्य का उद्देश्य क्रिया का कर्म है (हिं० व्या० पृ० 176) कर्मवाच्य के उदाहरण के तौर पर उन्होंने निम्नलिखित वाक्य दिए हैं—

(4) **कपड़ा** सिया जाता है। (5) **चिट्ठी** भेजी गई।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि जहां वाक्य (3) में चिट्ठी को "कर्ता" कहा गया है वहां वाक्य (5) में चिट्ठी को "कर्म" कहा गया है। वस्तुतः वाक्य (3) और (5) की वाक्य रचना एक सी है और यदि इनमें एक वाक्य में यह शब्द कर्म है तो दूसरे में भी कर्म ही होगा और यदि एक में कर्ता है तो दूसरे में भी उसको कर्ता ही मानना होगा

गुरु के व्याकरण में यह अस्पष्टता इसलिए उठ खड़ी हुई है कि वे अंग्रेजी के Agent और Subject दोनों के लिए एक ही शब्द "कर्ता" का प्रयोग कर रहे हैं। वाक्य 1, 2 और 3 में जब वे लड़का, नौकर, चिट्ठी को कर्ता कहते हैं तो उनका लक्ष्य वाक्य के Subject या उद्देश्य से है। पर उनके व्याकरण में कर्ता शब्द का प्रयोग Agent के लिए भी हुआ है। उदाहरण के लिए कर्मवाच्य वाक्यों की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि हिंदी में कर्मवाच्य क्रिया का प्रयोग तब हो सकता है जब क्रिया का कर्ता अज्ञात हो अथवा उसके व्यक्त करने की आवश्यकता न हो (हिं० व्या० पृ० 167)। उनके अनुसार निम्नलिखित वाक्यों में कर्ता अज्ञात है।

(6) चोर पकड़ा गया है। (7) आज हुकम सुनाया जाएगा।

स्पष्ट है कि कारक के अर्थ में इन वाक्यों में **चोर** और **हुकम** कर्ता नहीं हैं। इसलिए गुरु ने इन वाक्यों के "कर्ता" को अव्यक्त कहा है। पर उनकी पहली परिभाषा के अनुसार, जहां उन्होंने कर्ता को वह संज्ञा रूप बताया है, जिसके विषय में वाक्य में विधान किया जाता हो, **चोर** और **हुकम** कर्ता हैं।

वाजपेयी ने अपने व्याकरण में कर्ता की परिभाषा इस प्रकार की है "क्रिया के करने न करने में जो स्वतंत्र हो उसे कर्ता कहते हैं (हिं० श० पृ० 136)। उसके मतानुसार निम्नलिखित वाक्यों के काले शब्द कर्ता हैं।

(8) **राम** पानी पीता है। (9) नदी में **पानी** बहता है।

(10) पेड़ पर **आम्र** पकता है। (11) **लड़के** ने रोटी खाई।

(12) **बालक** को अच्छी पुस्तक पढ़नी चाहिए।

कर्ता की यह परिभाषा निश्चय ही संज्ञा के बाह्य रूप या संज्ञा और क्रिया के बीच पाई जाने वाली अन्विति पर आधारित नहीं है। क्योंकि **राम** और **लड़के ने** दोनों कर्ता हैं पर लड़के ने के संज्ञा का परिवर्तित रूप है जबकि **राम** के साथ ऐसी बात नहीं है। दूसरे राम और लड़के ने दोनों कर्ता हैं पर राम के साथ ही क्रिया की अन्विति है। लड़के ने के साथ नहीं। पर जब कर्ता को परिभाषा वाजपेयी ने "क्रिया

के करने न करने में स्वतंत्र होने के आधार पर की है तब वाक्य (9) में पानी शब्द को और वाक्य (10) में आम शब्द को कर्ता कहना उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि नदी और आम कोई कार्य नहीं करते ।

प्रस्तुत लेख में हम कर्ता का प्रयोग कार्य के संचालक (Agent) के अर्थ में ही करेंगे । इससे अलग अंग्रेजी के Subject के अर्थ में हम "उद्देश्य" शब्द का प्रयोग करेंगे ।

अब सवाल यह है कि "कर्ता" जैसी संकल्पना की व्याकरण में आवश्यकता क्या है ? यहां हम बताने की कोशिश करेंगे कि हिंदी की वाक्य रचना (Syntax) में कुछ नियमों की सीमितता (constraints) का वर्णन हम कर्ता जैसे कारक संबंध के आधार पर ही कर सकते हैं । उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर ध्यान दीजिए ।

(13) पत्ते गिर रहे हैं। (14) राम को भूख लगी है।

(15) शीतल घबरा रहा है । (16) शीला कमरा साफ कर रही है ।

(17) तुमको रोज खेलना चाहिए । (18) मैं अपने दोस्तों से मिला ।

(19) मुझे आपकी चिट्ठी मिली । (20) उसको तुम्हारी गाड़ी पसंद है ।

ऊपर के वाक्यों में केवल शीला (वाक्य 16) तुमको (वाक्य 17) और मैं (वाक्य 18) कर्ता कारक हैं । पत्ते (वाक्य 13) कर्म है और मुझे (वाक्य 19) संप्रदान है । शेष काले शब्द अर्थात् राम को, शीतल और उसको अनुभवकर्ता हैं । ऊपर के वाक्यों में सिर्फ 15, 16 और 17 के बाद ही प्रयोजनवाचक उपवाक्य (Purposive Clause) जुड़ सकते हैं। अन्य वाक्यों के साथ नहीं जैसा कि नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट है ।

(21) × पत्ते गिर रहे हैं ताकि धरती सुंदर लगे ।

(22) × राम को भूख लगी है ताकि वह खा सके ।

(23) × शीतल घबरा रहा है ताकि..................।

(24) शीला कमरा साफ कर रही है ताकि बच्चों को सुलाया जा सके ।

(25) तुमको रोज खेलना चाहिए ताकि तुम्हारा स्वास्थ्य सुधरे ।

(26) मैं अपने दोस्तों से मिला ताकि जल्दी कोई निर्णय लिया जा सके ।

(27) × मुझे आपकी चिट्ठी मिली ताकि........।

(28) × उसको तुम्हारी गाड़ी पसंद है ताकि........।

इस प्रकार कह सकते हैं कि उन्हीं वाक्यों के साथ प्रयोजनवाचक उपवाक्य आ सकते हैं जिनके मूल में कर्ता कारक हो ।

इसी प्रकार हिंदी में असमर्थतावाचक कर्मवाच्य वाक्य के रूप केवल उन्हीं वाक्यों के लिए संभव है जिनमें कर्ता हो । अगर वाक्य में कर्ता न हो तो इन वाक्यों के असमर्थतासूचक रूप नहीं बनेंगे । यह बात नीचे के वाक्यों से स्पष्ट हो जाएगी ।

(29) × पत्तो से गिरा नहीं जाता ।

(30) × राम से भूख नहीं लगा जाता ।

(31) × शीतल से घबराया नहीं जाता ।

(32) शीला से कमरे की सफाई नहीं की जाती ।

(33) मुझसे अपने दोस्तों से नहीं मिला जाएगा ।

(34) × मुझसे आपकी चिट्ठी से नहीं मिला जाता ।

इसी प्रकार कर्मवाच्य के वाक्य भी सिर्फ उन्हीं वाक्यों के बन सकते हैं जिनमें कर्ता हो । उदाहरण के लिए नीचे दिये गए वाक्यों में केवल 35 और 36 संभव हैं न कि 37 और 38 ।

(35) शाम का खाना बाहर खाया जाएगा ।

(36) चलो बाहर चला जाये ।

(37) × क्यों घबराया जा रहा है ।

(38) × क्यों गिरा जा रहा है ।

हिंदी की वाक्य रचना से संबंधित इन बातों का बोध भाषा अध्येता को "कर्ता" जैसी संकल्पना के ज्ञान द्वारा ही कराया जा सकता है । क्योंकि बाह्य दृष्टि से निम्नलिखित दोनों वाक्यों का स्वरूप एक ही है पर वाक्य 39 में ही लड़का कर्ता है वाक्य 40 में लड़का कर्ता नहीं अनुभवकर्ता हैं ।

(39) लड़का खेल रहा है ।

(40) लड़का घबरा रहा है ।

अब हम संक्षेप में "कर्ता" से अलग "उद्देश्य" जैसी संकल्पना की आवश्यकता पर विचार करेंगे । पहला सवाल यह है कि उद्देश्य क्या है । उद्देश्य की हम यहां कोई सरल परिभाषा नहीं दे सकते । पर यह दिखाया जा सकता है कि कुछ प्रधान व्याकरणिक नियमों का निरूपण कर्ता से अलग उद्देश्य जैसी संकल्पना के आधार पर ही किया जा सकता है । फिलमोर का कथन है कि संभवतः सभी भाषाओं में "उद्देश्य" का कार्य केवल कर्ता, अनुभवकर्ता और कर्म ही कर सकते हैं अन्य कोई कारक नहीं । दूसरे शब्दों में यदि वाक्य के आंतरिक स्तर पर कर्ता हो तो वही उस वाक्य का उद्देश्य बनेगा । यदि कर्ता न हो तो अनुभवकर्ता वाक्य का उद्देश्य होगा । अन्यथा कर्म उद्देश्य होगा ।

आगे हम हिंदी की कुछ व्याकरणिक प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे और देखेंगे कि इनके निरूपण के लिए उद्देश्य की क्यों आवश्यकता है । हिंदी में निजवाचकता रूपांतरण के लिए "उद्देश्य" जैसी संकल्पना की आवश्यकता है । निम्नलिखित वाक्यों पर गौर कीजिए—

(41) मैंने अपने दोस्त को चिट्ठी लिखी ।

(42) मैं अपनी गाड़ी बेचना चाहता हूं ।

(43) मुझसे अपने पिताजी से झूठ नहीं बोला जाएगा ।

(44) राम को अपने कमरे में नींद नहीं आती ।

(45) तुमको अपने भाई के घर जाना है ।

(46) कुर्सी अपनी जगह से हटी हुई थी ।

(47) लौकी अपने ही पानी में पक जाएगी ।

(48) × उसको अपनी किताब मिल गई ।

(49) × उसके हाथ में अपना नाम लिखा हुआ है ।

ऊपर के वाक्यों से स्पष्ट है कि निजवाचक रूपांतरण का निरूपण संज्ञापद और क्रिया के बीच पाई जाने वाली अन्विति के आधार पर नहीं हो सकता । क्योंकि ऊपर के वाक्यों में केवल 41, 46 और 47 में ही निजवाचक रूपांतरण संचालन करने वाले संज्ञापद के साथ क्रिया की अन्विति है । मैं, कुर्सी और लौकी को छोड़कर शेष वाक्यों के उस संज्ञापद के साथ क्रिया की कोई अन्विति नहीं जो निजवाचक रूपांतरण का संचालन करते हैं ।

ऊपर के वाक्यों में निजवाचक रूपांतरण का संचालन करने वाले संज्ञापदों में मैंने (41), मैं (42), मुझसे (43), और तुमको (45) कर्ता कारक हैं । रामको (44) अनुभवकर्ता है । कुर्सी (46) और लौकी (47) कर्म हैं । जैसा कि हम कह चुके हैं कर्ता, अनुभवकर्ता और कर्म ही वाक्य के उद्देश्य बन सकते हैं । इसके विपरीत वाक्य (48) और (49) में निजवाचकता रूपांतरण का नियम नहीं लागू हो सकता जैसा कि (48) और (49) की असंगतता से स्पष्ट है । (48) में उसको संप्रदान है और (49) में उसके हाथ में संबंध कारक है और दोनों ही वाक्य का उद्देश्य नहीं हैं । इसलिए हम कह सकते हैं कि निजवाचक रूपांतरण का नियम तभी लागू हो सकता है जब दिये गए सरल वाक्य में कोई संज्ञापद वाक्य के उद्देश्य से समुद्दिष्ट हो ।

हिंदी व्याकरण के एक और संदर्भ में हमें उद्देश्य की आवश्यकता है । निम्नलिखित वाक्यों पर गौर कीजिए ।

(50) राधा खाना खाकर स्कूल चली गई ।

(51) × राधा ने खाना खाकर मालती स्कूल चली गई ।

हिंदी में दो उपवाक्य, जिनमें पहला उपवाक्य पूर्वकालिक कृदंत से बना हो, परस्पर तभी जुड़ सकते हैं जब एक उपवाक्य का कोई विशिष्ट संज्ञापद दूसरे वाक्य के विशिष्ट संज्ञापद के समुद्दिष्ट (Coreferential) हो । वाक्य 51 इसीलिए असंगत है कि एक उपवाक्य में राधा शब्द है जो दूसरे उपवाक्य के संज्ञापद मालती से समुद्दिष्ट नहीं है ।

अब निम्नलिखित वाक्यों को देखिए :

(52) घर आकर मैंने उनको फोन किया ।

(53) इन लोगों से मिलकर मुझे बहुत खुशी होती है ।

(54) दफ्तर से आकर मैं सीधे ट्यूशन के लिए चला जाता हूं।

(55) इस लड़की को देखकर मुझे अपनी बहिन याद आती है।

(56) जमीन पर गिरकर बोतल टूट गई।

(57) पेड़ से गिरकर वह घायल हो गया।

(58) घर आकर मुझे तुम्हारी चिट्ठी मिली।

(59) तुम्हारी बातें सुनकर मुझे हंसी आती है।

(60) अमेरिका से वापस आकर उसकी शादी हो गई।

(61) अमेरिका से वापस आकर उसने शादी कर ली।

इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रकार के वाक्यों के लिए दोनों उप-वाक्यों के किन्हीं दो संज्ञापदों की समुद्दिष्टता से काम नहीं चलेगा।

क्योंकि वाक्य (58) और (60) में भी **मैं** (मैं घर से आया) और **मुझे** तथा **वह** (वह अमेरिका से वापस आया) और **उसकी** समुद्दिष्ट हैं। पर इसके बावजूद ये दोनों वाक्य असंगत हैं।

इन वाक्यों में किन संज्ञापदों का समुद्दिष्ट होना अनिवार्य है यह बात संज्ञापदों के कारक संबंध से भी स्पष्ट नहीं है। क्योंकि वाक्य 52 और 54 में दोनों समुद्दिष्ट संज्ञापद कर्ता कारक हैं। वाक्य 53 और 55 समुद्दिष्ट संज्ञापदों में एक कर्ता है दूसरा अनुभवकर्ता। वाक्य 56 और 57 में दोनों समुद्दिष्ट संज्ञापद कर्म हैं।

पर ऊपर के सभी संगत वाक्यों की यही विशेषता है कि दोनों वाक्यों के उद्देश्य शब्द परस्पर समुद्दिष्ट हैं। यह बात इन वाक्यों के आंतरिक स्वरूप से स्पष्ट है।

(52) (अ) मैं घर आता हूं, मैंने उनको फोन किया।
× ×

(53) (अ) मैं इन लोगों से मिलता हूं, मुझे बहुत खुशी होती है।
× ×

(54) (अ) मैं दफ्तर से आता हूं मैं सीधे ट्यूशन के लिए चला जाता हूं।
× ×

(55) (अ) मैं इस लड़की को देखता हूं, मुझे अपनी बहिन याद आती है।
× ×

(56) (अ) बोतल जमीन पर गिरी बोतल टूट गई।
× ×

(57) (अ) वह पेड़ से गिरा वह घायल हो गया।
× ×

(58) (अ) मैं घर आता हूं मुझे तुम्हारी चिट्ठी मिली।
× ×

(59) (अ) मैं तुम्हारी बातें सुनती हूं मुझे हंसी आती है।
× ×

(60) (अ) वह अमेरिका से आया उसकी शादी हो गई।
× ×

(61) (अ) वह अमेरिका से वापस आया उसने शादी कर ली।
× ×

गौर करने की बात यह है कि दोनों असंगत वाक्य अर्थात् 58 और 60 में **मुझे** और **उसकी** शब्द उद्देश्य नहीं हैं। क्योंकि ये दोनों क्रमशः संप्रदान और संबंध हैं और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं केवल कर्ता, कर्म और अनुभवकर्ता ही वाक्य के उद्देश्य बन सकते हैं।

इस लेख में हमारा मुख्य उद्देश्य यही दिखाना था कि हिंदी के प्रचलित व्याकरणों में यद्यपि कर्ता, कर्म आदि कारक संबंधों और उद्देश्य जैसी संकल्पनाओं को मान्यता दी गई है पर इस बात का स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है कि भाषा के व्यावहारिक प्रयोग में इनकी क्या उपादेयता है। हमने यहां यह दिखाने की कोशिश की है कि हिंदी की वाक्य रचना में जहां एक ओर कर्ता आदि कारक संबंधों की उपादेयता है वहीं उद्देश्य जैसी संकल्पना की भी।

हिंदी भाषा के व्याकरणिक नियमों की पूरी जानकारी पाने और उनका सही ढंग से प्रयोग सीखने के लिए भाषा अध्येता को इन संकल्पनाओं और व्याकरण में इनके कार्य की पूरी जानकारी होनी चाहिए।

विचार-विमर्श

रमेशचंद्र आर्य—

एक सैद्धांतिक प्रश्न यह है कि जहां एक तरफ Deep Grammar में Agentive, Objective Locative, Experiences, Instrumenter इस तरह की कोटियां हैं उसी तरह कर्ता, कर्म की कोटियां भी हैं। दोनों एक कोटियां हैं। आजकल जिस तरह के व्याकरण हैं जिनमें एक तो विन्यासात्मक व्युत्पादक (Syntax Generative) और दूसरा है आर्थी व्युत्पादक (Semantic Generative)। आर्थी व्युत्पादक व्याकरण (Deep Structure) या आंतरिक संरचना आर्थी कोटियों की है। Objective Instrumental आदि आर्थी कोटियां हैं और उसके साथ जो भी कोटियां आती हैं वो उस तरह की हैं। मैं यह जानना चाहता हूं कि आंतरिक संरचना एक है दो हैं या दस हैं।

लक्ष्मीबाई—

आपने जो प्रश्न पूछा है कि मैंने कर्ता, कर्म की स्थापना किस आधार पर की है। मैंने कर्ता, कर्म फिलमोर की थ्योरी के आधार पर ही की है। कर्ता, कर्म या तो सिर्फ अन्विति के लिए आते हैं या अंग्रेजी जैसी भाषा में क्रिया के संबंधों के लिए आते हैं।

एस० के० वर्मा—

आपने कहा है कि जब एक उपवाक्य का कोई विशिष्ट संज्ञापद दूसरे वाक्य के विशिष्ट संज्ञापद के समुद्दिष्ट हो (Coreferential) हो। केवल संज्ञापद कहने से काम नहीं चलेगा। इसमें कहना पड़ेगा उद्देश्य संज्ञापद। उद्देश्य संज्ञा पदबंध (Subject Noun Phrase) और Related Sentence।

लक्ष्मीबाई—

मैंने कहा है कि हम वाक्य बोलते हैं उसमें उद्देश्य जैसी कल्पना करनी नहीं है।

कृष्णकुमार शर्मा—

31 के वाक्य को देखिए—

"शीतल से घबराया नहीं जाता।" इसमें शीतल की जगह "परीक्षा" रख दें तो बनेगा "परीक्षा से घबराया नहीं जाता।"

अब इस वाक्य की व्याख्या कैसे की जाएगी? ऊपर लिखा है कि अगर वाक्य में कर्ता न हो तो इन वाक्यों की अर्थवत्ता सूचक रूप नहीं बनेगी। यह बात नीचे के वाक्य से स्पष्ट हो जाएगी। अगर शीतल की जगह परीक्षा रख दें तो यह वाक्य एकदम सही होगा। संस्कृत व्याकरण के अनुसार "चोरात बिभेति" इसको अपादान-कारक माना गया है। इसको फिलमोर के लिहाज से किस कारक में रखा जाएगा।

इसी पृष्ठ में 37, 38 क्यों घबराया जा रहा है। संदर्भ बदलकर मैं कहूं किसी लड़के से कि "क्यों घबराया जा रहा है?" बिल्कुल सही वाक्य है। प्राप्य की अपेक्षा नहीं है। क्यों गिरा जा रहा है। यह भी बिल्कुल सही है प्राप्य की अपेक्षा नहीं है। इसकी व्याख्या क्या होगी? विद्वान वक्ता बतलाएं।

लक्ष्मीबाई—

शीतल से घबराया नहीं जाता जब मैंने यह कहा कि वाक्य में कर्त्ता न हो वहां तात्पर्य आंतरिक संरचना से है। आप कह रहे हैं परीक्षा से घबराया नहीं जाता। इसमें परीक्षा Instrumental कारक है। कोई परीक्षा से घबरा रहा है। अतः कहा जा रहा है कि परीक्षा से घबराया नहीं जाता। समझिए कि शीतल खाना खा रहा है तो आप कह सकते हैं कि शीतल से खाना नहीं खाया जाता। अगर शीतल घबरा रहा है तो आप यह नहीं कहेंगे कि शीतल से घबराया नहीं जाता। पर यहां सदर्भ ठीक हो तो यह वाक्य भी सही है। अगर आप किसी अभिनय में घबराना चाहें अगर न कर सकें तो आप कहेंगे मैं चाहे कितनी भी कोशिश करूं मुझसे घबराया नहीं जाता। दूसरे उदाहरण के बारे में आपने जो पूछा है Pragmatics के अंतर्गत अगर हम सही संदर्भ ला सकें तो कई चीजें जो कहने लायक नहीं हैं उन्हें भी कह सकते हैं।

चतुर्भुज सहाय—

"घर गिर गया"

"घर को गिराया गया"

इन दोनों में घर का संबंध क्रिया से क्या है ? दोनों उस जगह Connotative object है तो घर दोनों जगह गिर गया यह हो सकता है । घर को अपने आप गिराया गया ये संबंध है । ''घर को गिर गया'' घर के साथ 'को' नहीं आता । ''घर को गिराया गया'' में को है । दोनों में घर का संबंध क्रिया से क्या है ?

''लड़के को हंसी आई''

''लड़का हंस रहा है''

क्या दोनों में लड़का संबंध एक ही कारक है । तीसरा प्रश्न है ''बिल्ली ने दूध गिरा दिया'' ।

इन वाक्यों में बिल्ली और दूध किस कारक में हैं ?

लक्ष्मीबाई—

आपने जो वाक्य दिए हैं। किसी वाक्य को agent के साथ कह सकते हैं किसी को नहीं ।

''राम ने खाना खाया''

''राम से खाना नहीं खाया जाता''

अब आप जड़ों से पेड़ों से का प्रयोग नहीं कर सकते । कई संदर्भों में एक कारक का आरोप किया जा सकता है । उसके आधार पर आपने जो दूसरे वाक्य दिए हैं उसमें तो यह माना जाएगा कि घर को गिराया गया। यह कर्मवाच्य का वाक्य है उसमें कर्ता नहीं है । कर्ता कार्य से जो चीज प्रभावित होती है वह कर्म कहलाती है और इसी तरह जब आप कहते हैं कि घर गिर गया तो वहां कोई गिराने वाला नहीं है । घर को गिराया गया यह दूसरे तरह का वाक्य है । एक में कर्ता है, कर्म है और दूसरे में मात्र कर्म है । आप ऐसा कोई भी वाक्य नहीं दे सकते जिसमें कर्म मात्र को हो ।

कारक और विभक्ति का स्वरूप

(हिंदी के विशेष संदर्भ में)

—किशोरीलाल शर्मा

भाषा अपनी सहज प्रकृति से ही एक द्विपक्षीय व्यवस्था है । वे पक्ष हैं—अभिव्यक्ति और विचार । ध्वनि-संयोजनों—रूप समूह से अभिव्यक्ति पक्ष का प्रतिनिधित्व होता है और अर्थ तत्व से विचारात्मक पक्ष का । ये दोनों ही पक्ष वस्तुतः भाषा का शरीर और आत्मा हैं । काव्यादर्शकार ने अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली पदावली को काव्य या भाषा का शरीर माना है—शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली-(दण्डी) । इससे स्पष्ट है कि ''गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'' के अनुसार भाषा में शब्द और अर्थ अनिवार्य रूप से संपृक्त रहते हैं । इन्हें ही भाषा की बाह्य और आंतरिक रचना भी कहा जाता है । भाषा की आंतरिक रचना का संबंध विशेषतः वक्ता के मनोविज्ञान अथवा उसकी विवक्षा पर आधारित होता है । किसी भी मानवीय भाषा का कारक-विधान, शब्द शक्तियां, पदों की योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि तथा रागात्मक तत्व—विवृत्ति, बल, सुर और अनुतान आदि आंतरिक धरातल पर अपेक्षित अर्थ की उद्भावना और भावों का प्रस्फुटन करते हैं; जबकि भाषा की शब्द-योजना, प्रतीक विधान तथा रूपात्मक प्रकृति का संबंध भाषा की बाह्य रचना से होता है ।

भावात्मक दृष्टिकोण से विश्व की सभी भाषाएं समान हैं और मानव मस्तिष्क इस दृष्टि से सभी मानवीय भाषाओं के साथ जुड़ा हुआ है । मनुष्य में जन्मजात ऐसे गुण पाए जाते हैं जिनके कारण वह किसी भी मानवीय भाषा को सीखने में सक्षम होता है; जब कि मानवेतर प्राणी मानवीय भाषा को नहीं सीख सकता । इससे यह प्रत्यक्षतः स्वीकार किया जा सकता है कि भाषाओं की आर्थी रचना का संचालन करने वाले कुछ ऐसे सार्वजनिक तत्व हैं जिनके आधार पर सभी मानवीय भाषाओं के एक व्याकरण की कल्पना को साकार रूप दिया जा सकता है । प्रस्तुत लेख में भाषाओं की आर्थी और शाब्दी रचनाओं के संदर्भ में कारक और विभक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करना ही मेरा उद्देश्य है ।

कारक संबंध भाषा की संरचना का आधार है और इसकी प्रकृति सार्वभौम है। वस्तुतः क्रिया से संज्ञाओं के विभिन्न आर्थी संबंधों को कारक कहते हैं। कारक का संबंध अर्थतत्व से है, रूप तत्व से नहीं। क्रिया को करने वाले या क्रिया में सहायक तत्व को कारक कहा जाता है। इस परिभाषा में कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारकों का तो समावेश हो जाता है; परंतु संप्रदान और अपादान कारकों का अंतर्भाव नहीं हो पाता, क्योंकि ये दोनों ही कारक क्रिया के जनक या क्रिया के सहायक नहीं। जैसे पेड़ से पत्ते गिरते हैं और रमेश मोहन को पुस्तक देता है। यहां पत्ते गिरने में पेड़ और पुस्तक देने की क्रिया में मोहन सहायक नहीं हैं। अतः पेड़ और मोहन क्रियाओं के जनक नहीं हो सकते। इसलिए "सिद्धांत कौमुदी" के टीकाकार को कारक की परिभाषा में थोड़ा संशोधन करना पड़ा। उनका कथन है कि क्रिया के साथ संबंध को कारक कहते हैं। (क्रिया जनकत्वम् करकत्वम् तथा क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्) इस संशोधन से संप्रदान और अपादान भी कारक की सीमा के अंतर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार संस्कृत में छह कारक माने जाते हैं; संबंध और संबोधन को कारक की संज्ञा नहीं दी गई। संबंध का क्रिया से कोई सीधा संबंध नहीं होता और संबोधन को कर्ता के अंतर्गत ही समाविष्ट कर लिया जाता है।

प्रसिद्ध भाषाविद् फिल्मोर भी कारक को अर्थतत्व ही मानते हैं। उनका कथन है कि "आर्थिक दृष्टि से व्यवस्थित संरनात्चक संबंधों को कारक कहते हैं।" इन संबंधों के संवाहक कुछ संज्ञाएं तथा सर्वनाम होते हैं। फिल्मोर ने कारक व्याकरण में पांच कारक संबंधों का निर्देश किया है। (Filmore 1968 : 5)। वे संबंध निम्नांकित हैं :—

1. अभिकर्ता (Agent)

2. करण (Instrument)

3. अनुभावक (Experiencer)

4. स्थान और कर्म (Place & Object)

5. अधिकरण (Location)

ये कारक भाषा की आंतरिक रचना से संबद्ध हैं। भाषा की बाह्यरचना में संज्ञा पदबंध आदि ही आंतरिक रचना में कारकों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए दोनों रचनाओं के संबंधों को कारक व्याकरण में अलग-अलग शब्दों में व्यवहृत किया गया है। आंतरिक संरचना का कर्ता-अभिकर्ता या तार्किक कर्ता (Logical subject) कहा गया है और बाह्य रचना के कर्ता को कर्ता

(Grammatical subject) कहा गया है। बाह्य कर्ता का निर्धारण वाक्य में शब्द क्रम या संज्ञा की क्रिया के साथ अन्विति को देखकर किया जाता है। जैसे :—

1. राम पुस्तक पढ़ता है। और

2. राम से पुस्तक पढ़ी नहीं जाती।

इनमें से पहले वाक्य में राम आंतरिक और बाह्य दोनों संरचनाओं की दृष्टि से कर्ता है; परंतु दूसरे वाक्य में बाह्य संरचना की दृष्टि से कर्ता पुस्तक है और आंतरिक दृष्टि से कर्ता राम है। एक और उदाहरण लिया जा सकता है :—

1. धोबी कपड़े साफ धो रहा है।

2. मशीन कपड़े साफ धो रही है।

3. कपड़े साफ धुल रहे हैं।

इन वाक्यों में क्रमशः धोबी, मशीन और कपड़े बाह्य दृष्टि से कर्ता है; परंतु इनकी समानता केवल ऊपरी समानता है। आंतरिक दृष्टि से धोबी तार्किक कर्ता या अभिकर्ता है, मशीन करण हैं और कपड़े कर्म हैं। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए दूसरे ढंग से इस प्रकार कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा में तीन प्रकार की संरचनाएं प्रयुक्त होती हैं—कर्तानुसारी, कर्मानुसारी और सामान्य। कर्तृवाच्य में इन तीनों का ही प्रयोग होता है। यथा—

1. राम पुस्तक पढ़ता है।

2. राम ने पुस्तक पढ़ी।

3. राम ने पुस्तक को पढ़ा।

इनमें से प्रथम वाक्य में कर्तृवाच्य और कर्तृ प्रयोग है; दूसरे में कर्तृवाच्य और कर्मणि प्रयोग है तथा तीसरे में कर्तृवाच्य भावे प्रयोग है। इन तीनों में तार्किक कर्ता राम है और व्याकरणिक कर्ता तीनों में भिन्न हैं। पहले मे राम, दूसरे में पुस्तक और तीसरे में कोई नहीं। इन उदाहरणों में कारक विवेचन की प्रक्रिया से भाषा की दोनों रचनाओं का अंतर आसानी से समझा जा सकता है। भाषा के गूढ़ तत्वों के निरूपण के लिए भाषायी दक्षता का उपार्जन करना नितांत आवश्यक है और वह तभी संभव है; जबकि भाषा की दोनों रचनाओं का अंतर स्पष्ट हो।

हिंदी के कुछ प्रमुख वैयाकरणों ने रूप तत्व को कारक सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस संदर्भ में उनकी परिभाषाओं को देना तथा उन पर विचार करना प्रसंगानुकूल ही होगा। पं० कामता प्रसाद गुरु के अनुसार "संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप से उसका संबंध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है; उस रूप को कारक कहते हैं। (गुरु ; 216) इसकी पुष्टि में गुरु ने कुछ उदाहरण भी दिए हैं। जैसे राम ने श्यामपट पर लिखा। इस वाक्य में राम ने, श्याम पट पर क्रमशः राम और श्यामपट संज्ञाओं के रूपांतरण हैं जिनके द्वारा इन संज्ञाओं का संबंध लिखा क्रिया के साथ सूचित होता है। अतः राम ने और श्यामपट पर कारक हुए। इस परिभाषा से 'संबंध' को भी कारक मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि संबंध क्रिया के साथ ही हो, क्रियेतर शब्दों के साथ— जैसे राम का भाई, रमेश की कार आदि में भी सूचित हो सकता है।

इसी प्रकार आर्येन्द्र शर्मा ने भी अपने व्याकरण में तत्व को ही कारक माना है। उनका मत है कि संज्ञा या सर्वनाम का वह रूप कारक कहलाता है जो वाक्य में किसी अन्य शब्द के साथ अपना संबंध प्रकट करता है। (Sharma Aryendra 34·35) कभी-कभी स्वयं संबंध भी कारक कहा जाता है।" कारकों द्वारा अभिव्यक्त व्याकरणिक संबंध अनेक प्रकार के तथा वैविध्यपूर्ण होते हैं; जैसे कर्तृत्व, कर्मत्व, साधनत्व, उद्देश्य, उपयोगिता पृथकत्व, उद्गम, स्वामित्व, पदार्थवाचक, रचनात्मक, स्थानवाचक और समयवाचक आदि। हिंदी में कारकों के दो रूप होते हैं—ऋजु और तिर्यक। ऋजु संज्ञा का साधारण तथा परिवर्तनहीन रूप है। जैसे लड़का गया, घोड़ा लाओ आदि में लड़का और घोड़ा ऋजु रूप हैं। यह प्रायः कर्ता और कर्म कारक को सूचित करता है। तिर्यक संज्ञा का विकृत रूप है जो अन्य संबंधी को सूचित करने के लिए प्रयुक्त होता है। विकृत रूप परसर्गों की सहायता से विभिन्न संबंधों को प्रकट करता है, जैसे **लड़के** ने, **लड़कों** को, **घरों** से, **नदियों** में, **लताओं** पर आदि में परसर्गों से पूर्ववर्ती रूप। इस प्रकार आर्येन्द्र शर्मा ने कारक को रूप तत्व ही माना है कहीं-कहीं केवल संबंध तत्व भी कारक मान लिया है।

मेरी धारणा है कि गुरु, आर्येन्द्र शर्मा और उनके अनुयायियों की कारक संबंधी स्थापना को सर्वार्थ सत्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि कारक के उक्त उदाहरणों में—विभक्तियुक्त या परसर्ग सहित शब्द किसी सर्वमान्य निश्चित कारक को नहीं बता सकते। जैसे :—

1. राम **मोहन से** नफरत करता है।
2. वह **हरि का** आदर करता है।
3. **राम को** घर जाना है।
4. उसने **राम से** कहा था।

इन उदाहरणों में मोहन से, हरि का, राम से तो कर्म कारक हैं और राम को कर्ता कारक है; जबकि सामान्यतः 'से' करण और अपादान कारक का परिचायक है; 'का' संबंधकारक का और 'को' कर्म कारक का। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि किसी निश्चित विभक्ति या परसर्ग से सदा किसी निश्चित कारक का ही बोध नहीं होता। अतः गुरु और आर्येन्द्र शर्मा का कारक विषयक मत युक्तियुक्त और तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः कारक एक संबंध तत्व है और जिस रूप से वह संबंध तत्व सूचित होता है; उसे विभक्ति कहते हैं। कारक और विभक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं; वे दोनों एक नहीं हो सकते।

कारक तत्व को सूचित करने के लिए संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण आदि प्रातिपदिकों के तुरंत बाद जो प्रत्यय लगाए जाते हैं, उन्हें विभक्तियां कहते हैं। विभक्ति के योग से बने **कृष्णेन, सर्पेण, तेन** मया, तस्य आदि रूप विभक्त्यंत शब्द या पद कहलाते हैं। विभक्ति प्रत्यय जिन शब्दों से लगते हैं; उनसे लगकर वे उनका अभिन्न अंग बन जाते हैं तथा उन विभक्ति प्रत्ययों का स्वतंत्र रूप से प्रयोग नहीं होता। इस प्रकार विभक्तियां रूप तत्व से संबंध रखती हैं; अर्थतत्व से नहीं। उदाहरण के लिए कुछ भाषाओं से विभक्तियों के संयोग से बने कुछ रूप दिए जा रहे हैं :—

1. संस्कृत—रामः, रामं, रामेण, रामाय, रामात्, रामस्य आदि।
2. बंगला—रामके, रामेर, आमादेर आदि।
3. अंग्रेजी—His, their, her, our, and, your आदि।
4. हिंदी—उसे, मुझे, हमारा, तुम्हारा आदि।

कारक और विभक्ति को कोई समान अनुपात देना उचित नहीं है। हिंदी में विभक्तियों की संश्लेषणात्मक प्रकृति, विश्लेषणात्मक बन गई है। संस्कृत आदि भाषाओं में प्रयुक्त विभक्ति-प्रत्यय, हिंदी में परसर्ग बन गए हैं; क्योंकि वे विभक्ति प्रत्ययों के समान संबद्ध शब्दों का अभिन्न अंग न बनकर स्वतंत्र शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सर्वनाम के कुछ रूपों में विभक्ति का आभासमात्र ही देखा जा सकता है।

कारक और विभक्ति के भेद को अधिक विशद रूप से विभिन्न उदाहरणों द्वारा समझाया जा सकता है। कहीं तो एक ही विभक्ति से अनेक कारकों का बोध होता है और कहीं एक ही कारक में अनेक विभक्तियों या परसर्गों का प्रयोग होता है। यथा :—

संस्कृत—"रामेण वाणेन हतो बालिः" ।

हिंदी :—(1) मुझसे हंसा नहीं जाता ।

(2) आंखों से देखिए ।

(3) वह तुम से मिलना चाहता है ।

(4) मैं आप से डरता हूं ।

यहां संस्कृत के उदाहरण में तृतीया विभक्ति क्रमशः कर्ता और करण दो कारकों को सूचित कर रही है । हिंदी में, 'से' परसर्ग उक्त वाक्यों में क्रमशः कर्ता, करण, कर्म और अपादान कारकों का बोध कराता है । यहां एक बाह्‌य रचना में चार आंतरिक रचनाओं का समावेश है :—

बा० रचना → (1) परसर्ग 'से'
- —आ० रचना (1) मुझसे (कर्ता)
- —आ० रचना (2) आँखों से (करण)
- —आ० रचना (3) तुम से (कर्म)
- —आ० रचना (4) आपसे (अपादान)

इसी प्रकार एक आंतरिक रचना (कर्ता कारक) में अनेक बाह्‌य रचनाओं या परसर्गों का समावेश देखा जा सकता है :—

संस्कृत :—(1) रामः कार्यं करोति ।

(2) रामेण कार्यं क्रियते ।

(3) कार्यस्य कर्ता रामोऽस्ति ।

हिंदी :—(1) राम पत्र लिख रहा है ।

(2) राम ने पत्र लिखा ।

(3) राम को पत्र लिखना है ।

(4) राम का पत्र लिखना आवश्यक है ।

(5) राम से पत्र नहीं लिखा जाता ।

उक्त संस्कृत के वाक्यों में राम तीनों स्थानों पर कर्ताकारक है; जबकि तीनों वाक्यों में विभक्तियां प्रथमा और द्वितीया भिन्न-भिन्न हैं । इसी प्रकार कार्य, कर्म कारक है और तीनों स्थानों पर उसके लिए क्रमशः द्वितीया, प्रथमा और षष्ठी विभक्तियों का प्रयोग हुआ है । हिंदी के वाक्यों में सर्वत्र राम ही कर्ता कारक है; जबकि पांचों वाक्यों में कर्ता की द्योतक विभक्तियां या परसर्ग अलग-अलग हैं । अतः यहां एक आंतरिक रचना में पांच बाह्‌य प्रयुक्त रचनाएं हो रही हैं :—

आंतरिक रचना → (1) **कर्ता कारक**
- —बाह्‌य रचना (1) राम (परसर्ग रहित)
- —बाह्‌य रचना (2) राम ने
- —बाह्‌य रचना (3) राम को
- —बाह्‌य रचना (4) राम का
- —बाह्‌य रचना (5) राम से

इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं से अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं ।

विभक्तियां या परसर्ग विभिन्न भाषाओं की रूप संपदाएं हैं । कारक और परसर्ग की व्यवस्था विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग पाई जाती है—उनकी व्यवस्था भाषाओं की प्रकृति के अनुसार बदलती है । जैसे जाना क्रिया हिंदी में अकर्मक है; परंतु संस्कृत में वह सकर्मक है—रामः ग्रामं गच्छति । इस वाक्य में ग्राम कर्म है । इसी प्रकार देना क्रिया अंग्रेजी में द्विकर्मक है; परंतु हिंदी में द्विकर्मक नहीं है । जैसे :—

अंग्रेजी→**Ram gives Ramesh a book,**

संस्कृत→रामः **रमेशाय** पुस्तकं ददाति ।

हिंदी →राम रमेश को पुस्तक देता है ।

अंग्रेजी के वाक्य में क्रमशः रमेश और पुस्तक ये दो कर्म हैं । इसलिए देना द्विकर्मक क्रिया हुई; परंतु संस्कृत और हिंदी में रमेश संप्रदान है; कर्म नहीं । अतः देना क्रिया यहां सकर्मक मात्र हुई द्विकर्मक नहीं । इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि जो क्रियाएं अंग्रेजी में सकर्मक हैं वे हिंदी में भी सकर्मक ही हों । यथा—अंग्रेजी :— I owe him money में owe क्रिया द्विकर्मक है; परंतु हिंदी में "मैं

उसका ऋणी हूं" में वह अकर्मक के रूप में प्रयुक्त होती है। अंग्रेजी में He is sitting, He is standing आदि वाक्य सातत्य वर्तमान काल के हैं, परंतु हिंदी में 'वह बैठा है,' 'वह खड़ा है' आदि सामान्य वर्तमान के वाक्य हैं। इसी प्रकार अन्य भी बहुसंख्यक वाक्यों का उल्लेख किया जा सकता है। संसार की विभिन्न भाषाओं के शब्दों की लिंगवचन व्यवस्था में भी अंतर देखा जाता है।

विभक्तियां या परसर्ग कारक से भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। यहां संस्कृत और हिंदी से कुछ उदाहरण लिए जा सकते हैं। जैसे—संस्कृत में नमः स्वस्ति, स्वाहा और स्वधा शब्दों और रुच् धातु के योग में चतुर्थी होती है—रामाय नमः मह्यम दुग्धं रोचते आदि। साकं, समं, सह के योग में तृतीया और प्रति-अंतरा, अंतरेण, उप, अधि आदि के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। हिंदी में भी—मैं उसके साथ रहता हूं; उसके प्रति मेरा कोई राग-द्वेष नहीं है, मुझे पुस्तक चाहिए, मुझे उससे मिलना है आदि वाक्यों में साथ प्रति, चाहिए और मिलना के योग में क्रमशः के, के; को और से परसर्गों का ही प्रयोग होता है। इससे स्पष्ट है कि विभक्तियां केवल कारकों को ही सूचित नहीं करतीं; बल्कि वे कारकेतर अर्थों में भी प्रयुक्त होनी हैं। इसलिए कारक और विभक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं; इसमें संदेह को कोई स्थान देना उचित न होगा।

हिंदी में बलात्मक स्थितियां

—चतुर्भुज सहाय

1.0. वाक्य के किसी घटक पर बल देने के लिए हिंदी में कई तरीके अपनाये जाते हैं। कभी घटक पर विशेष बलाघात डालते हैं, कभी उसे उठाकर वाक्य में ही असामान्य स्थान पर रख देते हैं, कभी उसके साथ निपात आदि बैठा देते हैं, कभी घटक की आंतरिक संरचना में वृद्धि कर देते हैं (ताकि वह उच्चारण में अधिक समय ले और लेखन में अधिक स्थान घेरे), तो कभी घटक को उठाकर ऊंचे स्तर पर डाल देते हैं। इन सबके लिए एक-एक उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

1. क—वह **घर** जा रहा है।
   ख—वह **'घर'** जा रहा है। ("घर" पर विशेष बलाघात)

2. क—वह **ठंडा** पानी पी रहा है।
   ख—वह पानी **ठंडा** पी रहा है। (क्रम परिवर्तन)

3. क—**मैं** सिनेमा देखूंगा।
   ख—**मैं तो** सिनेमा देखूंगा। (तो का प्रयोग)

4. क—सुरेश **यहीं रहना** चाहता है। (पदबंध)
   ख—सुरेश चाहता है **कि वह यहीं रहे**। (उपवाक्य)] आंतरिक संरचना में वृद्धि

5. क—उसने **बेगुनाह** लड़के को मारा। (पदबंध का घटक)
   ख—उसने लड़के को **बेगुनाह** मारा। (वाक्य का घटक)] स्तर उत्थान

1–1. प्रस्तुत लेख में चौथे और पांचवें प्रकारों की ही चर्चा की जाएगी। पहले हम घटक की आंतरिक संरचना की वृद्धि वाले उदाहरणों पर विचार करें।

6. क—**मोहन** किसी की बात नहीं मानता।
   ख—**मोहन जो है वह** किसी की बात नहीं मानता।

7. क—भाभी हंसे जा रही हैं ।

ख—भाभी जो हैं, वे हंसे जा रही हैं ।

'क' वाक्यों में जहां शब्द का प्रयोग हुआ है, वहीं 'ख' वाक्यों में उपवाक्य का प्रयोग हुआ है । 'मोहन' से 'मोहन जो है वह' अधिक बलात्मक है । इस तरह वृद्धि को प्राप्त हुए घटक सामान्य रूप से वाक्य के आरंभ में आता है । इससे उसका बल और बढ़ जाता है ।

8. क—मैंने मोहन जो है, उसे पैसे दे दिये ।

ख—मोहन जो है उसे मैंने पैसे दे दिये ।

9. क—उसने भात जो है वह पकाया ही नहीं ।

ख—भात जो है वह उसने पकाया ही नहीं ।

यद्यपि 'क' वाक्यों में संप्रदान और कर्म अपने सामान्य स्थानों पर हैं किंतु (क) वाक्यों से (ख) वाक्य अधिक सहज है । इन उदाहरणों से यह भी प्रकट होता है कि संप्रदान, कर्म आदि कारकों में आने वाले घटकों की भी वृद्धि संभव है ।

इन वाक्यों को देखें—

10. क—मोहन सब सह रहा है ।

ख—यह मोहन है जो सब सह रहा है ।

11. क—तुमने लड़के को मारा ।

ख—यह तुम हो जिसने लड़के को मारा ।

स्पष्ट ही, (ख) वाक्यों में कर्ता पर विशेष बल दिया गया है निम्नलिखित दो वाक्यों में क्या अर्थभेद है ?

12. मोहन जो है वह सब सह रहा है ।

13. यह मोहन है जो सब सह रहा है ।

वाक्य 13 का भाव यह है कि यह मोहन ही है जो सब सह रहा है । दूसरा कोई होता इसके स्थान पर, तो नहीं सहता । मोहन से अन्य व्यक्तियों का अलगाव, यह (13) में दर्शाया गया है । वाक्य (12) में ऐसा भाव नहीं है । कर्ता पर बल है, किंतु अन्यों से उसका पार्थक्य दृष्टि में नहीं है । इसे और स्पष्ट करने के लिए एक संदर्भ

की कल्पना कीजिए । मैंने उषा से कहा 'मोहन को भेजकर बाजार से चीजें मंगवा लो ।' उषा ने जवाब दिया—'लेकिन मोहन जो है वह तो सो रहा है ।' यहां 'यह मोहन है जो सो रहा है', यह नहीं होगा । अन्य व्यक्तियों से मोहन का अलगाव दिखाना यहां अपेक्षित नहीं है ।

नीचे के वाक्यों को देखें—

14. क—मैं उससे आज बात करना चाहता हूं ।

ख—मैं चाहता हूं कि (मैं) उससे आज बात करूं ।

15. क—वह सायकिल चलाना जानता है ।

ख—वह जानता है कि सायकिल कैसे चलायी जाती है ।

(क) वाक्यों में काले अंश संक्षिप्त रूपों में हैं । वे ही अंश (ख) वाक्यों में वृद्धि को प्राप्त हुए हैं और इस तरह अधिक बलात्मक बन गए हैं । यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि जहां (क) और (ख) का विकल्प प्राप्त होता है, वहीं बल डालने का यह साधन वक्ता को उपलब्ध होता है । निम्नलिखित वाक्यों में 'कि उपवाक्य' सामान्य रूप से बलात्मक नहीं हैं क्योंकि 'का·········ना' द्वारा इसका संक्षेपीकरण संभव नहीं है ।

16. मैं चाहता हूं कि तुम घर जाओ ।

'मैं तुम्हारा घर जाना चाहता हूं ।' यह वाक्य संभव नहीं है ।

जहां 'का·········ना' का विकल्प प्राप्त है, वहां कि उपवाक्य' को दो तरह से बलात्मक कह सकते हैं, एक, यह अपेक्षाकृत बृहद संरचना है, दो, यह कर्म के सामान्य स्थान पर नहीं होता । यह मुख्य क्रिया के बाद आता है अथवा 'कि' को छोड़कर वाक्य के आरंभ में आता है । कर्म के लिए ये दोनों स्थान अपने आप में बलात्मक हैं । इसके विपरीत 'का·········ना' रूप सामान्य रूप से कर्म के स्थान पर आता है ।

इसी तरह विशेषण से विशेषण उपवाक्यों को अधिक बलात्मक कहा जा सकता है ।

17. क—उसे ठंडा पानी पिलाओ ।

ख—उसे पानी पिलाओ, जो ठंडा हो ।

ग—उसे पानी पिलाओ, ठंडा ।

18. क—उसने **एक बहुत बड़ी** किताब लिखी है।

ख—उसने एक किताब लिखी है, **जो बहुत बड़ी है।**

ग—उसने एक किताब लिखी है, **बहुत बड़ी।**

(ख) और (ग) वाक्य बलात्मक हैं। (ग) वाक्यों में 'ठंडा' और 'बहुत बड़ी' उपवाक्य का रूप खो चुके हैं, लेकिन अब भी मुख्य उपवाक्य के बाद है और यह बलात्मक स्थान पर हैं।

नीचे के युग्मों में दाहिनी तरफ के रूपों को अधिक बलात्मक कहा जा सकता है। वे बाईं तरफ के रूपों से बड़े हैं। वृद्ध रूपों में कोशीय अर्थ की वृद्धि नहीं हुई है।

रविवार—रविवार का दिन

सावन—सावन का महीना

बसंत—बसंत ऋतु

1. 2.0. किसी घटक को उठाकर ऊंचे स्तर पर रखने से वह कैसे बलात्मक हो जाता है, अब हम इस पर विचार करेंगे। इन वाक्यों को देखें।

19. क—उसने **बेगुनाह** लड़के को पीटा।

ख—उसने लड़के को **बेगुनाह** (ही) पीटा।

20. क—वह **खड़ा** लड्डू निगल गया।

ख—वह लड्डू को **खड़ा** (ही) निगल गया।

21. क—उसने **हरे** पेड़ों को काट दिया।

ख—उसने पेड़ों को **हरा** (ही) काट दिया।

22. क—वह **कच्चा** केला खा जाता है।

ख—वह केलों को कच्चा (ही) खा जाता है।

23. क—डाक्टर ने **कच्चे** फोड़े को चीर दिया।

ख—डाक्टर ने फोड़े को **कच्चा** ही चीर दिया।

ऊपर के (क) वाक्यों में जो विशेषण पदबंध के स्तर पर है और संज्ञा से पूर्व हैं, वे ही (ख) वाक्यों में वाक्यस्तर पर पूरक बनकर आ गए हैं। वे संज्ञा-

पदबंध से निकल चुके हैं। (ख) वाक्यों में ये विशेषण अधिक बलात्मक हैं और क्रिया की विलक्षणता दिखाते हैं। बेगुनाह लड़के को पीटना, खड़ा लड्डू निगल जाना, हरे पेड़ों को काटना आदि विलक्षण और अप्रत्याशित क्रियाएं हैं। जहां क्रिया की विलक्षणता नहीं उभरती वहां इस तरह के प्रयोग भी नहीं होते।

24. क—वह **पका** केला खाता है।

ख—? वह केले को **पका** खाता है।

पका केला खाना न विलक्षण है, न अप्रत्याशित है। यह भी ध्यान में रखें कि "वह कच्चा केला खा जाता है" की तरह "वह पका केला खा जाता है" सहज वाक्य नहीं है। विलक्षणता क्रिया के रूप से भी प्रकट हो रही है।

नीचे के वाक्यों पर विचार करें—

25. क—उसने **डेढ़ इंच** चाकू धंसाया।

ख—उसने चाकू (को) **डेढ़ इंच** धंसाया।

26. क—मैं **आधी** पुस्तक पढ़ चुका हूं।

ख—मैं पुस्तक (को) **आधी** पढ़ चुका हूं।

27. क—उसने **आधा** घड़ा भर दिया।

ख—उसने घड़ा (को) आधा भर दिया।

(क) वाक्यों में विशेषण संज्ञा पदबंध के भीतर हैं और वाक्य स्तर पर नहीं हैं। (ख) वाक्यों में वे ही विशेषण संज्ञा पदबंध से निकल कर वाक्य स्तर पर आ गए हैं। वाक्य स्तर पर ये अधिक बलात्मक हैं। किंतु ये पूर्वगामी विशेषणों (बेगुनाह, कच्चा आदि) की तरह क्रिया की विलक्षणता नहीं दिखा रहे हैं। इन विशेषणों के बारे में यह ध्यान देने योग्य है कि ये सभी अंश हैं, डेढ़ इंच चाकू का अंश है, आधा पुस्तक का अंश है, आदि।

ऊपर यह कहा गया है कि विशेषण पर बल देने के लिए उसे संज्ञा पदबंध से निकालकर वाक्य स्तर पर पूरक के स्थान पर रखा जा सकता है। किंतु इस प्रक्रिया की कई सीमाएं हैं, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। नीचे के वाक्यों में प्रयुक्त विशेषणों पर ध्यान दीजिए।

28. क—उसने **ठंडा** पानी पिया।

ख—उसने पानी **ठंडा** पिया।

29. क—उसने पका आम खाया।

ख—उसने आम पका खाया।

(ख) वाक्यों में प्रयुक्त विशेषण असाधारण स्थान पर हैं और इसलिए ये बलात्मक हैं। किंतु इन वाक्यों में विशेषण किसी भी दशा में वाक्य स्तर पर नहीं आया है। संज्ञा से पूर्व भी वह संज्ञा पदबंध का अंग है और संज्ञा के पश्चात् भी वह संज्ञा पदबंध का अंग है। यही कारण है कि (ख) वाक्यों में संज्ञा और विशेषण के बीच में 'को' परसर्ग नहीं आएगा, 'उसने पानी को ठंडा पिया, उसने आम को पका खाया' वाक्य संभव नहीं है। हां, यह जरूर कह सकते हैं, उसने पानी को ठंडा करके पिया, उसने आम को पका करके खाया। किंतु ये बिलकुल भिन्न वाक्य होंगे। यह भी ध्यान देने की बात है कि (ख) वाक्यों में 'ठंडा' या 'पका' क्रिया की विलक्षणता भी नहीं दर्शाते। इस प्रक्रिया की दूसरी सीमा यह प्रतीत होती है कि केवल कर्म स्थायी संज्ञा पदबंध से विशेषण निकलकर वाक्य स्तर पर आता है। संप्रदान, करण आदि कारकों के स्थान पर आने वाले संज्ञा पदबंधों से विशेषण निकलकर वाक्य स्तर पर संभवतः नहीं आएंगे। यह भी दिलचस्प बात है कि संप्रदानपूरक, करणपूरक आदि की चर्चा भी नहीं सुनी जाती। दोनों परस्पर जुड़े हुए लगते हैं उदाहरण देखिए—

30. क—उसने अच्छे लड़कों को पुरस्कार दिए।

ख—उसने लड़कों को अच्छा पुरस्कार दिए।

31. क—उसने तेज चाकू से आम के दो हिस्से कर दिए।

ख—उसने चाकू से तेज आम के दो हिस्से कर दिए।

एक अन्य स्थिति है, जहां विशेषण संज्ञा पदबंध से निकलकर पूरक के स्थान पर अर्थात् वाक्य स्तर पर आ सकता है। यहां कर्म भी निर्वर्त्य है और उसका विशेषण भी निर्वर्त्य है। अभी तक ऊपर जिन वाक्यों पर विचार किया गया, उन सब में कर्म प्राप्य था। विशेषण भी सही मायने में निर्वर्त्य नहीं थे। अब हम जिन वाक्यों पर विचार करने जा रहे हैं, उसमें न तो कर्म प्राप्य है और न विशेषण।

32. क—उसने बड़ा मकान बनाया।

ख— उसने मकान बड़ा बनाया।

33. क—उसने चौकोर गला काटा।

ख—उसने गला चौकोर काटा।

(ख) वाक्यों में विशेषण बलात्मक स्थान पर है, और वाक्य स्तर पर है। यहां 'बड़ा' और 'चौकोर' पूरक हैं। जहां कर्म प्राप्य होगा, वहां यह विकल्प नहीं है। विशेषण का स्थान परिवर्तन करते ही अर्थभेद हो जाएगा। जैसे—

34. क—उसने चौकोर कपड़ा काटा।

ख—उसने कपड़ा चौकोर काटा।

(क) वाक्य का भाव है कि कपड़ा पहले से चौकोर है।

1. 2. 1. जैसे वाक्य के किसी घटक को उठाकर उसे अधिक बलात्मक बनाया जा सकता है वैसे ही वाक्य के किसी घटक को नीचे के स्तर पर ले जाकर उसे गौण बनाया जा सकता है। उपवाक्य स्तर के घटक को पदबंध का घटक बनाया जा सकता है। इस प्रक्रिया में संबंधवाचक 'का' की सहायता हम लेते हैं। उदाहरण देखिए—

35. क—मोहन को नहाने की इच्छा हो रही है।

ख—मोहन को नहाने की इच्छा हो रही है।

36. क—मुझे वे दिन याद आ रहे हैं।

ख—मुझे उन दिनों की याद आ रही है।

37. क—तुम्हें उनसे मदद मिलेगी।

ख—तुम्हें उनकी मदद मिलेगी।

38. क—मुझे इस बात से डर है।

ख—मुझे इस बात का डर है।

(क) वाक्यों में जो घटक वाक्य स्तर पर हैं, वे ही (ख) वाक्यों में पदबंध के घटक बन गए हैं। और इस तरह ये घटक गौणत्व को प्राप्त हुए हैं। किंतु पदबंध के घटक बनते हुए भी वे क्रिया की आकांक्षा से जुड़े हुए हैं। इसलिए इन्हें गुणीभूत कारक संबंधों की संज्ञा दी जा सकती है। (35-ख) में 'मोहन' गुणीभूत संप्रदान है। यह क्रिया से जुड़ा हुआ है, यह इस बात से प्रकट है कि इसे हटा देने पर वाक्य का पूर्ण अर्थ नहीं बनेगा, 'नहाने की इच्छा हो रही है।' यह पूर्ण वाक्य नहीं है। (36-ख) में 'वे दिन' गुणीभूत कर्ता है। (37-ख) में 'वे' गुणीभूत अपादान है। (38-ख) में 'यह बात' गुणीभूत करण अथवा कारण है।

इस प्रसंग में संज्ञा+क्रिया और विशेषण+क्रियावली संयुक्त क्रियाओं को उठाना रोचक होगा।

इन वाक्यों को देखें—

39. क—सत्संग **ज्ञान को विकसित** करता है।

ख—सत्संग **ज्ञान का विकास** करता है।

40. क—वह **ज्ञान संचित** कर रहा है।

ख—वह **ज्ञान का संचय** कर रहा है।

41. क—वह **कमरे को साफ** कर रहा है।

ख—वह **कमरे की सफाई** कर रहा है।

(क) वाक्य आधार वाक्य है। (ख) वाक्य उनसे व्युत्पन्न हैं। (ख) वाक्यों में ज्ञान आदि पदबंध के घटक होते हुए भी क्रिया की आकांक्षा से जुड़े हैं और जो घटक क्रिया की आकांक्षा से जुड़े हैं, उन्हें मूलतः वाक्य स्तर पर ही मानना चाहिए।

व्युत्पादन के मूल में का ·······ना प्रक्रिया को स्वीकार किया जा सकता है। विकास, संचय, सफाई आदि विशेषण से व्युत्पन्न संज्ञा हैं, जैसे धातु से व्युत्पन्न संज्ञाएं खाना, पीना, पढ़ना आदि हैं। विकास, संचय आदि भी खाना, पीना आदि की तरह भाववाचक है। इस व्याख्या को स्वीकार कर लेने पर विकसित करना तथा विकास करना को संयुक्त क्रिया मानना आवश्यक नहीं होगा।

1.3. इस तरह वाक्य के किसी घटक को बलात्मक बनाने के दो तरीकों की चर्चा संक्षेप में पूरी हुई। किसी घटक को बलात्मक बनाने के सभी तरीकों का विस्तृत अध्ययन भाषा की अन्य जटिल समस्याओं को सुलझाने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।

विचार-विमर्श

के० के० शर्मा—

मेरे मित्र डा० चतुर्भुज सहाय ने अभी हिंदी संरचना संबंधी एक समस्या-मूलक लेख प्रस्तुत किया। इस पर मेरी दो छोटी जिज्ञासाएं हैं—पहली जिज्ञासा तो यह है कि "पका आम खाया" और "आम पका खाया" में दूसरा वाक्य किस तरह संभव है? हिंदी में तो यह वाक्य असहज ही लगेगा और क्रिया क्रिया-विशेषण की ओर ही संकेत करेगा न कि विशेषण की ओर। मेरा दूसरा प्रश्न है—"घर बनाया" रचना में प्राप्य क्या है?

चतुर्भुज सहाय—

मैं यह दिखाना चाहता हूं कि एक को निकाल कर वाक्य स्तर पर नहीं ले जा सकते। यानी "क" संभव है "ख" संभव नहीं है। मैंने जैसे कहा है कर्म संबंध को निकालकर संप्रदान करण संबंध को निकालकर वाक्य स्तर पर नहीं ले जा सकते। इससे कारण का निर्धारण हो गया।

दूसरा प्रश्न प्राप्य के संबंध में है। प्राप्य का मतलब वह कर्म जो पहले से है। उसने घर बनाया अर्थात् घर पहले से नहीं था, बनाया। व्यापार के आने से पहले कर्म है तो प्राप्य है अगर नहीं है निर्वत्य है।

के० के० शर्मा—

अगर खाने पर हम बल देना चाहें तो, तो कहें 'उसने पका आम खाया' पर असामान्य स्थान पर 'पका' को रखकर इस तरह का प्रयोग नहीं कर सकते। बलाघात से तो कर सकते हैं। अंग्रेजी को ध्यान में रखकर ऐसे वाक्य बनाते हैं। "पका" मेरे एक्सप्रेशन से व्यक्त होगा न कि स्थान परिवर्तन से।

जे० सी० शर्मा—

मुझे भी लगता है कि यह वाक्य कुछ गलत है। "आम पका कर खाया" पका कर यह विशेषण के रूप में नहीं है। किसी भी तरह से यह ठीक नहीं है।

एस० के० वर्मा—

अभी जो पत्र पढ़ा गया है इससे पहले मैं एक टिप्पणी दूंगा। टिप्पणी यह है कि भाषाओं को दो वर्गों में बांटा जा सकता है। एक तो ऐसी भाषा है जहां पदों का क्रम निश्चित होता है, दूसरी ऐसी भाषाएं जहां पदों का क्रम निश्चित नहीं होता अर्थात् free order languages और Fix order languages जहां पदों का क्रम निश्चित है वहां बहुत सारे Syntactic activities होती हैं शब्द निर्माण के लिए। Topic या विषय बनाने के लिए। उसको objective कहते हैं। Pseudoclefting कहते हैं, Clefting कहते हैं यानी Syntax के रूप हो सकते हैं। लेकिन जहां पदों का क्रम मुक्त है वहां उसको कैसे प्राप्त किया जाये। वहां हम Clefting के द्वारा या Pseudoclefting के द्वारा या fronting के द्वारा कर लेते हैं। अब हमारा प्रश्न यह है कि विषय और क्रम में क्या अंतर है? अगर हम एक छोटा-सा वाक्य लें—

'मैं रोटी खाता हूं'

'रोटी मैं खाता हूं'

अर्थात् रोटी मैं खाता हूं पराठे कोई और खाता है। क्या 'रोटी' यहां Topicalization का केस है और 'मैं' बल का केस है। या दोनों बल का केस है।

चतुर्भुज सहाय—

वैसे हिंदी में बल देने के कई तरीके हैं। सबके उदाहरण नहीं दिये गए। 'रोटी मैंने खाई' में "रोटी" पर जो बल है वह आर्डर बदल देने के कारण है। सामान्य स्थान पर जहां कर्म का आना चाहिए वहां नहीं आया। वाक्य के आरंभ में है। अतः "रोटी" पर ज्यादा बल है। रोटी ही खाई पराठे नहीं खाये। "मैं पर अगर बल देते हैं तो आप उच्चारण के माध्यम से बल दे रहे हैं। ये भी संभव है कि एक ही Item पर आर्डर भी बदल दें उसका लेबल भी बदल दें। ये हो सकता है कि हम एक साथ कई साधनों का प्रयोग करें या यह भी हो सकता है कि इनमें से किसी एक का इस्तेमाल करें। जहां तक मैं समझता हूं कि 'रोटी मैंने खाई' में 'रोटी' बल क्रम के कारण हुआ है साथ-साथ हम रोटी पर बल भी देते हैं। मैं पर बल स्ट्रेस के कारण हुआ।

एस० के० वर्मा—

अगर "मैं" पर बल है तो वक्ता का विषय रोटी है। आप रोटी के पीछे पड़े हैं। रोटी मैंने खाई, पराठे किसी और ने खाये।

चतुर्भुज सहाय—

ये हो सकता है कि आप "रोटी" पर बल देना चाहते हों "मैं" पर नहीं। ये संभव है कि आप एक साथ वाक्य के कई एटम पर बल दें। एक साथ दो पर बल देना चाहते हैं। इस तरह कई तरीकों में से एक तरीका अपना सकते हैं।

एस० के० वर्मा—

आपका यह कहना है कि अगर हम एक स्थान से दूसरे स्थान पर शब्द को ले जायें तो बल हो जाता है। पहले तो यह सत्य नहीं है, वह विषय के रूप पर निर्भर करता है।

चतुर्भुज सहाय—

विषय कैसे?

एस० के० वर्मा—

विषय अर्थात् Locative। अगर कोई प्रसंग लें तो उसके दो अंग होते हैं, पहला—Non normal और दूसरा—Locative। Non normal को अगर किसी स्थान से प्रथम स्थान पर ले आयें तो वह हमारा विषय (Topic) हो जाता है।

चतुर्भुज सहाय—

जहां तक बल देने की बात है यह जरूरी नहीं कि हम रोटी को पहले ले आयें। हम उस वाक्य के अंत में भी ले जा सकते हैं। यानी कि सामान्य कर्ता, कर्म, क्रिया के इस क्रम को तोड़ देना। इस क्रम को तोड़ने से उसकी स्थिति बदल जाती है। साथ-साथ हम यह भी कह सहते हैं कि शब्द को शुरू से उठाकर अंत में ले जायें।

(i) हिंदी की लिंग-व्यवस्था

(अहिंदी प्रदेशों में हिंदी शिक्षण के संदर्भ में)

—एच. परमेश्वरन

1. दक्षिण के हिंदी विद्यार्थी हिंदी भाषा की लिंग व्यवस्था को लेकर काफी शिकायत करते हैं। इसका कारण यह है कि द्रविड भाषाओं में और संस्कृत में पुल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग, तीन लिंगों की व्यवस्था है जबकि हिंदी में दो ही लिंग माने गए हैं। पुल्लिग और स्त्रीलिंग, दो ही लिंगों की व्यवस्था में शब्दों के लिंग निर्णय का कोई निश्चित आधार बताया नहीं गया है। न प्राकृतिक लिंग व्यवस्था चल सकती है, न ही शब्दों के अंत के आधार पर लिंग निर्णय हो सकता है। शब्दों का अर्थ भी लिंग निर्णय में हमारी सहायता नहीं करता। 'दाढ़ी' और 'मूंछ' हिंदी में स्त्रीलिंग हैं, जिनका संबंध केवल पुरुषों से है। 'जूड़ा' और 'लहंगा' पुल्लिग है; 'सेना' और 'पुलिस' स्त्रीलिंग। भारत की राजभाषा के विषय में चर्चा करते हुए अहिंदी भाषी लोग हिंदी व्याकरण की ऐसी छोटी-मोटी अव्यवस्थाओं को तूल पकड़ा देते हैं।

2. जब कोई भाषा कई हज़ार लोगों से बोली जाती है तो यह निश्चित है कि वह भाषा व्यवस्थित है। अगर वह अव्यवस्थित हो तो वह विचार-विनिमय का माध्यम नहीं रह सकती। हिंदी चूंकि लाखों लोगों से बोली जाती है—मातृ भाषा के रूप में और अन्य भाषा के रूप में—अतः व्याकरणिक लिंग-व्यवस्था सहित सभी पहलुओं में उसके व्याकरण का पूर्ण और व्यवस्थित होना अनिवार्य है।

3. केलॉग से लेकर आर्येन्द्र शर्मा तक के द्वारा लिखे गए सभी मानक व्याकरण ग्रंथों में हिंदी की संज्ञाओं का, प्राकृतिक लिंग व्यवस्था के आधार पर प्राणिवाचक और अप्राणिवाचक के रूप में वर्गीकरण किया गया है। प्राणिवाचकों को पुनः आर्थिक कोटियों में विभक्त किया गया है। अप्राणिवाचक संज्ञाओं में तो लिंग निर्णय का आधार उनका रूप अथवा अंत (Ending) है। साथ ही हर नियम के पीछे अपवादों की एक लंबी सूची भी दी गयी है। वैसे, ये समूह और सूचियां स्वतंत्र भाषा सीखने वालों के दिमाग पर बोझ हैं; ऊपर से हर नियम के पीछे जुड़ी

हुई अपवादों की सूची और अधिक समस्याएं उत्पन्न करती हैं। हिंदी लिंग-व्यवस्था का सूक्ष्म और विस्तृत विश्लेषण करते हुए दीमशित्स (1966) ने हिंदी वाक्य-रचना में लिंग का महत्व स्वीकार किया है और शब्दों के लिंग निर्णय के निश्चित और सरल आधार खोज निकालने की आवश्यकता पर जोर दिया है। तदनुसार उन्होंने कुछ सामान्य नियम दिये हैं और संज्ञाओं की कुछ लंबी सूचियां दी हैं; उन संज्ञाओं के पुल्लिग या स्त्रीलिंग मानने के औचित्य पर भी प्रकाश डाला है। लेकिन उनके बनाये नियमों के भी अपवाद मिलते हैं। उनके निबंध को पढ़ते हुए प्रारंभ में बड़ी आशा बंधी थी, पर अंत में उन्होंने भी कुछ परंपरागत नियम ही दिये हैं। विस्तार भय से वह लंबी सूची और अपवादों की सूची मैं यहां प्रस्तुत नहीं कर रहा हूं।

4 केरल विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग में दक्षिण भारत की चारों भाषाओं को आसानी से सिखाने के लिए "सगोत्रीय/सजातीय भाषा शिक्षण पद्धति" को रूप दिया गया था। इसके अनुसार मलयालम भाषियों को कन्नड, 'तेलुगु' तमिल, कन्नड भाषियों को तमिल, मलयालम तेलुगु इस क्रम से भाषायें सिखायी जाने लगीं। केरल के FACT के कार्यकर्ताओं के लिए ऐसे दो-चार शिक्षण शिविर भी आयोजित हुए थे। इसी पद्धति को अपनाकर केरल के सरकारी कार्यालयों के कर्मचारियों को हिंदी सिखाने की एक योजना, परीक्षणार्थ, स्वीकृत हुई; गृह मंत्रालय की ओर से आर्थिक सहायता प्रदान की गयी थी। हिंदी और मलयालम में संस्कृत, अरबी और अंग्रेजी के जो समानार्थी शब्द व्यवहृत हैं, समान मुहावरे प्रचलित हैं, उन्हें आधार बनाकर एक पाठ्य-पद्धति तैयार की गयी थी। उस सिलसिले में भाषाविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० वी० आई० सुब्रह्मण्यम के नेतृत्व में डा० परमेश्वरन, प्रोफेसर के० एस० चिदम्बरम और श्री अरुण चतुर्वेदी ने छह महीने तक काम किया था। यह अनुभव किया गया कि जो लिंग-व्यवस्था स्वयं अध्यापकों को असमंजस में डालने वाली है विद्यार्थी उसे कैसे आत्मसात् करे? यह समस्या बहुत दिनों तक हमें उलझन में डालती रही। पर साथ ही हम यह अनुभव करते रहे कि उस व्यवस्था को हमने ढूंढ नहीं निकाला तो दोष भाषा या व्याकरण का नहीं, हम अध्येताओं का रहेगा।

5. हिंदी संज्ञाओं की वचन-व्यवस्था पर चर्चा चल रही थी तो हमने यह पाया कि पुल्लिग या स्त्रीलिंग संज्ञाओं के साथ लगने वाले बहुवचन प्रत्यय बिलकुल व्यवस्थित हैं। कहीं कोई अपवाद नहीं। संज्ञाओं के अंत में बहुवचन प्रत्यय का न होना यह सूचित करेगा कि वह एकवचन है। संज्ञाओं के साथ लगने वाले बहुवचन सूचक प्रत्ययों के आधार पर हम यह सही अनुमान कर सकते हैं कि वह संज्ञा पुल्लिग है या स्त्रीलिंग। 'दाढ़ी' इसलिए स्त्रीलिंग है कि उसके साथ 'यां' बहुवचन प्रत्यय लगता है। 'जूड़ा' पुल्लिग इसलिए है कि उसके साथ 'आ > ए' वाला प्रतिस्थापक बहुवचन प्रत्यय लगता है।

6. हिंदी बहुवचन प्रत्ययों का वितरण निम्न प्रकार का होगा :

स्त्रीलिंग बहुवचन

{—एँ} । ~—ँ~—याँ~—एँ ।

/~—ँ/ '—या' के बाद

उदा० चिड़िया—चिड़ियाँ

डिबिया—डिबियाँ

/~—याँ / 'इ' के बाद

तिथि—तिथियाँ

रोटी—रोटियाँ

/~एँ/ अन्यत्र

बांह—बाँहें

माला—मालाएँ

बहू—बहुएँ

पुल्लिंग बहुवचन प्रत्यय

{—आ > ए] /~—आ > ए, ~—ϕ /

/~—आ > ए/ '—आ' के बाद

कमरा > कमरे

लोटा > लोटे

कपड़ा > कपड़े

/~—ϕ/ अन्यत्र

घर > घर

हाथ > हाथ

मोती > मोती

झाड़ू > झाड़ू

स्त्रीलिंग बहुवचन प्रत्ययों की एक विशेषता है उनके साथ लगी हुई अनुनासिकता। पुल्लिंग बहुवचन के प्रत्ययों में अनुनासिकता का अभाव है। इस आधार पर किसी भी संज्ञा के बहुवचन रूप को देखकर उसका लिंग पहचाना जा सकता है।

7. अहिंदी प्रदेशों में हिंदी लिंग-व्यवस्था सिखाने के लिए हमारा सुझाव है कि संज्ञाओं के बहुवचन रूप उन्हें पहले बता दिये जायें। उनके साथ ही उन शब्दों का लिंग समझने का तरीका भी सिखा दिया जाए। कोई भी संज्ञा बहुवचन प्रत्यय के आधार पर पुल्लिग या स्त्रीलिंग समझी जाएगी। अब तक के वैयाकरण संज्ञाओं के एकवचन रूपों की सूची बनाकर लिंग-निर्णय करते थे, उसमें काफी अनिश्चितता रही। इसके विपरीत संज्ञाओं के बहुवचन रूप उनके लिंग का निर्णय करने में बहुत ही सहायक सिद्ध हो रहे हैं। जिन संज्ञाओं के बहुवचन रूपों के अंत में अनुनासिकता हो वे निस्संदेह स्त्रीलिंग और जिन संज्ञाओं के बहुवचन रूपों के अंत में अनुनासिकता न हो, वे पुल्लिग हैं।

एकवचन रूपों के बदले पहले बहुवचन रूप सिखाना एक प्रकार से उलटी गंगा बहाना कहा जा सकता है। फिर भी अहिंदी भाषी बच्चों के लिए पाठ्य-सामग्री तैयार करते हुए एकवचन रूपों के साथ उनके बहुवचन रूप का भी समावेश कर दिया जाए तो भी समस्या का एक हद तक समाधान हो जाए।

पाठ्य-सामग्री में ही बहुवचन रूपों का समावेश करना अगर अस्वाभाविक लगे तो हर पाठ्य-पुस्तक के अंत में उस पुस्तक में प्रयुक्त अप्राणिवाचक संज्ञाओं की सूची, उनके बहुवचन रूपों के साथ दे देना भी पर्याप्त होगा।

(ii) हिंदी में भविष्यत्काल सूचक प्रत्यय—एक नोट

—एच. परमेश्वरन

1 'कृतिप्रयाः उदीच्याः' कहकर हिंदी के सभी पुराघटित (Perfective) और घटमान (Imperfective) क्रिया रूपों को कृदन्तों पर आधारित बताया गया है। 'पढ़ा' और 'पढ़ता' रूपों के साथ 'हो' सहायक क्रिया के रूपों को मिलाकर भूतकाल और वर्तमान काल के सभी रूपों की रचना होती है। इन समस्त रूपों की रूपरेखा निम्न प्रकार से दी जा सकती है।

	धातु+	काल प्रत्यय+	लिंग वचन	सहा० धातु+	पुरुष वचन
जैसे	1. पढ़्	त्	आ	ह्	ऐ
	2. खा	य्	आ	थ्	आ

इसी तरह घटमान और पुराघटित क्रिया रूपों की व्याख्या हो सकती है। कृदन्तों पर आधारित काल रचना होने के कारण काल प्रत्यय के तुरंत बाद लिंग-वचन प्रत्यय लगता है। पुरुष-वचन प्रत्यय क्रिया की पूर्णता को द्यौतित करने वाली सहायक-धातु के साथ लगता है।

2. अब भविष्यत्काल रूपों को लेंगे। हिंदी में दो ही मूल काल रूप हैं—वर्तमान संभावनार्थ और वर्तमान आज्ञार्थ। पढ़े और पढ़ो। इन वर्तमान आज्ञार्थ रूपों के साथ गा, गे या गी लगाकर भविष्यत्काल रूपों की रचना होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि 'ग्' को भविष्यत्काल सूचक प्रत्यय माना जाए या नहीं?

3. साधारण रूप से काल प्रत्यय धातु के तुरंत बाद लगता है, लिंग-वचन या पुरुष-वचन प्रत्यय उसके उपरांत ही लगते हैं। यहाँ तो धातु के तुरंत बाद पुरुष-वचन लगा है। उसके बाद भविष्यत्काल सूचक 'ग्' और अंत में लिंग वचन। धातु के तुरंत बाद काल प्रत्यय लगे यही उचित लगता है।

3. इसलिए सुझाव यह है कि हिंदी में एक शून्य भविष्यत्काल प्रत्यय की कल्पना की जाए। ऐसी स्थिति में 'ग्' को भविष्यत्काल में क्रिया पूरक सहायक धातु माना जा सकता है। तब इसका रूप यों होगा—

धातु+	शून्य भवि० काल+	पुरुष वचन+	सहायक 'ग्'+	लिंग वचन	
पढ़्	ϕ	ऊँ	ग्	आ	
चल	ϕ	एँ	ग्	ए	आदि

4. 'ग्' को भविष्यत्काल का क्रियापूरक मानने के पक्ष में बताया जा सकता है कि कई भाषाओं में 'गम्' धातु के रूपों से भविष्यत् अर्थ निकाले जाते हैं।

जैसे—I am going to talk tomorrow.

ञान् नाके संसारिक्कान पोकुन्नु (मलयालम)
नान् नाकै पेशप्पोकिरेन् (तमिल)

THINGS GRAMMARIANS OF HINDI NEED TO DO

—Peter E. Hook

man honaa, man karnaa, jii caahnaa, etc.

a (meraa) yah man huaa ki wahii se fauran cal dUU.

b (tumhaaraa) kahII calne ko (kaa) man kartaa hai ?

c (meraa) jii caahaa ki apne bhaaii se milUU.

Disappearing kaa (kii) of patient.

d bhaiyaa ne apnii taaqat istemaal kii

e diidii ne apnii aqal kaa istemaal kiyaa

X (kii) yaad aanaa	X (kaa) anuohaw karnaa
X (kii) naql karnaa 'to copy X'	X (kaa) prayog karnaa
X (kii) talaaS karnaa	X (kaa) tyaag karnaa
X (kii) kalpanaa karnaa	X (kaa) oayaan karnaa
	X (kaa) daan denaa

Somblementizers : V, V-naa, V-ne, V-ne ko, V-ne par, V-te, V-te, etc.

governing V-naa : caah, siikh, sikhaa, aa, oapne kar, chon, suiuu kar, jaan, oa, caahiye, ho,

governing V-ne de, lag.

governing V-ne ko : kah, taiyaar ho, jii caah, raazii ho,

governing V-ne par : etraaz ho, majouur kar, aamaadaa ho, manaa,

Transitivity operations :

derived transitives : uTh→uThaa, oii→oilaa

derived antitransitives : khol→khul, dho→dhul, pilaa→pii
baccii mujhase duudh nahII piitii

causatives : uThaa→uThwaa, dho→dhulaa (dhulwaa)

derived transitive ko-expressions : yaad aa→yaad karaa/dilaa
taiyaar ho→taiyaar karaa,

causatives of intransitives : bec→bik→bikwaa,

DhiKhorcii cuTkule sunaakar behut se TikaT bikwaa rahaa thaa.

विचार-विमर्श

पीटर हुक—

मैंने अपने लेख में जिन मुद्दों को उठाया है, उस पर अभी तक कुछ भी कार्य नहीं हुआ है। विशेषकर "की" और "का" के साथ आने वाले क्रियाएं (की याद आना और का दान करना) क्रिया के 'ना' ने के बाद आने वाली क्रियाएं (जाना चाह, खाने लग) इसी प्रकार "खोले" का "खुल" वर्ग की क्रियाएं तथा "धो" का "धुला" वर्ग की क्रियाएं ऐसी हैं जिन पर बहुत कार्य किया जा सकता है। इस दिशा में कुछ भी कार्य मुझे उपलब्ध नहीं हुआ।

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव—

अभी पीटर हुक ने जो बात कही उसके संदर्भ में मुझे खेद पूर्वक कहना पड़ रहा है कि वे हमारे विश्वविद्यालय में साल डेढ़ साल से हैं। पर उन्होंने कभी हमसे इस बारे में बात नहीं की, जबकि ऐसा कार्य वि० वि० विद्यालय में मिलेगा और कुछ कार्य हम लोग भी कर रहे हैं। अगर वे अपनी समस्या हमारे सामने रखते तो हम उनकी सहायता कर सकते थे।

गोपाल शर्मा—

हमारे यहां इतना काम हुआ है पर सारा कार्य एक जगह नहीं मिलता। अतः यह भ्रम होता है कि कोई कार्य किया गया है कि नहीं? हिंदी का इतना विशाल क्षेत्र है और उसके प्रयोग में इतना वैविध्य है कि हम हिंदी भाषा को Institutional Linguistics के रूप में एक भाषा मानते हैं। जब तक सारे आंचलिक प्रयोगों का documentation नही होगा, जब तक साहित्य को एकमात्र मानक साहित्य मानकर चलेंगे और जनपदीय साहित्य को ध्यान में रखते हूए documentation नहीं करेंगे तो ये सारे प्रयोग जो कि हिंदी में लिखित साहित्य के माध्यम से आ रहे हैं, जी करना, जी होना, मन होना इन सबकी विविधताओं का लाभ नहीं मिलेगा। मैंने तेलुगु अकादमा न बहुत बड़ काश काय के संदर्भ में यह पूछा

कि क्या इस कोश में तेलुगु के तीन स्तर Classical, Modern और Dialect तेलुगु के सारे क्रियापद मिल जाएंगे? शायद किसी भी भारतीय भाषा में ऐसा कार्य नहीं हुआ है। तेलुगु अकादमी में एक कार्य हुआ था कि मजदूरों की शब्दावली इकट्ठी की जाए। दो इलाकों की शब्दावली एक जैसी नहीं थी। मेरा जवाब पीटर भाई से यह है कि सारी सामग्री अपने सामने रखें तो आपको अपने सवाल का जवाब मिल जाएगा। Learner's dictionary, dictionary of adjectives आदि अब तैयार की जा रही है।

दूसरी बात हमने इस सारे वातावरण में यह देखा कि व्याकरण की कल्पना को शिक्षा में साकार रूप कैसे मिलता है? इसका उत्तर अभी अध्यक्ष महोदय ने दिया कि हम इसको व्यावहारिक रूप में देखते हैं पर Model को व्यावहारिक रूप देकर कक्षा में प्रयोग करने लायक बना दें. वहीं समाप्त नहीं होता। किसी भी बालक को जो कि स्कूल व्यवस्था में और Education एक संपूर्ण Entity माना जाता है। उसकी learning gestalt मानी जाती है। जब भी हम व्याकरण भाषा शास्त्र की दृष्टि से विचार करते हैं तो भाषा व्याकरण तक सीमित हो जाती है किंतु वह भाषा के प्रयोग को जीवन के संपूर्ण विकास का एक अंग बना कर नहीं चलती।

हम उन Mechanical devices की बात करते हैं जो Sophisticated learning की devices की होती है। हमें व्याकरण और भाषा को साथ लेते हुए पूर्ण अधिगम के जितने भी प्रचलित-अप्रचलित कल्पनात्मक सहारे मिल सकते हैं उनके सहारे व्याकरण और भाषा अध्यापन करना चाहिए। इसका एक उदाहरण जोशी ने प्रस्तुत किया। एक और उदाहरण सबेरे प्रस्तुत किया गया। केवल प्रेरणा व्याकरण से नहीं मिलती। उसका total experience, इतिहास भूगोल सबसे होता है जिसमें वह भाषा पढ़ रहा है। भाषा का विस्तार हो रहा है। इन सब विषयों में वह एक अकेली भाषा नहीं पढ़ रहा है। उसके व्यक्तित्व का विकास हो रहा है। विभिन्न चीजों के माध्यम से भाषा उनमें से एक है। इसको दृष्टि में रखते हुए पूरे Pedagogical situation में भाषा का क्या स्थान है? उसको मनोरंजक कैसे बनाया जा सकता है? Creative कैसे बनाया जा सकता है? एक Creative व्याकरण है हमारे यहां जो चाम्स्कीयन व्याकरण से जुड़ जाता है और रूपांतरण के द्वारा नई संरचनाएं बना सकता है। हमें अपने पुराने व्याकरण को भी साथ लेना है और बच्चे को अनेक Models और Suggestions के द्वारा कितना क्रियाशील बना सकते हैं यह भी व्याकरण वालों का काम है। यह उसकी भाषा क्षमता को बढ़ाता है। यह Selectivity का मामला नहीं है। इस Selected Material को पूरे शैक्षिक वातावरण में कितने प्रकार से सक्रिय बनाते हुए व्यक्तित्व के विकास में सहायक बना सकते हैं, इस पर विचार करना है।

समापन

समापन-सत्र

अध्यक्ष : श्री मोटूरि सत्यनारायण

मुख्य अतिथि : श्री गोपालराव एकबोटे

समापन-भाषण

डा० गोपाल शर्मा

धन्यवाद—ज्ञापन

डा० पीटर ई० हुक

डा० वी० रा० जगन्नाथन

गोपाल शर्मा—

उपस्थित विद्वज्नो, अतिथियो तथा विद्यार्थियो । संगोष्ठी का यह समापन सत्र है । इस अवसर पर संस्थान के अध्यक्ष सत्यनारायण जी यहां उपस्थित हैं । उनकी सेवाओं से आप सभी परिचित हैं । हिंदी और तेलुगु दोनों के लिए समान रूप से उनकी सेवाएं महत्वपूर्ण बन चुकी हैं । आपने हिंदी का काम तब शुरू किया था जब हिंदी एक मूल्य मानी जाती थी और आप उसके मूल्य बने रहने के लिए निरंतर संघर्ष करते रहे । पार्लियामेण्ट में भी, अनेक रूपों में इसके मूल्य बनाए रखने के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के माध्यम से भी कार्य किया है । जैसे सभी मूल्यों का विघटन हुआ है वैसे ही हिंदी मूल्य का भी विघटन हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है । पर उसने अपना थोड़ा रूप परिवर्तित किया है । जो भावात्मक चीज थी वह व्यावहारिक चीज बन गई है । इस संस्थान में जो काम हो रहा है उसे आपके सुदीर्घ अनुभव और विचारों से बड़ा लाभ पहुंचा है और उसके प्रोग्राम बनाने में सहयोग मिला है । हमारे श्री एकबोटे जी हैदराबाद ही क्या भारत के प्रसिद्ध विधिवेत्ता हैं । आपने राष्ट्रभाषा के संबंध में बड़ा कार्य किया है । उसे प्रशासन में लाने के लिए, न्याय में लाने के लिए, राजभाषा के रूप में प्रचारित करने के लिए, अनेक रूपों में सेवा की है । उनके न्यायिक चिंतन का लाभ हमें समय-समय पर रेगुलेशन बनाने में मिलता रहा है । सूचना के लिए यह बताना चाहता हूं कि अभी-अभी एक प्रकाशन हुआ है उसमें एक विदेशी विद्वान ने लिखा है कि तेलुगु के 5 करोड़ लोग उन तीन राष्ट्रों की भाषाओं के बराबर हैं, जो यूरोप के तीन देश बोलते हैं । तेलुगु अपने आप में इतनी महत्वपूर्ण भाषिक इकाई है कि उसे अपनी सांस्कृतिक आत्मा को जागृत करने के लिए कोई कारण नहीं कि उसे अपने सभी कामों के लिए तेलुगु को स्वीकार न करें । हमारी एक भाषा का क्षेत्र तो इतना बड़ा है जितना कि यूरोप का एक-एक राष्ट्र है, यद्यपि सांस्कृतिक रूप से हम एक हैं । प्राचीन काल में भी किसी एक भौगोलिक खंड को भारत नहीं कहा जाता था । सांस्कृतिक भावना से हम राष्ट्र थे । आज हमारी भौगोलिक रेखाएं बन चुकी हैं और उसमें प्रत्येक भाषा का महत्व हमेशा रहा है और उसमें से हिंदी निकली है । इन शब्दों के साथ मैं आज के मुख्य अतिथि श्री गोपालराव एकबोटे जी से अनुरोध करूंगा कि वे अपने विचार व्यक्त करें ।

गोपालराव एकबोटे—

मैं संस्थान के पदाधिकारियों का आभारी हूं कि उन्होंने मुझे इस संगोष्ठी के समापन समारोह में आमंत्रित किया । मैं व्याकरण को हमेशा क्लिष्ट विषय समझता रहा अपने विद्यार्थी काल में । जब मैं विधि के क्षेत्र में दाखिल हुआ तो मुझे भाषा के उपयोग और एक शब्द के सही अर्थ का महत्व मालूम हुआ । यद्यपि अंग्रेजी भी अभी तक इतनी समृद्ध नहीं हुई है कि उसका एक ही तकनीकी अर्थ हो और कोई भाषा हो

भी नहीं सकती। हमारे विधि के क्षेत्र में संश्लेषण भी आता है और विश्लेषण भी और इसके लिए हमें व्याकरण के नियमों से परिचित होना अनिवार्य हो जाता है। पहला ये नियम है कि जहां शब्द या वाक्य भाषा के रूप में या अर्थ के रूप में स्पष्ट हो तो सामान्यतः वही अर्थ लिया जाए जो निकलता है। अगर एक से ज्यादा अर्थ निकलता है तो व्याकरण की दृष्टि से जो अर्थ निकलता है वही लिया जाए। पर यह भी अंतिम नियम नहीं माना गया। व्याकरण की दृष्टि से अर्थ निकलने में अगर अर्थ न निकल रहा हो तो आप कानून बनाने का जो मुख्य उद्देश्य है उसे ध्यान में रखकर शब्द और वाक्य का अर्थ निकालें। बाईबल के किसी अनुवादक ने कहा था कि—

Whenever grammar comes in my way I pray God help the Grammar.

संस्कृत भाषा में व्याकरण का बहुत महत्व था। अतः पाणिनि, पंतजलि जैसे व्याकरणकारों ने व्याकरण को बहुत महत्व दिया। अब प्रश्न यह उठा कि क्या भाषा सिखाने के लिए व्याकरण आवश्यक है। कई साहित्यकार भाषा में व्याकरण दोष होने पर भी महान माने गए। इस तरह साहित्य एक कला है। भाषा को क्रमबद्ध अनुशासनबद्ध बनाना है और लोगों तक ठीक ढंग से पहुंचाना है तो व्याकरण की आवश्यकता है।

मेरे नजदीक भाषा, संस्कृति, व्याकरण इन सब का अटूट संबंध है। एक को छोड़कर दूसरे का आकलन नहीं किया जा सकता। चाहे कोई भाषा हो अगर उसे हम सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हैं तो उसे हम समग्र रूप से देखेंगे। हिंदी को मैं केवल प्रशासन की भाषा नहीं मानता। राष्ट्रभाषा के रूप में जो हमने माना है वह संपर्क की भाषा होगी। निश्चित रूप में हमारे दसवीं शती के संतों ने चाहे उत्तर के हों या दक्षिण के, सारे भारत में इसका प्रयोग किया था उसी को समृद्ध बनाना है। सभी प्रादेशिक भाषाओं और हिंदी का, जो ऊपरी तौर से अलग हैं, अंतःप्रवाह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश रहा है। अगर उन्हें हम सांस्कृतिक रूप से एक बनायें तो सारी भाषाएं एक हैं। मैं तो सामासिक संस्कृति को समन्वित संस्कृति कहना चाहूंगा क्योंकि यहां विविध संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति में समन्वय होता है। यहा जो विभिन्न संस्कृतियों का जो हिंदी में समन्वय है। उसी ढंग से हमें मराठी को भी समन्वित करना पड़ेगा, तेलुगु को भी संपन्न करना पड़ेगा। जब एक-दूसरे के करीब सारी भाषाएं आएंगी, जिसका अंतःप्रवाह एक है, प्राण एक है, भारतीय समाज की समन्विति का माध्यम बनेगा। जब तक साहित्य को गतिमान, परिवर्तनशील न मान लें उस वक्त तक भाषा की वृद्धि नहीं होगी। साहित्य को जानने वाले 30% ही हैं लेकिन भाषा जानने वाले 70% हैं। सामान्य जन की भाषा और साहित्यिक भाषा प्रशासन की भाषा और बोलचाल की भाषा अलग रहेगी। जब

तक हम सारी भाषाओं से शब्दों को न लें, शैली को न बदलें, शब्द प्रयोग न लें, उस वक्त तक मैं नहीं समझता कि हिंदी में सातत्यता जो रही है वह बनी रहेगी। क्या आप व्याकरण को भी सातत्यशील, परिवर्तनशील मानेंगे? कि नहीं? दक्षिण के व्याकरणों में समता होगी क्योंकि अंतःप्रवाह संस्कृत से है। इसलिए उसमें Rigidity होगी, उनके रूप, शैली, शब्द भंडार, शब्द संग्रह के लिए आप व्याकरण का उपयोग किस तरह करने वाले हैं? चाहे आप जितनी चर्चा पाणिनी पर करें या पतंजलि पर, आपको बी० एड० आदि में जो हिंदी पढ़ाई जा रही है उसमें वह सातत्यशीलता है या नहीं, यह देखना होगा।

एक अंतिम प्रश्न है कि हमने अगर एक शिक्षक को सही राह पर डाल दिया तो पांच-छह पीढ़ियां उसी के रास्ते पर चलेंगी। इसलिए व्याकरण का महत्व, चाहे वह विज्ञान हो या कला, जब तक सातत्यता, गतिशीलता को सामने रखकर आप उतनी ही परिवर्तनशीलता व्याकरण में लाने को तैयार है या नहीं? नहीं तो आजकल व्याकरण को अनावश्यक मानने वाले भी हैं। अशिक्षित लोगों में जो भाषा बोली जाती है, और जो भाषा गांवों में बोली जाती है, इन दोनों को समन्वित करके भाषा का व्याकरण बनना चाहिए। भाषा और संस्कृति को छोड़ कर अगर आप व्याकरण को अलग जानना चाहें तो भाषा और समाज आपके लिए नहीं रुकेगा। वह आगे बढ़ता रहेगा।

मोटूरि सत्यनारायण—

श्री गोपाल शर्मा जी, संगोष्ठी के आयोजक विद्वज्जनो, सज्जनो, देवियो। मुझे आश्चर्य हुआ था कि व्याकरण के लिए भी कोई संगोष्ठी की आवश्यकता है। मैं नहीं जानता था कि मैं इतना अज्ञानी हूं। जब मैं हिंदी पढ़ता था तो मानता था कि संसार में सबसे सरल व्याकरण है तो हिंदी का। पर यहां आकर मैंने जो भाषण सुने तो मैं बौखला गया कि मैं कितना अज्ञानी हूं। व्याकरण के बारे में इतना अच्छा ज्ञान न होने पर भी मैं हिंदी भाषा इतनी अच्छी कैसे बोल लेता हूं। यही अज्ञान मेरा ज्ञान भी है। सारा संगीत ताल से निबद्ध है लेकिन भाषा इतनी स्वतंत्र है कि व्याकरण के अंतर्गत नहीं आती। अगर कोई लाना चाहें उसे उसी जमाने में जाना पड़ेगा जो पाणिनि से पहले थी पाणिनी ने सोचा था कि भाषा अनियंत्रित है और उसे नियंत्रित करने की कोशिश की। लगता है आज व्याकरण वहीं पर है जहां पर पाणिनी ने शुरू किया था।

जैसे समाज गतिशील है वैसे भाषा भी गतिशील है। अतः व्याकरण को भाषा में क्या हो रहा है, क्या हुआ इस पर विचार करना चाहिए। क्या नहीं होना चाहिए इस पर विचार करने से आप एक नियंत्रक हो जाते हैं।

जो कुछ भी आप कहें ऐसा कहें कि सबको समझने में आसानी हो । जहां तक हिंदी का व्याकरण है मैं भी अपने व्याकरण की स्वर्ण जयंती मना चुका हूं। यह मेरी 50 साल पहले लिखी हुई व्याकरण पुस्तक है और आज भी इतनी उपयोगी है, प्रचलित है कि आज भी इसकी मांग है । इसका कारण यह नहीं है कि यह इतनी अच्छी है बल्कि इसकी भाषा इतनी सरल और प्रयोजन पूर्ण हैं कि लगातार लोग व्याकरण सीख रहे हैं । इसका एक उदाहरण यह है कि एक बार मैं नागपुर गया । एक बालिका के हाथ में मैंने हिंदी-अंग्रेजी स्वयं शिक्षक देखा । मैंने पूछा आप हिंदी क्यों सीखना चाहती हैं ? उसने उत्तर दिया कि इसके सहारे तो मैं अंग्रेजी सीख रही हूं । आपने हिंदी और अंग्रेजी व्याकरण को ऐसे सांचे में ढाला है कि अंग्रेजी आसानी से समझ में आ जाएगी ।

ये चार व्याकरण और हैं—तेलुगु स्वयं शिक्षक, कन्नड स्वयं शिक्षक, मलयालम स्वयं शिक्षक, तमिल स्वयं शिक्षक । इन पांचों का व्याकरण एक ही है पर हिंदी सिखाने के लिए एक ही जैसा व्याकरण कैसे हो सकता है । हिंदी सिखाने के लिए अंग्रेजी के जरिए व्याकरण के सांचों को ऐसा बनाया जाए कि जिससे सभी भाषाओं के व्याकरण को सीखने में आसानी हो । हिंदी एक प्रदेश विशेष की भाषा नहीं है । अगर कोई यह कहे कि हमें उत्तर प्रदेश में लिखा हुआ व्याकरण ही पढ़ना चाहिए वह भी ठीक नहीं है वर्ना हिंदी एक प्रदेश विशेष की भाषा ही बनी रहेगी । जब तेलुगु, तमिल आदि सभी भाषाओं की छाप हिंदी पर नहीं पड़ेगी तभी भाषा का प्रकृत स्वरूप हो सकता है, वर्ना नहीं । इस दृष्टि से हैदराबाद में व्याकरण संगोष्ठी का होना एक अच्छी बात है । हम इस केंद्र से कहेंगे कि आप वहां से पुस्तकें लाकर यहां न रखें पर यहां की भाषा यहां के मुहावरे, यहां कि संस्कृति कोर्स में रखें । तभी चलकर हिंदी सबकी भाषा होगी । हमको भाषा का भी ख्याल रखना चाहिए, संस्कृति का भी ख्याल रखना चाहिए ताकि हम हिंदी का भौगोलिक जो प्रतिरूप है किसी भी प्रदेश के व्यक्ति अपने संस्कृति के प्रतिरूप को इस भाषा में देखकर संतुष्ट हो सकेंगे । अगर हम सिर्फ गंगा-यमुना की बात करेंगे तो लोग कहेंगे कि गोदावरी की बात नहीं है, अपने प्रदेश की बात नहीं है और हम कुछ भी नहीं है वैसे ही जैसे कि अंग्रेजी पढ़कर हम कहते हैं कि शेक्सपीयर से बड़ा नाटककार कोई नहीं है । हिंदी को हम राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं तो उसकी भाषा, उसका व्याकरण, उसका साहित्य, उसकी संस्कृति यहां कि भाषा, साहित्य का प्रतिरूप होना चाहिए । जैसा कि संस्कृत के संबंध में, हर प्रदेश वाले मानते हैं कि संस्कृत हमारी है ।

अतः हमारा उद्देश्य, अकेले इसी केंद्र का नहीं सभी केंद्रों का, केवल हिंदी सिखाने का नहीं अपितु उनके व्याकरण की जितनी छाप हिंदी पर पड़े, हमारी और उनकी छाप दोनों का समन्वय कर भाषाई उत्थान ऐसा बढ़ाना चाहिए कि सारे देश का

काम समझकर करें । आगरे में संस्थान के रहने से लोगों ने कहा कि यह आगरे वाली हिंदी है । मैं तो कहता हूं कि कोई यह कहे कि यह हैदराबादी हिंदी है । हिंदी हैदराबाद से चलकर आगरे गई, न कि आगरे से चलकर हैदराबाद आई ।

जहां तक हिंदी व्याकरण का क्षेत्र है सिर्फ भाषायी क्षेत्र नहीं है बल्कि सारा भौगोलिक क्षेत्र है, सारा सामाजिक क्षेत्र है, सारी भाषाएं हैं, सारा देश है, इन सबको लेकर ऐसा अध्ययन होना चाहिए कि एक ऊंचे स्तर का कार्य हो ।

जब कक्षा-शिक्षण की बात आती है तो ये सारी बातें सिखाने से थोड़े ही उनको आयेंगी । हम सोचते हैं कि बच्चों को क्या सिखाया जाये ? कैसे सिखाया जाये ? बच्चों की बात तो वहां आती है जहां प्रथम भाषा की बात आती है, पर द्वितीय भाषा सिखाने में बहुत सोचकर चलना चाहिए । क्योंकि भाषायी संरचना, भाषायी व्याकरण के बारे में उन्हें पहले से ही मालूम है । उनको अपने रंग में रंगने के लिए जरूरी है कि उनके व्याकरण का ज्ञान आपको हो, आपके व्याकरण का ज्ञान उनको हो । दोनों एक-दूसरे के साथ मिलकर जायेंगे तब ऐसा व्याकरण बनेगा ।

हिंदी प्रदेशों से यहां की स्थिति बिल्कुल भिन्न है । यहां पर सुगठित, सुसंस्कृत जितने पुराने व्याकरण बन चुके हैं जिनमें संरचनाएं हैं, साहित्य भी है । इनको हिंदी सीखने की आवश्यकता पड़ती है तो थोड़ी-बहुत दिक्कत होती है । वचन सीखने में, लिंग सीखने में परेशानी होती है, पर जहां लोग भाषा समझते हैं और बोलते हैं वहां व्याकरण बीच में बाधक नहीं होता । बोलने से, अभ्यास करने में व्याकरण के जितने अवरोध हैं वे समाप्त हो जाते हैं । हिंदी वाले ऐसा व्याकरण क्यों नहीं लिखते ? हिंदी वाले ऐसा मानते हैं कि जब तक अरबी, फारसी से अंग्रेजी से सभी तरह की चीजों का समावेश न हो संतोष नहीं होगा । पर ऐसा व्याकरण दक्षिण वालों के काम का नहीं ।

हिंदी व्याकरण के पीछे बहुत बड़ी संस्कृति है, बहुत ही विस्तृत समाज है । जिन्होंने व्याकरण बनाया है उन्हें पुरानी चीजों को ठोक-पीटकर उसमें मिलाना नहीं चाहिए, उसे जटिल नहीं बनाना चाहिए । जिस प्रकार की भाषायी संरचना इस समय चल रही है उसके अनुसार व्याकरण को चलना चाहिए ।

जिन वक्ताओं ने इसमें भाग लिया और प्रपत्र पढ़े उनको सुनकर हम विद्वान तो नहीं बन पाये पर हम लोगों ने विद्वानों के संपर्क में रहकर एक ऐसा अछूता विद्वत्तापूर्ण वातावरण बनाया है ।

हमारे जो भाषायी सवाल हैं उनका सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य एक है पर सामाजिक परिप्रेक्ष्य वह है जो हमें अंग्रेजों ने दिया । वह यह कि काम-काज की भाषा के लिए

अंग्रेजी पढ़ो, और अपनी साहित्यिक रुचि के लिए चाहे हिंदी पढ़ो, चाहे तेलुगु पढ़ो, तमिल पढ़ो। अभी यहां कहा गया कि हिंदी जो कुछ भी सीखी जाती है या सिखाई जाती है साहित्य के जरिए सिखाई जाती है, तो हम सूर, तुलसी, मीरा को नहीं छोड़ सकते। तब और लोग कहेंगे कि क्या हमारे पास सूर, तुलसी नहीं हैं। अन्य भाषा-भाषी विद्वानों की बात भी इसमें आनी चाहिए। वरना हम अलग-अलग तबके में बंटे रहेंगे और हिंदी केवल संपर्क भाषा बनी रहेगी। संपर्क भाषा का मतलब? जब दो मिलते हैं तब संपर्क भाषा। अगर नहीं मिलते तब? तब संपर्क भाषा का कोई अर्थ नहीं। जैसे राजनीतिज्ञ नये-नये शब्द गढ़ता है, संघर्ष रोकने के लिए।

हिंदी का संबंध सारे देश से है केवल एक प्रदेश से नहीं। हमने सारे भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश में उसे संपर्क का माध्यम बनाया है। केवल संप्रेषण का संपर्क काफी नहीं। आज तेलुगु सारे अंतर्प्रांतीय संबंधों में संपर्क भाषा बनी हुई है ऐसी शक्ति हिंदी में भी आनी चाहिए। हिंदी, तेलुगु का स्थान ले लेगी यह डर दूर करना चाहिए। ये दोनों हमारे दो हाथ हैं और दोनों का अपना-अपना कार्य है।

श्री पीटर हुक—

मुझसे अनुरोध किया गया है कि इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले प्रतिभागियों की ओर से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करूं और यह भी कि उन प्रतिक्रियाओं को हिंदी में ही व्यक्त करूं। मुझे इन प्रतिक्रियाओं को बहुत थोड़े शब्दों में, बहुत थोड़े समय में अभिव्यक्त करने पर मजबूर होना पड़ा है। मुझे आज दक्षिणी भारत हिंदी प्रचार सभा के अध्यक्ष से मिलकर आनंद हुआ जिनकी उत्कृष्ट ग्रंथावली से मैंने अपना हिंदी का अध्यापन कार्य शुरू किया था। अब तो 12-14 साल हो गये हैं यह बात सोचकर आनंद कम ही रहा है। गत तीन दिनों में हिंदी के व्याकरण की अनेक समस्याएं चर्चित हो चुकी हैं। मुझे लगता है ये मेरी समस्याएं हैं जो प्रयास से कम हो सकती हैं। वैसे मुझ पर इस चीज का खास असर पड़ा है कि अनेक प्रकार की भाषाओं का तरह-तरह से विवेचन इतनी सफाई से किया जा सकता है। फिर भी वक्ताओं ने यह बहुत स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है कि प्राचीन व्याकरणिक परंपरा में ज्यादा न घुसकर हिंदी व्याकरण को ज्यादा-से-ज्यादा सरल बनाया जाये। उन सैद्धांतिक तथ्यों का सहारा तभी लेना चाहिए जब पढ़ाने की तैयारी की जाती है, न कि तब जबकि पढ़ाई की जाती है। जहां तक मेरी वैयक्तिक बात है कुछ लोग रुष्ट हों कुछ लोग मुझे अनाड़ी समझें कि ये बातें आपके सहचारी के नाते और प्रेम से कही गई हैं और बाकी क्या कहना है। इतना ही कि मुझे हैदराबाद आकर प्रसन्नता हुई है।

संगोष्ठी में सम्मिलित सदस्य

(1) **अशोक कालरा**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
सूर्यमुखी भवन, श्री अरविंद आश्रम
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली

(2) **उदयनारायण सिंह**
भाषाविज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

(3) **किशोरीलाल शर्मा**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
आगरा-282 005

(4) **कृष्णकुमार शर्मा**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-500769

(5) **कृष्णमूर्ति भद्रिराजु**
भाषाविज्ञान विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500007

(6) **कृष्णस्वामी अय्यंगार**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
आगरा-282 005

(7) **गोपालराव एक्बोटे**
अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायधीश

(8) **गोपाल शर्मा**
सी 8सी, मायापुरी
नई दिल्ली

(9) **चतुर्भुज सहाय**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
आगरा-282 005

(10) **वी. रा. जगन्नाथन**
प्रोफेसर एवं केंद्र प्रभारी
केंद्रीय हिंदी संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-500768

(11) **नटुभाई के. जोशी**
हिंदी शिक्षक महाविद्यालय
गुजरात विद्यापीठ
अहमदाबाद

(12) **परमेश्वरन राव**
प्रोफेसर, गवर्नमेंट आर्ट्स एण्ड
साइंस कालेज
कालीकट-19 (केरल)

(13) **पीटर. ई. हुक**
Dept. South Asian Studies
मिशीगन विश्वविद्यालय, एनारबार

(14) **म. मा. बासुतकर**
प्राध्यापक, केंद्रीय हिंदी संस्थान
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-500769

(15) **माहुलकर डी. डी.**
रीडर भाषा शिक्षण विभाग
बड़ौदा

(16) **मुनीन्द्र**
संपादक, हैदराबाद समाचार

(17) **मेहता जी. एम.**

(18) **मोहब्बतसिंह मानसिंह चौहान**
प्राध्यापक, केंद्रीय हिंदी संस्थान
आगरा-282 005

(19) **रमेशचन्द्र आर्य**
रीडर, केंद्रीय अंग्रेजी तथा
विदेशी भाषा संस्थान,
हैदराबाद

(20) **रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव**
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
भाषाविज्ञान विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

(21) **राधाकृष्ण बूदराजु**
उपनिदेशक
तेलुगु अकादमी,
हिमायत नगर, हैदराबाद

(22) **रामाराव लेकूरी**
प्रोफेसर, भाषाविज्ञान विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500007

(23) **लक्ष्मीबाई बी०**
रीडर, भाषाविज्ञान विभाग
उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद-500007

(24) **वशिनी शर्मा**
प्राध्यापक, केंद्रीय हिंदी संस्थान
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-500768

(25) **विजयराघव रेड्डी**
रीडर एवं केंद्र प्रभारी
क्षेत्रीय केंद्र
केंद्रीय हिंदी संस्थान
जू रोड, गणेशगुड़ी
गुवाहाटी-781006

(26) **विद्यानिवास मिश्र**
निदेशक क. मु. हिंदी तथा
भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

(27) **शंकुतला रेड्डी**
प्राध्यापक
केंद्रीय हिंदी संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-570076

(28) **शर्मा जे. सी.**
भारतीय भाषा संस्थान
मानस गंगोत्री
मैसूर-6

(29) **शिवेंद्र किशोर वर्मा**
के. के. सा
केंद्रीय अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा
संस्थान, हैदराबाद-500007

(30) **षण्मुगम एस. ए.**
भाषाविज्ञान, विभाग
अन्नामलै विश्वविद्यालय
अन्नामलै नगर, चिदंबरा
तमिलनाडु

(31) **सत्यनारायण मोटूरी**
भूतपूर्व अध्यक्ष, केंद्रीय हिंदी
शिक्षण मंडल
आगरा-282 005

(32) **सीताराम**
रीडर, केंद्रीय हिंदी, संस्थान,
क्षेत्रीय केंद्र
2-2-12/5 बाग अंबर पेट
हैदराबाद-50 0769

(33) **सूरजभान सिंह**
रीडर, केंद्रीय हिंदी संस्थान
आगरा

(34) **सूर्यनारायण सन्निधानम**
जीरा सिकंदराबाद
(आगरा)

(35) **ह्यग्रीवाचारी टी०**
मंत्री तकनीकी शिक्षा एवं
भारतीय चिकित्सा विभाग
आंध्र प्रदेश शासन
हैदराबाद

संदर्भ ग्रन्थ

अग्रवाल, कैलाशचन्द्र (1974)—आधुनिक हिंदी व्याकरण तथा रचना—आगरा रंजना प्रकाशन

अवस्थी, इन्द्रनारायण—भारतीय शिक्षा विधान कैयट—भाष्यप्रदीप

गुरु, कामता प्रसाद (सं. 2022/2029)—हिंदी व्याकरण—काशी, नागरी प्रचारिणी सभा

गोस्वामी, कृष्णकुमार (1972)—हिंदी की अनुलेखन पद्धति—भाषा (हिंदी भाषा विज्ञान विशेषांक), नई दिल्ली, केंद्रीय हिंदी निदेशालय

चतुर्वेदी सीताराम—भाषा की शिक्षा

झा. एल.—भाषा शिक्षण पद्धति

तिवारी, भोलानाथ (1976)—व्यावहारिक हिंदी व्याकरण और रचना

दण्डी—काव्यादर्श

दी. मशित्रू, ज. म. (1966)—हिंदी व्याकरण की रूपरेखा—
नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन

नागेश्वर भट्ट—भाष्य प्रदीपोद्योत

पटेल तथा मेहता—हिंदी भाषा का अभिनव अध्यापन

पस्वशाहि्वक—व्याकरण महाभाष्य

पाणिनी—अष्टाध्यायी

ब्लूमफील्ड (अनुवाद) विश्वनाथ प्रसाद (भाषा)

भट्टोजी दीक्षित—सिद्धांत कौमुदी

भर्तृहरि—वाक्य पदीय

यास्क—निरुक्त

रस्तोगी, कृष्ण गोपाल (1976)—प्रयोगात्मक हिंदी व्याकरण

रेड्डी, विजयराघव (1977)—आधुनिक हिंदी और तेलुगु के संज्ञा विशेषकों एवं प्रतिस्थापकों का वर्णनात्मक और व्यतिरेकी अध्ययन—पी. एच. डी. का

शोध प्रबंध (मैसूर विश्वविद्यालय) अप्रकाशित वर्मा, रामचन्द्र—अच्छी हिंदी, हिंदी प्रयोग

वाजपेयी, किशोरी दास (सं 2000)—ब्रजभाषा का व्याकरण—
हरिद्वार, हिमालय एजेन्सी

वाजपेयी किशोरीदास (सं. 2014/2021)—हिंदी शब्दानुशासन—
काशी, नागरी प्रचारिणी सभा,

वाजपेयी किशोरीदास (1959)—भाषा विज्ञान—वाराणसी, चौखंभा विद्यामंदिर

वान्द्रियैज. जे (1966) (अनुवाद) जगवंश किशोर बनवीर (भाषा), लखनऊ, हिंदी समिति, सूचना विभाग

शर्मा दीप्ति (1975)—व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

श्री वास्तव, रवीन्द्रनाथ (1973)—वाक्य और प्रयोग : हिंदी शिक्षण के नये आयाम, दिल्ली. राज्य शिक्षा संस्थान

सरस्वती अम्मा, एन. (1960)—हिंदी व्याकरण

साक्रुवाला, कल्याण प्यारु—गुजरातीनुं अभिनव अध्यापन

सोनिया आर.—हिंदी शिक्षण विधि

ALLEN, J. P. B. (1174) *Pedagogical grammar* in J.P.B Allen and Pit Corder (ed). Techniques in Applied Linguistics, Vol. 3, London, Oxford University Press.

ALLEN J. P. B., Pit Corder (ed) (1974) *Techniques in Applied Linguistics*, Vol. 3, London, Oxford University Press.

ALLEN J.P.B., Pit Corder (ed) (1975) *Papers in Applied Linguistics*, Vol. 2, London, Oxford University Press.

ALLEN J.P.B. and Paul Van Buren (1971) Chomsky—*Selected Readings*, London, Oxford University Press.

ALLEN, J.P.B. and H. G. Widdowson (1975) *Grammar and Language Teaching* in J. P. B. Allen and Pit corder (ed), Papers in Applied Linguistics, Vol. 2, London, Oxford University Press.

APTE, V. S. (1881) Student's—*Guide to Sanskrit Composition*

AUSTIN, J. L. (1962) *How to do things with words*, London, Oxford University Press.

BALASUBRAMANIAN, K. (1970) *Tolka:ppiyar's Concept of Phonology*, (Mimeo).

BALASUNDARAM, PILLAI J. S. (ed) (1954) *Tolka:ppiyar Mulam*, Madras, Kalakam

BARTHES, R (1964) *Elements of Semiology*

BELL, S. (1974) *Some Notes on Cebuano and Relational Grammar*, (Unpublished Paper)

BILOY, F. L. *The Techniques of Language Teachers.*

BLOOMFIELD, L. (1914) *An Introduction to Linguistic Science*

BLOOMFIELD, L. (1933) *Language*, New York, Holt.

CAMPBELL, R and R. Wales (1970) *The Study of Language Acquisition* in John Lyons (ed) — New Horizons in Linguistics, Penguin Books.

CHOMSKY, N. (1957) *Syntactic Structures*, The Hague, Mouton

CHOMSKY, N. (1965) *Aspects of Theory of Syntax*, Cambridge MIT.

CHOMSKY, N. (1966) *Cartesian Linguistics*, New York, Harper.

CHOMSKY, N. (1970) *Remarks on Nominalization* in R. Jacobs and P. Rosenbaum (ed) Readings in English Transformational Grammar, Waltham, Mass:Blaisdell.

CHOMSKY, N. (1971) *Problems of Knowledge and Freedom*

COMRIE, B. (1974) *Causatives and Universal Grammar* in Transactions of the Philological Society.

COMRIE, B. (1977) *In defence of spontaneous passive* in P. Cole and J. H. Sadock (ed) Syntax and Semantics, Vol. 8. Grammatical Relations, New York, Academic Press.

CRIPER, C. and H. G. Widdowson (1975) *Sociolinguistics and Language Teaching* in J. P. B. Allen and Pit Corder (ed) Papers in applied Linguistics, Vol. 2. London, Oxford University Press.

CRYSTAL, David (1972) *Linguistics* Penguin Books.

COMMINS, S. (1976) *Relation changing Rules in Mandarin*, Unpublished Paper, University of Toronto.

DERBY SHIRE, D and G. K. Pullom (1977) *Object Initial Languages*, Paper presented at the LSA meeting Linguistics Institute, University of Illinois.

DERRIDA, J. (1967) *De la grammatologie.*

DULAY, H. C. and M. K. Burt (1974) *A new Prospective on the creative construction Process in child's second Language Acquisition.*

FILLMORE, C. J. (1968) *The case for case* in Back and R. Horms (ed) Universals in Linguistic Theory, New York, Holt

FILLMORE, C. J. (1970) *Some Problems for Case Grammar*

FILLMORE, C. J. (1971) *The Case for Case Reopened* in P. Cole and J. M. Sadock (ed)

FILLMORE, C. J. (1978) *Case for Case Revisited* in Syntax and Semantics, Vol. 8.

FRIED, V (ed) (1972) *The Prauge School of Linguistics and Language Teaching*, New York, Ronald.

FRIES, C. C. (1945) *Teaching and Learning English as a Foreign Language.*

GLEASON, H.A.Jr. (1965) *Linguistics and the English Grammar*, New York, Holt.

HALLIDAY, M.A.K. (1964) *Syntax and the Consumer* in Georgetown University Monograph Series on Language and Linguistics, No. 17.

HALLIDAY, M.A.K. (1970) *Language Structure and Language Function* in John Lyons (ed) New Horizons in Linguistics, Penguin Books.

HALLIDAY, M.A.K. (1973) *Exploration in the Functions of Language*, London, Edward Arnold.

HARRIS Z.S. (1946) *From Morpheme to Utterance, Language*, Vol. 22.

HOCK Peter (1976) *Compound Verbs in Hindi*, Ann Arbor, Michigan.

HORNBY, A. S. (1954) *A Guide to Patterns and Usage in English*, E L.B.S. London, Oxford University Press.

HYMES, D. H. (1972) *On Communicative Competence* in J.B. Pride and J. Holmes (ed), Sociolinguistics, Penguine Books.

ILAVARASU, S. (1963) *Ilakkana Verala:ru* (Tamil), Chidambaram

JACOBS, R. A. and P. S. Rosenbaum (1968) *English Transformational Grammar*, Tappen Company Ltd. Japan.

JACOBSON, R. (1960) Closing Statement—*Linguistics and Poetics* in Thomos A. Seoeok (ed) Style in Language, Cambridge M I.T.

JAKOBOVITS, L A. and Barbara Gordon (1974) *The Context of Foreign Language Teaching* Newbury House Publishers, Mass.

JESPERSON, Otto (1903) *How to teach a Foreign Language.*

JESPERSON, Otto (1949) *A Modern English Grammar on Historical Principles*, Kobenhaun, Ejnar, Munksgard

JESPERSON, Otto (1965) *The Philosophy of Grammar*, New York, W. W. Norton & Co.

JOHNSON D. E. (1974 a) *Towards a Theory of Relationally Based Grammar*, Ph. D. Dissertation, University of Illinois.

JOHNSON D.E. (1974 b) *On the Rule of Grammatical Relations in Linguistic Theory* in M. W. La Galy, R. A. Fox & A. Bruck (eds) Papers from the Tenth Regional Meeting of the Chicago Linguistic Society, Chicago.

JOHNSON D.E. (1976) *Ergativity in Universal Grammar* I.B.M. Research Report, I. B. M. Thomas J. Watson Research Centre, New York, York Town Heights.

JOHNSON D. E. (1977) *On Relational Constraints in Grammar* in P. Cole and J. M. Sadock (ed)

JOHNSON D. E. (1979) *Arc Fair Grammar*—An Introduction, unpublished Paper.

JOHNSON D. E. & P. M. Postal (forthcoming) *Arc Fair Grammar*

KACHRU, Yamuna (1966) *An Introduction to Hindi Syntax* (Mimeo), University of Illinois.

KATZ J. J. and Postal P. M. (1964) *An Integrated Theory of Linguistic Description*, Cambridge, Mass, MIT Press.

KEENAN, E. L. (1972) *Relative Clause formation in Malagady* (and some related and some non-related Languages) in P. Peranto, J. N. Levi and G. C. Phares (ed) The Chicago which Hunt—Papers from the Relative clause Festival, CLS Chicago.

KEENAN, E. L. (1975 a) *Towards a Universal definition of Subject*, in C. Li. (ed) Subject and Topic, New York, Academic Press.

KEENAN, E. L. (1975 b) *Some Universals of Passive in Relational Grammar* in R. E. Grosswar L.J.S. and T. J. Vance (ed) Papers from the Eleventh Regional Meeting of the Chicago Linguistic Society, Chicago.

KEENAN, E. L. and Comrie, B (1972) *Noun Phrase Accessibility and Universal Grammar*, Paper presented at King's College, England, later published in (1977) Linguistic Inquiry 8.1.

KELLOG, S. H. (1876) *A Grammar of Hindi Language*, London, Kegan Paul & Co.

KIPARSKY, P. and J. F. Stall (1969) *Syntactic and Semantic Relations in Panini* Foundations of Language, Vol. 5, No. 1.

KLOKIED, T. (1975) *On Grammatical Relations in Nitinat*, unpublished paper, University of Calgary.

KUIPER, F. B. J. (1958) *Two Problems of old Tamil Phonology*, Indo-Iranian Journal 20.

KUNO, S. (1973) *The Structure of Japanees Language*, Cambridge, Mass, MIT Press.

LADO, Robert (1964) *Language Teaching*

LAFITTE, P. (1962) *Grammaire Basque*, Bayonne, France, Edition des Aims du Musee Basque ! it ikas.

LEHMANN, W. P. (1971) *Descriptive Linguistics: An Introduction.*

LAKOFF, R. (1969) *Transformational Grammar and Language Teaching* in Teaching English as second Language (ed), Harold B. Allen and R. N. Campbell, Tata McGraw Hill Publishing Co. Ltd, New Delhi.

LAKOFF, G. (1970) *Global Rules*, Language, 46

LAKSHMI BAI (1973) *A Case Grammar of Hindi*, Agra, Central Institute of Hindi.

LAMB, H. SYDNEY (1966) *Outlines of Stratificational Grammar*

LAWLER, J. (1975) *On Coming to Terms in Achenese* : the function of verbal disagreement, in R. E. Grossman, R. J. Sam and T. J. Vance, (eds) Papers from the Eleventh Regional Meeting of the Chicago Linguistic Society, Chicago.

LAWLER, J. (1977) *A agrees with B in Achenese*, A Problem for Relational Grammar, in P. Cole and J. M. Sadock (eds.)

LEECH, G. N. (1971) *Meaning and the English Verb*, London, Longman.

LEECH, Geoffrey and Jan S. vartick (1975) *A Communicative Grammar of English*, London, Longman.

LEES, R. B. (1963) *The Grammar of English Nominalization*, The Hague, Mouton.

LYONS, JOHN (1977) *Semantics* Vol. II Cambridge, Cambridge University Press.

MACCURDY Burnett (1964) *Structural Syntax on the Black Board*, Readings in Applied Linguistics

MC CAWLEY, J.D. (1970) *English as VSO Language*, Language 46

MC CAWLEY, J. D. (1978) *Language Universals in Linguistic Argumentation*, Lectures given at Linguistics Institute, University of Illinois.

MC NEILL, D. (1966) *Developmental Psycholinguistics in the Genesis of Language*, T. Smith and G. A. Miller (ed) MIT Press.

MC NEILL, D. (1970) *Acquisition of Language*, London, Harper & Row.

MEENAKSHISUNDARAM T. P. (1965) *A History of Tamil Language*, Poona.

MILTNER, Vladimir (1970) *Review of Kachru's Introduction to Hindi Syntax in Acta Linguistics.*

MURUGAIYAN, K. (1971) *Tolka : ppiyar's Concept of Phonetics*, Journal of Annamalai University Sciences 29.

NEW MARK, G. (1964) *Grammatical Theory and Teaching of English as a Foreign Language*, NAFSA, Studies and Papers.

OSKARSSON, M. (1973) *Assessing the Relative Effectiveness of Teaching English to Adults – A Replication Experiment* IRAL Vol. XI/3.

PALMER, F. (1973) *Grammar*, Penguin Books

PALMER, H. E. (1921) *Principles of Language Study.*

PALMER H. E. (1938) *A Grammar of English Words* London, Longmans Green & Co.

PARK B. S. (1973) *On the Multiple Subject Construction in Korean*, Linguistics, 100.

PERLMUTTER, D. P. (1977) *Towards a Universal Characterization of Passivization*, Proceedings of the Third Annual Meeting of the Berkeley Linguistic Society, University of California.

PERLMUTTER, D. P. (1978) *Some Proposed Laws of Basic clause Structure*, Unpublished Paper.

PERLMUTTER, D. P. and P. H. Postal (1974) *Lecturers on Relational Grammar*, Lectures at the Linguistics Institute, University of Mass, Amherest

PIT CORDER, S. (1973) *Introducing Applied Linguistics*, Penguin Books.

POSTAL, PAUL (1971) *Crossover phenomena*

PULLOM, G. K. (1977) Word Order Universals and Grammatical Relations, in P. Cole and J. M. Sadock (ed).

QUIRK, R. and Sidney Greenbaum (1973) *A University Grammar of English*, London Longman.

REICHENBACK, Hans (1946) *Elements of Symbolic Logic.*

RISCHEL, J. (1975) *Some Characteristics of Noun Phrase in West Greenlandic. Acta Linguistica*, Hafnieza 13

RIVERS W. M. (1968) *Teaching foreign language skills*, Chicago, the University of Chicago.

ROWLET, Eddy (1975) *Linguistic Theory*, Linguistic Description and Language Teaching, London, Longman.

RUSSELL, Bertrand (1922) *Introduction of Tractatus Logics*, Philosophices, Ludwig Wittgenstein.

SHAKUNTALAMMA, Y. (1978) *A Contrastive Study of Noun Phrase* in Hindi and Telugu, Ph, D. Thesis (Agra University) unpublished.

SAXENA, Baburam and Sahai, Ramanath (1975) *Grammatical Sketches of Indian Languages* Hindi, Calcutta, Registrar General and Census Commissioner.

SEARLE, J. R. (1969) *Speech Acts*, Cambridge, Cambridge University Press.

SCKONBURN, M. *Experiential Learning.*

SHANMUGAM, S.V. (1967) *Naccina : Z Kkiniyar's concept of Phonology*, Annamalainagar.

SHANMUGAM, S.V. (1971) *Some Problems of old Tamil Phonology*, Indo-Iranian Journal 13.

SHANMUGAM, S.V. (1975) *Tolka : ppiyarint eluttu*, A : yyukko : Vai, 7, Nagercoil

SHANMUGAM, S.V. (1976) *Alapetai A : yyukko* : Vai, 8 Mysore.

SHARMA, Aryendra (1972) *A Basic Grammar of Modern Hindi*, New Delhi, Central Hindi Directorate.

SINGH, Jagdev (1970) *Panini's Theory of Karaka*, unpublished

SINGH U. N. (1978) *Agreement Rule*, Language Universals and Maithili, Paper Presented at the conference on South Asian Languages and Linguistics, University of Illinois.

SAL Saporta (1966) *Scientific Grammars and Pedagogical Grammar* in J. P. B. Allen and S. Pit Corder (ed), Reading for Applied Linguistics, Vol. I, 1973, London, Oxford University Press.

STAGEBURG, Norman C. (1964) Some structural Ambiguities, in Readings in Applied Linguistics.

STEVICK, G. W. (1971) *Adopting and Writing Language*

TRITHART, L. (1975) *Relational Grammar and Children Subjectivization Rules* in R. E. Grossman et. al (ed) Papers from the Eleventh Regional Meeting of CLS Chicago.

VACHEK, J. (ed) (1964) *A Prague School Reader in Linguistics*, Bloomington, Indiana University.

VERMA, S. K, (1973) *Linguistics in Second Language*, Teachings in RELC Journal, Vol 4 No. 2

VERMA, S. K. (1974) Introduction to English Language Teaching, Vol. I, Linguistics. Delhi, O.U.P.

VERMA, S. K. (1976) *Code Switching* in, Hindi-English in Lingua Vol. 38

WAYNE, Harsh (1975) *Forum* No. 12

WELLS, R. (1947) *Immediate Constituents*, Language No. 23

